ब्रज की रासलीला

लेखक : प्रभुदयाल मीत्तल

प्रकाशक :–
वृन्दावन शोध संस्थान
रमणरेती, वृन्दावन – 281 121 (भारत)

(संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार के अनुदान से प्रकाशित)

ब्रज की रासलीला

❖

[रासलीला सम्बन्धी इतिहास, कला और साहित्य का शोधात्मक विवेचन]

लेखक

डॉ० प्रभुदयाल मीतल

डी.लिट्, साहित्य-वाचस्पति

प्रकाशक

वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन

प्रकाशक :

निदेशक

वृन्दावन शोध संस्थान

रमणरेती, वृन्दावन-281121 (उ.प्र.) भारत

फोन : (0565) 2540628, 6450731, फैक्स : 2540576

e-mail : info@vrindavanresearch.org

संस्करण :

प्रथम संस्करण-दिसम्बर सन् 1983 ई०

द्वितीय संस्करण-सन् 2011 ई०

आई.एस.बी.एन.नं० : 978-81-904946-1-8

मूल्य :

रु० 600/-

मुद्रण-संयोजन :

विद्यालय प्रेस

केशीघाट, वृन्दावन ☎ : (0565) 2442571

प्रकाशकीय

ब्रज साहित्य के अन्वेषी विद्वान् डॉ० प्रभुदयाल मीतल ने ब्रज की संस्कृति, इतिहास, यहाँ के धर्म-सम्प्रदायों की परम्परा, ब्रज की प्रमुख विभूतियों के परिचय के साथ ही ब्रज की चाक्षुष कला-रूपों का व्यापक अध्ययन-अन्वेषण किया था। ब्रज की कला के बहुआयामी स्वरूप के उद्घाटन में ये लगे रहे। उनकी रचनाओं की विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। राधा-कृष्ण की युगल छवि के प्रति श्रद्धावनत डॉ० मीतल जी ने ब्रज की रास-परम्परा का सांगोपांग विवेचन वर्षों के अनवरत् अध्ययन एवं अध्यवसाय से किया था। उनकी कृपा ही थी कि उन्होंने 'ब्रज की रासलीला' को प्रकाशित करने का अवसर वृन्दावन शोध संस्थान को प्रदान किया था। दिसम्बर सन् 1983 ई० में इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। दीर्घावधि तक मीतल जी की इस महत्वपूर्ण कृति का दूसरा संस्करण प्रकाशित नहीं हो पाया। 'ब्रज की रासलीला' का दूसरा संस्करण प्रकाशित करते हुए हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। विश्वास है, ब्रज के रस-रास के प्रेमीजन इस ग्रन्थ का आस्वाद प्राप्त करेंगे। ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग के लिए डॉ० ब्रजभूषण चतुर्वेदी, डॉ० उमाशंकर दीक्षित एवं विद्यालय प्रेस के श्री विष्णुदान शर्मा के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

—हरिमोहन मालवीय
निदेशक

रास-विलास अपार रूप, कछु कहत बनै ना।
लोचन कै नहिं जीभ, जीभ कै नाँहीं नैना॥
श्रीवृन्दावन सदन, सहज सुंदर छवि छाई।
ब्रज-मधुवन संग करी, कृष्ण क्रीड़ा सुखदाई॥
जो वह लीला सुनै, गुनै, पुनि कहै निरंतर।
कृष्ण-भक्ति रति बढ़ै, दोष नासैं अभ्यंतर॥

—श्री दामोदर स्वामी

विषय-सूची

※

प्रथम खण्ड

इतिहास

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
स्वरूप-विवेचन	1	गर्ग संहिता	35
व्युत्पत्ति एवं परिभाषा	1	ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य	37
अभिप्राय और उद्देश्य	1	शुंग काल (विक्रम पूर्व द्वितीय	
विविध प्रकार	3	एवं प्रथम शती) की स्थिति	39
कृष्णावतार का रास	4	शक-कुषाण काल (विक्रमपूर्व	
अनुकरणात्मक रास	6	प्रथम शती विक्रम पश्चात्	
रास के नृत्य-भेद	7	तृतीय शती तक) की स्थिति	40
'तांडव' नृत्य	8	नाग-गुप्त काल (विक्रम की	
'लास्य' नृत्य	8	तृतीय शती से छठी शती तक)	
विभिन्न नाम-रूप	9	की स्थिति	42
हल्लीसक	10	मौखरी-वर्धन एवं राजपूत काल	
छालिक्य अथवा छलिक	13	(सं० ६०० से सं० १२६३ तक)	
रासक	16	की स्थिति	44
नाट्य रासक	18	अवैदिक धर्मों का योग	46
परम्परा एवं प्रचलन	20	बौद्ध रास	47
वेद-कालीन स्थिति	21	सम्राट हर्षवर्धन के पश्चात् की स्थिति	48
रामायण-कालीन स्थिति	24	जैन रास	49
महाभारत और हरिवंश		'राय पसेणीय सुत्त' का नृत्य-	
कालीन स्थिति	25	नाट्य सम्बन्धी समारोह	49
पौराणिक उल्लेख	28	पुष्पदंत कृत 'महापुराण' का उल्लेख	50
विष्णु पुराण	28	जैन रास सम्बन्धी रचनाएँ	51
भागवत पुराण	30	जैन रास का रूप-विधान	56
रास-पंचाध्यायी	30	रास-परम्परा की जैनेतर रचनाएँ	57
ब्रह्मवैवर्त पुराण	34	साहित्यिक कथन	58

विषय	पृष्ठ
धर्माश्रित वाङ्मयी वर्णन	58
'शिलप्पाद्दिकारम्' एवं 'मणिमेखैल' के उल्लेख	59
संस्कृत नाटकों एवं काव्यों के विवरण	60
प्राचीन नाटकों का स्वरूप	60
नाटकों एवं काव्यों में 'रास' का कथन	61
भास कवि कृत 'बाल चरित' नाटक	61
बाण भट्ट कृत 'हर्ष चरित'	62
राजशेखर कृत 'कर्पूर मंजरी'	62
विल्वमंगल कृत 'कृष्ण-कर्णामृत' एवं 'बाल गोपाल-स्तुति	62
जयदेव कृत 'गीत गोविन्द'	63
नरसी मेहता कृत 'रास सहस्त्र पदी	64
कृष्णोपासना का प्रचार एवं रासानुकरण की पृष्ठभूमि	65
श्री निम्बार्काचार्य जी	67
श्री माधवेन्द्र पुरी जी	69
श्री शंकरदेव जी	71
श्री वल्लभाचार्य जी	72
श्री चैतन्यदेव जी	74
प्रवर्त्तन विषयक विवाद	78
'रास-सर्वस्व' और उसका उल्लेख	79
रासानुकरण के संभावित प्रवर्त्तक एवं उन्नायक	85
महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी	85
श्री घमण्डदेवजी किंवा घमण्डी स्वामीजी	89
श्री स्वामी हरिदास जी	94
श्री हित हरिवंश जी	102
श्री नारायण भट्ट जी	111
श्री हरिराम व्यास जी	116
रास का वातावरण और उसका क्रमिक विकास	120
रासलीलानुकरण के अनुरागी महानुभाव	136
श्री प्रबोधानंदजी	137
श्री विट्ठलविपुल जी	137
नरवाहन जी	137
विट्ठलदास जी	138
जयमल जी	138
बालकृष्ण-तुकाराम	138
सुलखान	139
नवल सखी	139
कृष्णदास	139
मुरारिदास	140
अलि भगवान	140
प्रयागदास	140
भगवानदास तँवर	140
राजा रामराय	140
श्रीनाथ भट्ट	141
गिरिधर ग्वाल	141
खड्गसेन जी	141
माधव जी सिंधिया	141
रूपराम कटारा	141
ललितकिशोरी जी	142
नारायण स्वामी जी	142
ग्वारिया बाबा	143
बाबा श्यामदास	144
बोहरे ब्रजलाल	145
हरिबाबा (सं० १९४१-सं० २०२६)	146
रासलीला का आध्यात्मिक आधार	147

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
परब्रह्म कृष्ण की रसमयी		पर प्रभाव	150
चिरंतन क्रीड़ा	147	रामोपासना में रसिक भावना	
धार्मिक मनीषियों की मान्यता	147	का समावेश	151
रासलीलानुकरण का राम-भक्तों		रसिक भावना में विकार	152

द्वितीय खण्ड

कला

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
रासलीलानुकरण का मंचीय स्वरूप	155	**२. लीला**	
विविध कलाओं का समुच्चय	155	'लीला' का अभिनयात्मक प्रदर्शन	182
रूप-विधान की समस्या और		'नाट्य' तत्त्व की प्रमुखता	182
उसका समाधान	156	प्रदर्शन में विविधता	182
१. नित्य रास		'लीला' सम्बन्धी कलाएँ	184
प्रारम्भिक (१७वीं शती का) स्वरूप	156	लीलाओं की नाट्य कला	185
'नृत्य' तत्त्व की प्रधानता	156	अन्य कलाएँ	187
'गोविन्द-लीलामृत' का उल्लेख	157	साज-सज्जा	188
परवर्ती (१९वीं शती का) स्वरूप	159	रूप-सज्जा	189
जेम्स टाड का उल्लेख	160	रासलीलानुकरण की कुछ विशेषताएँ	189
टामस डूएट ब्रोटन का विवेचन	160	रास सम्बन्धी रचनाकार और	
फ्रेडरिक ग्राउस का कथन	163	उनकी रचनाएँ	190
नारविन हाइन की समीक्षा	164	दो प्रकार की रचनाएँ	190
आधुनिक (२०वीं-२१वीं शतियों का)		अभिनेय कृतियाँ	191
स्वरूप	165	'लीला' रचनाकार और उनकी	
'नित्य रास' के स्वरूप का		अभिनेय कृतियाँ	192
लिखित प्रारूप	166	'लीला' रचनाकार और उनकी	
'नित्य रास' के प्रदर्शक की पद्धति	168	अभिनेय कृतियाँ	193
'नित्य रास' की कलात्मकता	175	१. कुंभनदास (सं० १५२५-	
'नित्य रास' की नृत्य-शैली	175	सं० १६४०)	193
'नित्य रास' की गान-वाद्य पद्धति	179	दानलीला	193

विषय	पृष्ठ
२. सूरदास (सं० १५३५-सं० १६४०)	194
३. स्वामी हरिदास (सं० १५३७-सं० १६३२)	199
४. नरोत्तमदास (प्राय: सं० १५४०-सं० १६०२)	200
५. हरिव्यास जी (प्राय: सं० १५५०-सं० १६३०)	202
६. परमानन्द दास (सं० १५५०-सं० १६४०)	203
७. कृष्णदास (सं० १५५३-सं० १६३६)	203
८. गो० हित हरिवंश (सं० १५५४-सं० १६०९)	204
९. रामराय जी (सं० १५६०-सं० १६३०)	204
१०. गोविन्द स्वामी (सं० १५६२-सं० १६४२)	205
११. हरिराम व्यास (सं० १५६७-सं० १६५५)	206
१२. सूरदास मदनमोहन (सं० १५७०-सं०१६४०)	208
१३. बाल लीला का पद	208
१३. गदाधर भट्ट (सं० १५८०-सं० १६४०)	209
१४. नंददास (सं० १५९०-सं० १६४०)	212
१५. वल्लभ रसिक (प्राय: सं० १६०५-सं० १६६५)	214
१६. ध्रुवदास (सं० १६३०-सं० १७००)	217
१७. गंगाबाई उपनाम 'विट्ठल गिरिधरन' (सं० १६३०-सं० १७३५)	219

विषय	पृष्ठ
१८. गो० हरिराय जी (सं० १६४७-सं० १७७२)	220
दानलीला	221
गोवर्धन लीला	222
१९. माधुरी जी (प्राय सं० १६५०-सं० १७१५)	222
२०. विजय सखी(प्राय सं० १७००-सं० १७८०)	223
२१. चंदसखी (विद्यमानता प्राय: सं० १७१०-सं० १७९०)	223
२२. वृंदावनदेव जी (सं० १७२०-सं० १७९७)	227
२३. देवीदास (विद्यमानता १८वीं शती पूर्वार्ध)	228
दामोदर लीला	228
२४. किशोरीदास (१८वीं शती का मध्यकाल)	229
२५. नवल सखी (विद्यमानता १८वीं शती का उत्तरार्द्ध)	231
२६. नागरीदास जी (सं० १७५६-सं० १८२१)	232
२७. ब्रजवासीदास (सं० १७६०-सं० १८२०)	236
२८. वंशीअलि जी (सं० १७६४-सं० १८२२)	238
२९. कृष्णजीवन लछीराम	239
३०. बनीठनी जी (प्राय: सं० १७६५-सं० १८२२)	243
३१. चाचा वृंदावनदास (प्राय: सं० १७६५-सं० १८५०)	245
३२. प्रेम सखी (सं० १७८९-सं० १८६०)	249

विषय	पृष्ठ
३३. बाबा श्यामदास (प्राय: सं० १८६०-सं० १९३१)	251
३४. गो० कृष्ण चैतन्य 'निज' (प्राय: सं० १८७८-सं० १९४२)	253
३५. ललित किशोरी जी (सं० १८८२-सं० १९३०)	255
३६. नारायण स्वामी जी (सं० १८८५-सं० १९५७)	260
३७. ललित लड़ैती जी (प्राय: सं० १९००-सं० १९६०)	267
३८. ग्वारिया बाबा (सं० १९००-सं० १९९५)	269
३९. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी (सं० १९०७-सं० १९४१)	269
४०. बौहरे ब्रजलाल (सं० १९२९-सं० १९९७)	270
४१. बांके पिया (प्राय: सं० १९३६-सं० २११०)	271
४२. हरि बाबा (प्राय: सं० १९४१-सं० २०३६)	272
४३. ठा० अभयराम (विद्यमानता २०वीं शताब्दी उत्तरार्ध)	274
४४. स्वामी प्रेमानंद (वर्तमान)	275
४५. स्वामी जयरामदास (वर्तमान)	276
४६. आचार्य पुरुषोत्तम गोस्वामी (वर्तमान)	278
४७. श्री रामनारायण अग्रवाल (वर्तमान)	279
'लीला' प्रदर्शक कलाकार उनकी रास-मण्डलियाँ	280
'लीला' प्रदर्शन की पृष्ठभूमि	280
रास-मण्डलियों की परम्परा	281
करहला की वल्लभ सम्प्रदायी रासमण्डलियाँ	281
घमंडी स्वामी और उदयकरणजी-खेमकरण की रासमण्डलियाँ	282
विक्रम की रासमण्डली	283
करहला की चैतन्य सम्प्रदायी रासमण्डली	283
वृन्दावन-कामवन की राधा-वल्लभीय रासमण्डलियाँ	284
कामवन निवासी मोहनदास-माधुरीदास की रासमण्डली	285
किशोरीदास-हरिनाथ की रासमण्डली	286
वृन्दावन निवासी स्वामी बालकृष्ण की रासमण्डली	287
चंदसखी की रासमण्डली (विद्यमानता १७००-१७९०)	288
अन्य स्थानों एवं इतर सम्प्रदायों की रासमण्डलियाँ	288
'लीला' रचयिता रासधारी और उनकी अभिनेय कृतियाँ	289
१. बिहारीलाल (सं० १८८५-सं० १९३५)	290
२. राधाकृष्ण (प्राय: सं० १९१०-सं० १९७०)	291
३. माखनचोरदास (प्राय: सं० १९१०-सं० १९६५)	291
४. सुंदरलाल वैद्य	291
५. गिरिवर नंदन	292
६. बाबा कृष्णानंद	293
७. लक्ष्मण स्वामी (सं० १९५१-सं० २०२६)	293

विषय	पृष्ठ
८. स्वामी मेघश्याम (सं० १९५७-सं० २०१९)	293
९. स्वामी चेतराम	296
१०. स्वामी कुँवरपाल	295
आधुनिक काल के कुछ प्रमुख रासधारी और उनकी रासमण्डलियाँ	297
१. दामोदर स्वामी	297
२. श्री कल्याणप्रसाद शर्मा 'किशोरी'	297
३. रामधन स्वामी	298
४. धूरी स्वामी	298
५. स्वामी लाड़िलीशरण (सं० १८४८-सं २०३५)	298
६. स्वामी किशनलाल	299
७. स्वामी हरिवल्लभ	299
८. स्वामी हरिगोविन्द	299
९. स्वामी रामस्वरूप	300
१०. अन्य प्रमुख रासधारी और उनकी रासमण्डलियाँ	301
रासलीलानुकरण का विकास, ह्रास और पुनर्विकास	301
रासलीलानुकरण को देखने की विभिन्न दृष्टियाँ	306
आज की रासलीला व्यावसायिकता का माध्यम बन रही है!	307
सही निर्णय की आवश्यकता	308

तृतीय खण्ड

साहित्य

विषय	पृष्ठ
रास सम्बन्धी साहित्य	
रास-साहित्य का प्रेरणा-स्रोत	309
प्रबन्ध शैली के रचनाकार और उनकी कृतियाँ	309
१. सूरदास (सं० १५३५-सं० १६४०)	·309
२. नंददास (सं० १५९०-सं० १६४०)	314
३. हरिराम व्यास (सं० १५६७-सं० १६५५)	317
४. दामोदर स्वामी (सं० १६४०-सं० १७००)	321
५. कृष्णदास कायस्थ (१८वीं-१९वीं शती)	322
६. कृष्णदास चालक (विद्यमानता १७वीं शती)	323
मुक्तक शैली के रचनाकार और उनका साहित्य	324
वल्लभ सम्प्रदायी रचनाकार	324
१. सूरदास (सं० १५३५-सं० १६४०)	325
२. कुंभनदास (सं० १५२५-सं० १६४०)	334
३. परमानन्ददास (सं० १५५०-सं० १६४१)	337

विषय	पृष्ठ
४. कृष्णदास (सं० १५५३-सं० १६३६)	338
५. गोविंद स्वामी (सं० १५६२-सं० १६४२)	341
६. छीत स्वामी (सं० १५७१-सं० १६४२)	342
७. नंददास (सं० १५९०-सं० १६४०)	343
८. चतुर्भुजदास (सं० १५९७-सं० १६४२)	344
अष्टछापी कवियों के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदायी रचनाकार	345
९. श्रीगदाधरदास (सं० १५४०-सं० १६००)	345
१०. मुकुंददास (प्राय: सं० १५४६-सं० १६००)	347
११. विष्णुदास (प्राय: सं० १५६७-सं० १६४०)	347
श्रीविट्ठलनाथजी के शिष्य-सेवक	
१२. रामराय (सं० १५६०-सं० १६३०)	348
१३. आसकरन (सं० १५८०-सं० १६४६)	349
१४. रामदास	349
१५. धोंधी (प्राय: सं० १५९८-सं० १६४२)	349
१६. चतुरविहारी	350
१७. हरिजीवन (सं० १५९४-सं० १६३६)	350
१८. कटहरिया (प्राय: सं० १६००-सं० १६५०)	351
१९. रसखान (विद्यमानता १७वीं शती)	351
२०. हरिवंश	353
२१. गंगाबाई 'विट्ठल गिरिधरन' (सं० १६२०-सं० १७२५)	354
श्री विट्ठलनाथजी के वंशज और उनके शिष्य-सेवक	355
'प्रथम गृह' से संबंधित रचनाएँ	355
२२. गो० ब्रजपति जी	355
'द्वितीय गृह' से संबंधित रचनाएँ	355
२३. गो० हरिरायजी (रसिक प्रीतम)	355
'चतुर्थ गृह' से संबंधित रचनाएँ	357
२४. श्री कल्याणराय जी	357
'षष्ठ गृह' से संबंधित रचनाकार	357
२५. पुरुषोत्तम जी (विद्यमानता १९वीं शती का पूर्वार्द्ध)	357
वल्लभ सम्प्रदायी अन्य भक्त-कवियों की रचनाएँ	358
२६. जगन्नाथ कविराय	358
२७. वल्लभ जी	358
२८. मोहन	359
२९. कृष्णा दासी (सं० १५८०-१६३० के लगभग)	359
राधावल्लभ सम्प्रदायी रचनाकार	361
१. गो० श्रीहितहरिवंश जी (सं० १५५९-सं० १६०९)	361
२. श्री हरिराम व्यास (सं० १५६७ से सं० १६५५ के लगभग)	363
३. गो० कृष्णचन्द्र	364
४. नेही नागरीदास (विद्यमानता सं० १५९०-सं० १६६० के लगभग)	365
५. ध्रुवदास (सं० १६३०-सं० १७००)	366
६. गो० राधावल्लभदास	367
७. दामोदर स्वामी (विद्यमानता	

विषय	पृष्ठ
सं० १६४० से सं० १७०० के लगभग	368
८. गो० दामोदर वर (सं०१६३४-सं० १७१४)	369
९. गो० कमलनयन (सं० १६९२-सं० १७५४)	370
१०. सहचरि सुख	371
११. गो० हरिलाल (विद्यमानता सं० १७१७-सं० १७८०)	373
१२. गो० रूपलाल (सं० १७३८-सं० १८०१)	373
१३. चंदसखी (सं० १७१०-सं० १७९० के लगभग)	374
१४. चाचा वृंदावनदास (सं० १७६५-सं० १८५० के लगभग)	375
१५. कृष्णदास (विद्यमानता सं० १७वीं शती का उत्तरार्द्ध)	381
१६. प्रेमदास (विद्यमानता प्राय: सं० १७५०-सं० १८१३)	382
स्वामी श्री हरिदासजी के सखी सम्प्रदायी रचनाकार	383
१. स्वामी हरिदासजी (सं० १५३६-सं० १६३२)	383
२. श्री विट्ठलविपुलजी	384
३. स्वामी किशोरदास (विद्यमानता १७वीं शती)	384
४. श्रीविहारिनदासजी ,,	385
५. श्रीनागरीदासजी	387
६. श्रीसरसदासजी (सं० १६११-१६८३ वि०)	388
७. श्रीनरहरिदासजी (सं० १६४०-१७४२	388
८. भगवतरसिकजी (१८वीं शती)	389
चैतन्य सम्प्रदायी रचनाकार	390
१. आनंदघनजी (सं० १५५०-१६००)	390
२. रामरायजी (विद्यमानता सं० १५६०- १६२५	391
३. सूरदास मदनमोहन (प्राय: सं० १५७०-१६४०)	392
४. गदाधर भट्ट (सं० १५८०-१६४०)	392
५. भगवानदास (सं० १५५०-१६५०)	393
६. माधुरी जी (सं० १६५०-१७१५	394
७. बल्लभ रसिक (सं० १६८०-१७४०)	395
८. मनोहर राय (सं० १७१०-१७७०)	397
९. गो० कृष्णचैतन्य 'निज' (सं० १८७८-१९४२)	397
१०. ललित किशोरी (सं० १८८२-१९३०)	400
११. ललित माधुरी (सं० १८८५-१९४२)	401
१२. ललित लड़ैती (सं० १९००-१९६०)	400
१३. बलवंतराव सिंधे (सं० १९११-१९८१)	402
निम्बार्क सम्प्रदायी रचनाकार	403
१. श्री श्रीभट्ट जी (१६वीं शती पूर्वार्द्ध)	403
२. श्री हरिव्यास जी (सं० १५५०-१६३०)	404

३. श्री रूपरसिक जी (१९वीं शती) 406
४. श्री वृंदावनदेव जी (१८वीं शती) 407
५. श्री गोविंदशरण जी (१९वीं शती) 408
ललित सम्प्रदायी रचनाकार
सम्प्रदाय-निरपेक्ष भक्त-रचनाकार
वंशी अली जी (सं० १७६४-सं० १८८२)
१. रसखान (सं० १५९०- सं० १६७५) 413
२. राजा नागरीदास (सं० १७५६- सं० १८२१) 415
३. श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार 420

परिशिष्ट

विषय	पृष्ठ
१. रास मंच पर प्रदर्शित की जाने वाली लीलाएँ	422
लीलाओं के प्रकार और आधार	422
लीलाओं की संख्या	422
प्रमुख लीलाएँ	423
लीलाओं के अवसर और स्थान	224
२. मंचीय लीलाओं की सूची	425
१. विजय सखी (सं० १७०० से सं० १७८० के लगभग) द्वारा रची हुई लीलाएँ	425
२. ब्रजवासीदास (सं० १७६० से १८२०) द्वारा रची हुई लीलाएँ	425
३. चाचा वृन्दावनदास (सं० १७६५-सं० १८५०) द्वारा रची हुई लीलाएँ	426
४. नारायण स्वामी (सं० १८८५-१९५७) द्वारा रची हुई लीलाएं	425
प्रो० हाइन द्वारा उल्लिखित लीलाओं की सूची	427
ब्रजयात्रा के मुकामों पर प्रदर्शित की जाने वाली रासलीलाएँ	429
रास से प्रभावित भारत के विविध नृत्य-नाट्य	431
१. गुजराती रास एवं गरवा नृत्य	432
२. राजस्थान का डांडिया नृत्य	433
३. असम का अंकिया नाट	434
४. मणिपुर का मणिपुरी रास	436
५. बंगाल-ओडिसा का जात्रा नाटक	437
६. केरल का कृष्णाट्टम् एवं कथकलि नृत्य	438
७. उत्तर भारत का नटवरी कत्थक नृत्य	439

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
अनुक्रमणिका	279
विशेष ज्ञातव्य	291

ब्रज की रास-लीला

प्रथम खण्ड

इतिहास

स्वरूप-विवेचन–

व्युत्पत्ति एवं परिभाषा–रासलीला यौगिक शब्द है, जिसमें 'रास' और 'लीला' संज्ञक दो शब्द सम्मिलित हैं। विद्वानों ने इनकी व्युत्पत्ति एवं परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। उन सबका उल्लेख करने की अपेक्षा उनके समन्वयात्मक अभिप्राय को प्रस्तुत करना अधिक उपयोगी होगा।

'रास' शब्द की व्युत्पत्ति 'रस्' अथवा 'रास्' धातुओं से मानी गई है, जिनके अनेक अर्थ किए गए हैं। उनका समन्वय करते हुए इसकी परिभाषा–'रसानां समूहो रासः' अर्थात् रसों का समूह ही रास है, सर्वथा उपयुक्त एवं संगत ज्ञात होती है। इस प्रकार रास का मुख्य तत्त्व 'रस' है, जो उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म स्वरूप है–'रसो वै सः' (तैत्तिरीय, अनु० ७)। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण को रस रूप कहा गया है–'रसोऽहमप्सु' (७-८)। 'रास' में रस–रूप परब्रह्म कृष्ण के क्रिया–कलाप की ही सरस अभिव्यक्ति होती है।

'रास' शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा संस्कृत कोष 'शब्द कल्पद्रुम' के अनुसार इस प्रकार है–'लयनम् लाति इति लीला'। अर्थात्– जो 'लय' प्राप्त करा दे, वह 'लीला' है। इसके द्वारा परब्रह्म कृष्ण अपने दिव्यानंद में लीन होते हैं और इसी के द्वारा वे उसे प्रकाशित भी किया करते हैं।

अभिप्राय और उद्देश्य–'रास' लौकिक दृष्टि से प्राचीन ब्रजमंडल के गोप–समाज का एक 'नृत्त' किंवा लोक नृत्त था,

जिसका प्रादुर्भाव प्रागैतिहासिक काल में हुआ था। उसे द्वापर युग में श्रीकृष्ण ने गोप-बालाओं के साथ सम्पन्न कर गौरवशाली बनाया था। कालान्तर में उस पुरातन नृत्त को सुव्यवस्थित 'नृत्य' रूप प्राप्त हुआ था।[१]

आध्यात्मिक एवं धार्मिक दृष्टि से रास का अभिप्राय परब्रह्म परमात्मा के उस शाश्वत चिरन्तन नृत्य से है, जो अखिल ब्रह्माण्ड में अनादि काल से अखण्ड रूप में नित्य-निरन्तर होता रहता है। इसीलिए इसे 'नित्य रास' कहा गया है।

'लीला' लौकिक अर्थ में खेल अथवा क्रीड़ा को कहते हैं। धार्मिक दृष्टि से इसका अभिप्राय परब्रह्म परमात्मा की उस दिव्यानन्दमयी सरस क्रीड़ा से है, जिसे वे निज स्वरूप सम्भूता आह्लादिनी शक्ति के साथ सदैव किया करते हैं। इसमें उनका कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं होता है। 'लीला' करना उनका स्वभाव है, जिसे वे बिना किसी हेतु अथवा प्रयोजन से किया करते हैं।

सामान्यतः 'चरित्र' को भी लीला के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है; किन्तु वस्तुतः दोनों में बड़ा अन्तर है। 'चरित्र' के कथन में उन क्रियाओं का प्रकाशन किया जाता है, जो जीवन में किसी विशेष हेतु से की जाती हैं। 'लीला' के गायन में उन क्रियाओं को अभिव्यक्त किया जाता है, जो केवल आनन्दमयी और अहैतुकी हैं। लीला का यदि कोई हेतु है, तो वह 'लीला' ही है।

'लीला' दो प्रकार की होती है-(१) ऐश्वर्यमयी और (२) माधुर्यमयी। भगवान् कृष्ण ने जो लीलाएँ ब्रज-वृन्दावन में की हैं, उनमें से कुछ ऐश्वर्यमयी और अधिकांश माधुर्यमयी हैं। उन्होंने जो

---

१. नाट्याचार्यों ने 'नृत्त' और 'नृत्य' में रूपात्मक भेद माना है। उन्होंने ताल-लयाश्रित गात्र-विक्षेप को 'नृत्त' कहा है और ताल-लय एवं भाव समन्वित अंग-संचालन को 'नृत्य' बतलाया है। इस प्रकार नृत्त की अपेक्षा नृत्य में भावाभिव्यक्ति की विशेषता है। 'नृत्त' अंग-संचालन का अव्यवस्थित रूप है, जबकि 'नृत्य' उसका सुव्यवस्थित रूप होता है।

लीलाएँ मथुरा एवं द्वारका में की हैं, वे प्रायः सभी ऐश्वर्यमयी हैं। ब्रज–वृन्दावन की ऐश्वर्यमयी लीलाएँ हैं—शकटासुर, तृणावर्त्त, पूतना आदि का वध; यमलार्जुन–उद्धार, अपने मुख में माता यशोदा को ब्रह्माण्ड का दर्शन कराना, ब्रह्मा–मोह का निवारण, इन्द्र–मान–भंग आदि। उनकी माधुर्यमयी लीलाएँ हैं—माखन–चोरी, चीर–हरण, गो–चारण एवं गो–दोहन, पनघट लीला, दान लीला, मान लीला एवं रास लीला। इनमें रास लीला सर्वोत्तम है। मथुरा की ऐश्वर्यमयी लीलाएँ हैं—मथुरा के राजा कंस का उसके समस्त परिवार के साथ वध, मगध के चक्रवर्ती सम्राट जरासंध की अपार सेना की कई बार पराजय। द्वारका की ऐश्वर्यमयी लीलाएँ हैं—द्रौपदी चीर वर्धन, सुदामा–दारिद्र्य निवारण आदि।

श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीलाओं में उनके ईश्वरत्त्व का बोध होता है; किन्तु माधुर्यमयी लीलाओं में उनके पूर्ण ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति होती है। ब्रज के कृष्णोपासक मनीषियों ने श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यमयी लीलाओं की उपेक्षा करके उनकी माधुर्यमयी लीलाओं के प्रति अपनी आस्था प्रकट की है। इसीलिए उन्होंने मथुरा एवं द्वारका की लीलाओं की अपेक्षा ब्रज–वृन्दावन की लीलाओं को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनके मतानुसार माधुर्य में ऐश्वर्य भी समाहित है। अतएव भगवान् कृष्ण की माधुर्यमयी लीलाएँ ही श्रेयस्कर हैं।

विविध प्रकार—

कृष्णोपासक धर्माचार्यों और उनके अनुगामी भक्तजनों ने रास के तीन प्रमुख प्रकार माने हैं। वे हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक और (३) अनुकरणात्मक। अनुकरणात्मक के भी दो रूप माने गये हैं। वे हैं— (१) मानसी एवं (२) देहात्मक। रास का प्रधान स्थल वृन्दावन है। इसके तीन रूप हैं—(१) दिव्य, (२) अवतरित और (३) स्थूल।

'नित्य रास' अखिल ब्रह्माण्ड की भाँति गोलोक–स्थित दिव्य वृन्दावन में होता है। इसे परब्रह्म कृष्ण अपने आनन्द–विग्रह से निज

स्वरूपा शक्ति के साथ नित्य–निरन्तर करते रहते हैं। यह परब्रह्म का शाश्वत नित्य रास है।

'नैमित्तिक रास' अवतरित वृन्दावन में होता है। इसे परब्रह्म कृष्ण भक्तों के निमित्त अवतार धारण कर ऋषिरूपा गोपियों के साथ किया करते हैं। यह कृष्णावतार का रास है। ये दोनों रास अलौकिक होने के कारण सामान्य संसारीजनों के लिए सहज गम्य नहीं हैं।

'अनुकरणात्मक रास' स्थूल वृन्दावन में होने के कारण भक्तजनों की भावात्मक अनुभूति अथवा प्रत्यक्ष दर्शन की वस्तु है। इसका शुभारम्भ कृष्णोपासक धर्माचार्यों और उनके अनुगामी भक्त महानुभावों ने भजनानंद की प्राप्ति और भक्ति–रस के विस्तारार्थ किया था। आरम्भ में इसे चिन्तन, मनन, प्रवचन एवं गायन द्वारा मानसी रूप में किया जाता था। बाद में इसे कृष्णलीलाओं की अनुकृति द्वारा दैहिक रूप में भी किया जाने लगा। इसे रासधारी गण गान–वाद्य, नृत्य–नाटक एवं कथोपकथन द्वारा सम्पन्न करते हैं। वर्तमान 'नित्य रास' और 'रास लीला' वस्तुतः अनुकरणात्मक रास हैं। इन्हें पहले गान–वाद्य सहित 'नृत्य' के रूप में और फिर गान–वाद्य नृत्य सहित अभिनय के रूप में किया जाता है।

कृष्णावतार का रास—इसका विस्तृत वर्णन भागवत के दशम स्कन्ध की 'रास पंचाध्यायी' में मिलता है। श्रीमद् वल्लभाचार्य जी के मतानुसार यह सारस्वत कल्प के कृष्णावतार का रास है, जिसमें गोवर्धन क्षेत्र को अवतरित वृन्दावन का अत्यन्त पुरातन रूप और परासौली चंद्रसरोवर को रास का पुनीत आदिम स्थल माना है। वृन्दावन में गोवर्धन–गिरिराज के साथ यमुना पुलिन का होना अति आवश्यक है; जैसा कि भागवत (१०–११–३४) में कहा गया है— **'वृन्दावनं गोवर्धनं यमुना पुलिनानि च।'** इसके सम्बन्ध में वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यता है कि जब परब्रह्म कृष्ण ने अपने आधिदैविक पुरुषोत्तम रूप से सारस्वत कल्प में अवतार धारण किया था, तब

उन्होंने अपने में से वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना के साथ–साथ गाय–मयूर आदि पशु–पक्षी तथा कदंब–तमाल आदि वृक्ष एवं लता–कुंज भी प्रकट किये थे। पुरुषोत्तम कृष्ण के साथ लीला करने के लिए उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीस्वामिनी जी भी निज स्वरूप सम्भूता ऋचा रूपी गोपियों के साथ अवतरित हुई थीं। तभी रासायोजन का उपयुक्त वातावरण बन सका था।

परम भक्त महाकवि सूरदास ने सारस्वत कल्प के कृष्णावतार और अवतरित वृन्दावन में सम्पन्न अलौकिक लीला–विहार का कथन अपनी 'सूर–सारावली' नामक रचना के प्रारम्भ में ही इस प्रकार किया है–

अविगत–आदि–अनंत–अनूपम, अलख पुरुष अविनासी।
पूरन ब्रह्म, प्रगट पुरुषोत्तम, नित निज लोक विलासी॥
जहँ वृंदावन आदि अजर, जहँ कुंज लता विस्तार।
तहँ बिहरत प्रिया–प्रीतम दोऊ, निगम भृंग गुंजार॥
रतन–जटित कालिंदी कौ तट, अति पुनीत जहाँ नीर।
सारस–हंस–चकोर–मोर खग कूजत कोकिल–कीर॥
जहाँ गोवर्धन परवत मनिमय, सघन कंदरा सार।
गोपिन मंडल मध्य विराजत, निसि–दिन करत बिहार॥

गोवर्धन–गिरिराज के निकट चंद्रसरोवर पर यमुना का प्रवाह था। इसके सम्बन्ध में वल्लभ सम्प्रदाय की मान्यता है कि सारस्वत कल्प में यमुना की एक धार गिरिराज–चंद्रसरोवर के निकट भी बहती थी, जिसके कारण वहाँ का जमुनावतौ ग्राम प्रसिद्ध हुआ है। श्वेत वाराह कल्प का रास वर्तमान वृन्दावन में कालियदह–वंशीवट के निकट हुआ है, जहाँ यमुना नदी आजकल भी प्रवाहित होती है। सारस्वत कल्प के रास का समय शरद् ऋतु और श्वेत वाराह कल्प के रास का समय बसंत ऋतु मानी गई है। वल्लभ सम्प्रदायी वार्ता–वाङ्मय और पद–साहित्य दोनों में ही रास और वृन्दावन का

उल्लेख इसी मान्यता के साथ हुआ है। कुंभनदास की वार्त्ता के 'भाव–प्रकाश' में इस मान्यता की पुष्टि इस प्रकार की गई है–

श्री यमुना जी के प्रवाह सारस्वत कल्प में दो हते। एक तो जमुनावतौ होइके आगरे के पास जात हतौ और एक चीरघाट होइके श्री गोकुल। आगै दोऊ धारा एक मिलि सारस्वत कल्प में बहतीं.. सो चीरघाट में धारा होइके गिरिराज आवती, तासों पंचाध्यायी कौ रास परासोली में चंद्रसरोवर ऊपर किये.......और कालीदह के घाट तें हू श्री वृंदावन कहत हैं। तहाँ हू बंसीबट है। तहाँ अनेक श्वेत वाराह कल्प में पंचाध्यायी कौ रास उहाँ ही किये हैं। और सारस्वत कल्प में शरद ऋतु किए सो परासोली श्री गिरिराज ऊपर किये। पाछे बसंत चैत्र–बैशाख कौ रास केसीघाट पास बंसीबट के नीचे किये। सो या प्रकार दोऊ ठिकाने। परंतु मुख्य पंचाध्यायी सारस्वत कल्प कौ रास गिरिराज कौ।[1]

अनुकरणात्मक रास—इसका मूल स्त्रोत भी भागवत–दशम् स्कन्ध की रास–पंचाध्यायी है। इसके २९वें अध्याय में कहा गया है कि शरद पूर्णिमा की ज्योत्सनामयी उज्ज्वल रात्रि में यमुना के पावन पुलिन पर भगवान कृष्ण ने गोपियों के साथ रास–क्रीड़ा की थी। उससे गोपियाँ आनन्द–विभोर हो गईं। उन्हें अपने सौभाग्य पर गर्व होने लगा। तभी उनके गर्व का शमन करने के लिए कृष्ण अकस्मात् अन्तर्धान हो गये। ३०वें अध्याय में कहा गया है कि कृष्ण को अपने बीच में न पाकर गोपियाँ अत्यन्त दुःखी हुईं। वे व्याकुल होकर उन्हें ढूँढ़ने लगीं। उन्होंने समस्त वन को छान डाला। लता–गुल्म, पशु–पक्षी, जीव–जन्तु सबसे पूछ लिया; किन्तु कृष्ण का पता न चला। तब वे दीनतापूर्वक विलाप करने लगी; और कृष्ण द्वारा की हुई समस्त लीलाओं का रह–रहकर स्मरण करती रहीं। विरह–वेदना की उस दयनीय अवस्था में विक्षिप्त–सी होकर वे कृष्ण–लीलाओं का अनुकरण करने में तत्पर हुईं। तभी एक गोपी कृष्ण की भाँति

१. अष्टछाप (संपादक–कंठमणि शास्त्री) पृष्ठ २००–२०२।

लीला करने लगीं; अन्य गोपियों ने उसे कृष्ण मानकर उसके साथ दान–मान रास–विलास की लीलाओं का अभिनय किया। इस प्रकार अनुकरणात्मक रास की परम्परा प्रचलित हुई। कालान्तर में उससे प्रेरणा प्राप्त कर ब्रज के कृष्णोपासक धर्माचार्यों और उनके अनुगामी भक्तजनों ने 'रासानुकरण' अथवा 'रासलीलानुकरण' के रूप में उसका आयोजन किया था।

इस समय रासधारियों द्वारा जो रास–लीला की जाती है, वह वस्तुतः 'रामलीलानुकरण' है; जिसे वे गान–वाद्य, नृत्य–नाट्य एवं अभिनय द्वारा प्रदर्शित करते हैं। इसका आयोजन 'नित्य रास' और 'लीला' नामक दो खण्डों में किया जाता है। 'नित्य रास' भगवान कृष्ण द्वारा गोपियों के साथ किये गये नृत्य का अनुकरण है। इसमें उच्चकोटि की नृत्य कला का प्रदर्शन किया जाता है। 'लीला' कृष्ण द्वारा राधा–गोपियों के साथ ब्रज–वृन्दावन में की हुई विभिन्न केलि–क्रीड़ाओं का अनुकरण है। इसमें नाट्याभिनय की प्रधानता होती है। दोनों के साथ गान, वाद्य एवं संवादादि चलते रहते हैं।

ब्रज की रामलीला अपने वर्तमान रूप में एक धार्मिक नृत्य–नाट्य अथवा संगीतरूपक है। इसमें गायन, वादन, नृत्य, नाट्य, काव्य और चित्र आदि सभी ललित कलाओं का धर्मोपासना के साथ ऐसा समन्वय किया गया है कि यह ब्रज संस्कृति का सर्वाधिक समर्थ उपकरण ही नहीं, वरन् इसके सामूहिक स्वरूप का प्रतीक ही बन गया है। ब्रज संस्कृति को यदि एक विशाल वृक्ष की उपमा दी जाय और इसके समस्त अंगोपांगों को उसकी शाखा–प्रशाखाएँ समझा जाय, तो 'रास' को उसका आनंदमयी मधुर फल कहा जावेगा।

रास का वह माधुर्य–मण्डित स्वरूप धर्माश्रित शास्त्रीयता की उच्चतम भाव–भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। अतएव इसमें नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, काव्य आदि सभी कलाओं की अभिव्यक्ति शास्त्रोक्त विधि से की जाती है। इसके द्वारा कृष्णोपासक धर्माचार्यों एवं रसिक सन्तों ने ब्रज की सभी प्राचीन ललित कलाओं के

पुनरुद्धार का पथ धर्मोपासना के प्रकाश में आलोकित किया था। उनका उद्देश्य इसके द्वारा अपने भजनानंद की प्राप्ति के साथ–साथ भक्तजनों को सात्त्विक मनोविनोद उपलब्ध कराने और श्रद्धालु जनता में कृष्णोपासना का प्रचार करना था।

रास के नृत्य-भेद—जैसा पहले कहा गया है, 'रास' का मूल रूप 'नृत्त' है; और 'रासानुकरण' उसके व्यवस्थित रूप 'नृत्य' से प्रारम्भ किया जाता है। नृत्याचार्यों ने 'नृत्त' अथवा 'नृत्य' के दो भेद माने हैं, जिन्हें 'तांडव' और 'लास्य' कहा गया है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार भगवान शंकर ने अपने गण तंडु को 'तांडव' नृत्य की शिक्षा दी थी और अपनी अर्धांगिनी पार्वती जी को 'लास्य' नृत्य सिखलाया था। 'तांडव' ओजपूर्ण नृत्य है, जो उग्रता एवं वीरता का द्योतक है और 'लास्य' माधुर्यपूर्ण नृत्य है, जो कोमलता तथा शृंगारिकता का परिचायक है।

तांडव नृत्य—इस नृत्य को भगवान् शंकर ने त्रिपुर–दाह के अवसर पर प्रस्तुत किया था। स्वरूप की दृष्टि से यह उग्र प्रकार का नृत्य है, जिसमें वीर और रौद्र रसों की अभिव्यक्ति की जाती है। 'संगीत नृत्यकार' में इसकी परिभाषा करते हुए कहा है—**'वीर रसे महोत्साहो पुरुषो यत्र नृत्यति। रौद्र भाव रसोत्पत्तिस्त तांडवमिति स्मृतं।'** इसमें अंगों के संचालन की गति और हस्त–मुद्राएँ कठोर एवं आवेशपूर्ण होती हैं। भगवान् शंकर द्वारा तांडव नृत्य किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है; किन्तु श्रीकृष्ण ने कालिय नाग के फणों पर जो भीषण नृत्य किया था, उसे भी तांडव का एक रूप माना जा सकता है।

'लास्य' नृत्य—इसके प्रवचन से सम्बन्धित एक अनुश्रुति प्रसिद्ध है। उसके अनुसार वाणासुर की पुत्री और श्रीकृष्ण की पौत्र वधू उषा को भगवती पार्वती की कृपा से 'लास्य' नृत्य का ज्ञान प्राप्त हुआ था, जिसे उसने लोक में प्रचारित किया था। 'लास्य' शृंगार रस प्रधान सुकुमार नृत्य है—'लास्यते सुकुमारिणा.........भवे विधा।' (संगीत रत्नाकर)। इसमें अंग–संचालन की गति और हस्त–मुद्राएँ कोमलता

लिए हुए होती हैं।

रास का पुरातन लोक 'नृत्त' और 'तांडव' एवं 'लास्य' से मिलते हुए उसके दोनों आदिम रूप प्राचीन ब्रजमण्डल के गोप (आभीर) समुदाय में प्रचलित थे। जब मथुरा के अत्याचारी राजा कंस के कारण श्रीकृष्ण को अपने जन्म से किशोरावस्था तक गोप–बस्ती में रहना पड़ा था, तब उन्होंने नृत्य के उन दोनों रूपों में दक्षता प्राप्त की थी। उनकी कलाभिरुचि के कारण उनका पर्याप्त विकास हुआ था। उस समय ब्रज का वह लोक नृत्त किस नाम से जाना जाता था, यह ज्ञात नहीं होता है। उसका 'रास' नाम और उससे मिलते हुए अन्य नाम बाद में प्रचलित हुए थे।

जब श्रीकृष्ण मगध के चक्रवर्ती सम्राट जरासंध द्वारा ब्रज पर निरन्तर किये गये युद्ध अभियानों की जन–हिंसा को रोकने के उद्देश्य से मथुरा से निष्क्रमण कर द्वारका चले गये; तब उनके साथ उनका परिकर–यादवों एवं गोपों का समुदाय भी मथुरा–मण्डल से चला गया। उनके साथ–साथ ब्रज का वह लोकनृत्त भी स्थानांतरित हुआ और द्वारका के सुदूरवर्ती पश्चिमी सीमांत तक प्रचलित हो गया। कालान्तर में श्रीकृष्ण की पौत्र–वधू उषा ने उसे लास्य नृत्य के आधार पर व्यवस्थित किया और उसे द्वारका की नारियों को सिखाया था। उनके द्वारा उसका व्यापक प्रचार एवं प्रसार हुआ था। उसके फलस्वरूप पहले मथुरा से द्वारका तक और फिर वहाँ से भारत के दक्षिण–पश्चिमी एवं दक्षिणी भागों में भी रास का प्रचलन हो गया था।

रास के व्यापक प्रचलन से उसका क्षेत्र 'नृत्त' अथवा 'नृत्य' तक ही सीमित नहीं रहा; वरन् उसका अभिनय भी किया जाने लगा। तब वह काव्य की विशाल परिधि से संबद्ध होकर उसके दोनों अंग दृश्य और श्रव्य काव्य–रूपों में गृहीत कर लिया गया। उस समय उसके कई रूप हो गये–एक अव्यवस्थित 'लोकनृत्त' एवं सुव्यवस्थित 'नृत्य' के लिए; दूसरा लोक–नाट्य एवं नृत्य–नाट्य के लिए और

तीसरा गायन एवं वादन के लिए।

विभिन्न नाम-रूप—

प्राचीन एवं मध्यकालीन ग्रन्थों में रास के अर्थ और अभिप्राय को व्यक्त करने वाले कई नाम–रूप मिलते हैं, जो विभिन्न कालों में प्रचलित रहे हैं। उनमें हल्लीसक, छालिक्य या छलिक, रासक और नाट्य–रासक अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि वे नाम–रूप कभी–कभी कुछ भिन्न अर्थों के द्योतक भी रहे; किन्तु रास के मूल अभिप्राय से वे कभी विलग नहीं हुए थे।

जब कृष्णोपासक मनीषियों ने रास के पुरातन कला–रूप के पुनरुद्धार का उपक्रम किया था, तब उन्होंने उसके लिए सभी कालों में सर्वाधिक प्रचलित नाम 'रास' ही स्वीकार किया था। इस प्रकार उन्होंने विगत युग की विच्छिन्न कड़ियों को जोड़कर रास को उसकी गौरवशाली, प्राचीन परम्परा की शृंखला से सम्बद्ध कर दिया था। यहाँ उसके पूर्वोक्त प्रमुख रूपों का कुछ विस्तृत विवरण दिया जाता है।

हल्लीसक—यह 'रास' का पूर्ववर्ती रूप और बाद की कई शतियों तक समानान्तर प्रकार से प्रचलित रहने वाला 'नृत्त' था। इसके अन्य नाम 'हल्लीसक' अथवा 'हल्लीश' भी मिलते हैं। इसकी व्युत्पत्ति 'हल्ल' धातु से मानी गई है, जिससे 'हलन्' शब्द की सिद्धि होती है। इस शब्द का अर्थ है—गतिशीलता अथवा अंग–संचालन। इससे उसके 'नृत्त' होने की पुष्टि होती है।

हल्लीसक नृत्त का प्राचीनतम उल्लेख भासकृत 'बाल चरित' नाटक में मिलता है। भास विक्रमपूर्व द्वितीय शती का अत्यन्त प्राचीन कवि एवं नाटककार था। वह महाकवि कालिदास का पूर्ववर्ती था। उसके 'बाल चरित' नाटक के तृतीय अंक में हल्लीसक को दामोदर–संकर्षण (कृष्ण–बलराम) के साथ गोप–गोपियों का 'नृत्त–बध' कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि भास के काल तक हल्लीसक एक अव्यवस्थित 'नृत्त' मात्र था; उसे तब तक सुव्यवस्थित 'नृत्य' का रूप प्राप्त नहीं हुआ था। उस नाटक के एक प्रसंग में कृष्ण

द्वारा कालिय नाग के फणों पर हल्लीसक नृत्त करने का कथन है। इससे उक्त नृत्य के उद्धत रूप का आभास मिलता है। इसी नाटक के तृतीय अंक में कृष्ण द्वारा गोप–गोपियों के साथ भी नृत्त किये जाने का उल्लेख है। इससे उसके कोमल रूप का संकेत मिलता है। इस प्रकार हल्लीसक को 'तांडव' और 'लास्य' दोनों प्रकार के नृत्यों के समकक्ष कहा जा सकता है। इसके रूप–विधान के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि वह 'स्त्री–पुरुषों का एक मण्डलाकार समूह नृत्य था, जो विविध ताल–लय एवं गायन–वादन से समन्वित था।'[१]

'हल्लीसक' का दूसरा प्राचीन उल्लेख 'हरिवंश' में मिलता है। इसके 'विष्णुपर्व' नामक प्रकरण का २०वाँ अध्याय 'हल्लीसक क्रीडनं' है, जिसमें श्रीकृष्ण द्वारा गोपांगनाओं के साथ की हुई नृत्त–क्रीड़ा का विशद् वर्णन है। 'हरिवंश' को महाभारत का 'खिल' (परिशिष्ट) माना जाता है। इसका रचनाकाल डॉ० भण्डारकर के मतानुसार तीसरी शती है।[२] कुछ विद्वान इसे प्रथम शती की रचना भी मानते हैं। 'हरिवंश' की गणना उपपुराणों में की जाती है।

इस प्रकार हल्लीसक का प्राचीनतम उल्लेख जहाँ नाट्य परम्परा में भासकृत 'बाल चरित' नाटक में है, वहाँ पौराणिक परम्परा में 'हरिवंश' जैसे उपपुराण में हुआ है।

'हरिवंश के विष्णु पर्वांतर्गत २१वें अध्याय में हल्लीसक के नृत्त रूप का उल्लेख किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने अनेक गोपियों के साथ मण्डल बनाकर उस नृत्त को किया था। गोपियाँ हाथों से तालियाँ बजाती और गीत गाती हुई उस मण्डल में नृत्त करती थीं। 'हल्लीसक' की उस मण्डलाकृति के कारण ही 'हरिवंश' के एक टीकाकार ने उसे 'चक्रवाल' और बाणभट्ट ने 'आवर्त्त' की संज्ञा दी है। बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' के टीकाकार शंकर ने भी उसे 'मण्डली नृत्त' कहा है।

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास (डॉ० वसंत यामदग्नि), पृष्ठ ५

२. वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ५१

भरतकृत 'नाट्य शास्त्र' के टीकाकार अभिनव गुप्त ने और वात्सायन कृत 'कामसूत्र' के टीकाकार यशोधर ने हल्लीसक को ऐसा 'नृत्त' बतलाया है, जिसमें एक नेता के साथ अनेक स्त्रियाँ कृष्ण के साथ गोपियों की भाँति मण्डल बाँधकर नाचती हैं।[१] 'हरिवंश' के टीकाकार नीलकण्ठ ने इसे एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का क्रीड़न बतलाते हुए 'रास–क्रीड़ा' कहा है।[२] भोज के 'शृङ्गार प्रकाश' में भी इसे तालबंध 'रास' विशेष बतलाया गया है।[३] चैतन्य सम्प्रदाय के प्रकाण्ड विद्वान श्री जीव गोस्वामी ने नर्तक–नर्तकियों के उस मण्डलाकार हल्लीसक नृत्त को 'रास' ही कहा है।[४] इन सब उल्लेखों के कारण कुछ विद्वानों ने हल्लीसक को भागवतादि में वर्णित 'रास' का पूर्वरूप समझा है; किन्तु किसी भी वैष्णव पुराण में रास के लिए कदाचित् हल्लीसक शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वैष्णवों के सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में इसे 'रास' ही कहा गया है। वैष्णव धर्माचार्यों ने श्रीकृष्ण के रास को जिस अर्थ में ग्रहण किया है, वह भी पूर्णतया हल्लीसक का द्योतक नहीं है।

'हल्लीसक' के उद्भव और उसके विकास के सम्बन्ध में डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल का अनुमान है—'हल्लीसक' शब्द का उद्गम यूनानी इलीशियन नृत्यों से ईसवी सन् के आस–पास हुआ जान पड़ता है। ये दोनों नृत्त शैलियाँ आरम्भ में पृथक्–पृथक्

---

१. (१) मण्डलेन तु यन्नृत्तं, हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्रतु नेतास्याद् गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥ (अभिनव भारती)
(२) मण्डलेन च तंस्त्रीणां, नृत्तं हल्लीसकं तु तत्।
नेता तत्र भवदेको, गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥ (कामसूत्र टीका)

२. हल्लीसक्रीडनं एकस्य पुंसो बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा।
(हरिवंश, २–२०–३६)

३. तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्ध विशेषयुक्तं रास एषेत्युच्यते।

४. नर्तकीभिरनेकाभिर्मण्डले विचरिष्णुभिः।
यत्रैको नृत्यति नटस्तद्वै हल्लीशकं विदुः। तदेवेदं तालबन्ध॥
गतिभेदेन भूयसा रासः स्यात्॥ (वृहत् क्रम संदर्भ)

५. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ३३।

रूप में विकसित हुई थीं; किन्तु बाद में इन दोनों का समन्वय हो गया था।[५] 'हल्लीसक' के सम्बन्ध में डॉ० अग्रवाल जी का यह अनुमान ठीक नहीं मालूम होता है। वस्तुतः हल्लीसक रास के समानान्तर चलने वाला उससे निम्न कोटि का नृत्त था।

सम्भवतः वह कृषक वर्ग का लोकनृत्त था। अपने नाम से भी वह हलधर (हल+ईश=हल्लीश) समुदाय से सम्बन्धित जान पड़ता है। उसमें कदाचित् हल्ला अर्थात् कोलाहल भी होता था, जो उसके निम्नस्तरीय 'नृत्त' रूप का परिचायक है। कालान्तर में उसने एक सुव्यवस्थित 'नृत्य' का रूप धारण कर लिया था। गुप्तकाल में उसका वह उन्नत रूप ही प्रचलित था; जैसा कि उस काल में निर्मित अजंता एवं बाघ के गुफा–मन्दिरों के भित्ति–चित्रों से ज्ञात होता है।

मध्यकाल में हल्लीसक के रूप में बड़ा परिवर्तन हुआ। उस समय उसे नृत्य के साथ ही साथ नाट्य से भी सम्बन्धित माना जाने लगा था। तब उसकी परिभाषा भी बदल गयी थी। फिर भी उसका अधिक महत्व नृत्य–भेद के रूप में ही बना रहा। उसके स्वरूप में इतना अन्तर अवश्य हो गया था कि एक नर्त्तक के बजाय उसमें अनेक नर्त्तक भाग लेने लगे थे। तब वह बहुसंख्यक स्त्री–पुरुषों का सामूहिक नृत्य हो गया था। उसमें नर्तक–नर्तकियों के अनेक जोड़े दो–दो नर्तकियों के बीच में एक–एक नर्तक; अथवा दो–दो नर्तकों के बीच में एक–एक नर्तकी के क्रम से मण्डल बाँधकर नृत्य करते थे। तत्कालीन ब्रज–मण्डल में सम्भवतः हल्लीसक नृत्य के उस परिवर्तित रूप का प्रचार नहीं हुआ; किन्तु राजस्थान में वह १४वीं शती तक प्रचलित था। जैन रचनाकारों द्वारा प्रस्तुत १२वीं, १३वीं और १४वीं शतियों के ग्रन्थों में 'रासक' और 'प्रेक्षणक' के साथ ही साथ हल्लीसक के प्रचार का उल्लेख मिलता है। १३वीं शती में रचित कबक सूरि के ग्रन्थ 'उपदेश गच्छ पट्टावली' से ज्ञात होता है कि उस काल में स्त्रियाँ स्थान–स्थान पर वाद्यों के साथ हल्लीसक, लकुट–रासक और प्रेक्षणक का आयोजन करती थीं।

जहाँ तक हल्लीसक के नाट्य–रूप का सम्बन्ध है, उसे नाट्य–शास्त्र के लक्षण ग्रन्थों में 'रासक' और 'नाट्य रासक' के साथ 'उपरूपक' का एक भेद माना गया है। उसके अभिनय की प्रविधि निश्चित करते हुए उसे एकांकी उपरूपक बतलाया गया है। इस प्रकार अपने नाट्य–रूप में वह प्रायः 'रासक' से मिलता हुआ था। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे रासक की भाँति गेय नाटक बतलाया है, जिसके संगीत में लय–तान की विशेषता होती है। इसका नायक उदात्त होता है और नायिका सहित इसके नारी पात्रों की संख्या १० तक होती है।

छालिक्य अथवा छलिक—उस कला–रूप का जो विवरण प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है, उससे वह 'नृत्त' अथवा 'नृत्य' की अपेक्षा गायन एवं अभिनय से अधिक सम्बन्धित जान पड़ता है। संस्कृत भाषा कोश 'वाचस्पत्यम्' में उसे गान–भेद एवं रूपक–भेद ही बताया गया है।[1] 'छालिक्य' का सर्वप्रथम उल्लेख 'छान्दोग्य उपनिषद्' में हुआ है। उसके उपरान्त 'कथा सरित्सागर' में इसका उल्लेख मिलता है। किन्तु इसका विस्तृत विवरण हरिवंश और कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' नाटक से जाना जा सकता है। हरिवंशकार ने उसे 'छालिक्य गांधर्व' कहा है, जो उसके गान–भेद का सूचक है।

हरिवंश के विष्णु पर्व, अध्याय ५९, श्लोक सं० ६७–८६ में छालिक्य गांधर्व का विस्तृत वर्णन है। उसमें इसे स्वर्ग का ऐसा दिव्य संगीत बतलाया है, जिसे श्रीकृष्ण ने इस भूतल पर यादव समाज में प्रचलित किया था। उस समय के पाँच सर्वोपरि यादव वीर—कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब उसके विशेषज्ञ थे। उनके अतिरिक्त नारद जी भी उस 'विज्ञान' को यथावत् जानते थे।[2]

'हरिवंश' के विष्णु पर्व, अध्याय ८४ के श्लोक सं० ६७–७७

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास (डॉ० वसंत यामदग्नि), पृष्ठ १८

२. लेखक कृत 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' पृष्ठ १६५।

में पिंडार–यात्रा के जल–विहार से सम्बन्धित रात्रिकालीन समारोह में 'छालिक्य' के कार्यक्रम का रोचक वर्णन मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि उस समारोह में श्रीकृष्ण ने वंशी, नारद ने वीणा और अर्जुन ने मृदंग का वादन किया था। रम्भा, उर्वशी, हेमा, मित्रकेशी, तिलोत्तमा, मेनका आदि स्वर्ग की अप्सराओं ने अपने गायन एवं नृत्य से उस समारोह को सफल बनाया था। 'हरिवंश' के अनुसार 'छालिक्य' गायन एवं अभिनय का ऐसा आयोजन था, जिसे मांगलिक अवसरों पर किये जाने वाले लोकोत्सवों में सम्पन्न किया जाता था और उसमें आबाल–वृद्ध सभी नर–नारी सामूहिक रूप से भाग लेते थे। उसे शुभ, प्रशस्त, मंगलप्रद और यशोवर्द्धक बतलाया गया है।

'छालिक्य' का वर्णन हरिवंश के अतिरिक्त अन्य किसी पौराणिक ग्रन्थ में नहीं मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है कि उसका उद्भव कृष्ण–काल में द्वारका में हुआ था। फिर कुछ काल तक वह द्वारका एवं उससे निकटवर्ती भू–भाग में प्रचलित रहा था। तत्पश्चात् कुछ अज्ञात कारणों से उसका प्रचलन बन्द हो गया था।

'छालिक' का विवरण कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में मिलता है। उसके कथानक के अनुसार गणदास नामक एक संगीताचार्य ने अपनी शिष्या मालविका की उच्च कला–कुशलता प्रमाणित करने के लिये जो नृत्य–नाट्य प्रदर्शित किया था, उसे 'छलिक' कहा गया है। उक्त नाटक के नायक भृगुवंशीय सम्राट अग्निमित्र बड़े सहृदय और कला प्रेमी थे। वे मालविका की कला सम्बन्धी दक्षता पर इतने मुग्ध हुए कि उस सामान्य युवती को उन्होंने अपनी रानी बना लिया था।

कालिदास ने उक्त प्रसंग का कथन करते हुए 'छलिक' को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उससे वह गान–वाद्य–भावाभिनय संयुक्त एवं उच्च कोटि का कलापूर्ण नृत्य–नाट्य जान पड़ता है। उससे यह भी विदित होता है कि उस काल के राजघरानों की महिलाओं और कन्याओं को नृत्य एवं नाट्य की विधिवत् शिक्षा दी

जाती थी। उस समय के नृत्य–नाट्याचार्य अपनी शिष्याओं की प्रतियोगिताएँ रंगशालाओं में कराते थे और विशेषज्ञ विद्वान प्रतियोगियों के गुण–दोषों की समीक्षा करने के अनंतर अपना निर्णय देते थे। वे जिसको विजयी घोषित करते थे, उनके आचार्य को सम्मानित एवं पुरस्कृत किया जाता था। कुछ विद्वानों ने 'मालविकाग्निमित्र' में कथित 'छलिक' और 'हरिवंश' में वर्णित 'छालिक्य' को एक समान बतलाया है। किन्तु वे दोनों भिन्न–भिन्न ज्ञात होते हैं। उनके नामों से भी उनकी भिन्नता प्रकट होती है। 'छलिक' कलापूर्ण नृत्य–नाट्य था, जिसमें अंग–संचालन की प्रधानता थी और 'छालिक्य' गांधर्व अर्थात् संगीत था, जिसमें गान–वाद्य प्रधान था। उन दोनों कलाओं के प्रवर्तक एवं प्रचारक भी भिन्न–भिन्न थे। 'छलिक' की प्रवर्तिका शर्मिष्ठा थी, जबकि 'छालिक्य' की उद्भावना श्रीकृष्ण ने की थी और उनके पुत्र प्रद्युम्न एवं सखा नारद–अर्जुनादि ने उसका प्रचार किया था।

रासक—आरम्भ में वह एक नृत्त–भेद था; किन्तु बाद में उसे हल्लीसक की भाँति उपरूपकों में सम्मिलित कर नाट्य–भेद कहा जाने लगा था। तब उसके तीन उपभेद किये गये, जिन्हें १. ताल रासक, २. दण्ड रासक और ३. मण्डल रासक नामों से जाना गया।[१] 'ताल रासक' विभिन्न तालों की लय पर अथवा हाथों की ताली बजाकर किया जाने वाला नृत्त था। 'दण्ड रासक' लकड़ी के छोटे दण्डों को बजाकर किया जाने वाला नृत्त था और 'मण्डल रासक' गोल (मण्डल) बाँधकर किया जाने वाला नृत्त था। 'मण्डल रासक' का सर्वप्रथम उल्लेख ७वीं शती के बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'हर्षचरित' में किया है, जहाँ उसे एक मण्डलाकार नृत्त बतलाया गया है।[२] उसके बाद ११वीं शती में नाट्य–शास्त्र की टीका 'अभिनव भारती' और दशरूपक की टीका 'अवलोक' में भी उसका उल्लेख

१. ताल रासक नामस्यात् च त्रेधा रासकं स्मृतम्।
दंडरासकमेकन्तु तथा मंडलरासकं॥
२. हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास।

करते हुए उसे नृत्त भेद बतलाया है। 'अभिनव भारती' में उसकी गणना हल्लीसकादि नौ प्रकार के नृत्तों में की गई है। इसी ग्रन्थ में उसका लक्षण भी बतलाया गया है, जो इस प्रकार है–'जिस नृत्त का आयोजन अनेक नर्तकियाँ ताल–लय के साथ करें, जिसमें नृत्तरत युगलों की संख्या ६४ तक हो और जिसके मसृण तथा उद्धत नामक दो भेद हों, उसे 'रासक' कहते हैं।'[१] १३वीं शती के नाट्याचार्य रामचन्द्र कृत 'नाट्यदर्पण' में भी उसके नृत्य रूप का लक्षण बतलाया गया है। उसके अनुसार जब १६, १२ अथवा ८ नायक–नायिकाएँ पिंडीबंधादि नृत्य करें, तब 'रासक' कहा जाता है।[२] १४वीं शती के आरम्भिक काल के आचार्य शारदातनय कृत 'भाव प्रकाशम्' में रासक की परिभाषाएँ लिखते हुए उनके कई लक्षण बतलाये गये हैं। उनमें से एक परिभाषा 'अभिनव भारती' के अनुसार है और दूसरी 'नाट्य दर्पण' के अनुसार।[३] उसमें जहाँ 'रासक' के नृत्य–रूप का उल्लेख किया है, वहाँ उसे 'लास्य' के चार भेदों में से एक 'लता' के अन्तर्गत मानते हुए उसके ताल रासक, दण्ड रासक और मण्डल रासक नामक तीन भेद किये हैं।[४] उसमें से ताल रासक में हथेलियों से ताल देकर, दण्ड रासक में छोटे–छोटे डण्डे बजाकर और मण्डल रासक में घेरा बाँधकर नृत्य किया जाता है।

११वीं शताब्दी तक रासक 'नृत्त' अथवा 'नृत्य' के रूप में ही प्रचलित था। उसके अनन्तर इसे 'नाट्य' से भी सम्बन्धित माना जाने लगा था। ११वीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र कृत 'काव्यानु–शासन' में उसे सर्वप्रथम नाटक का एक भेद माना गया। उसी काल से रासक के दो रूप हो गये। एक तो अपने मूल रूप नृत्त से विकसित

---

१. अनेक नर्तकी योज्यं चित्रतालयान्वितम्।
आचतुष्षष्ठिं युगलाद्रासकं मसृणोद्धतम्॥

२. षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नाय (यि) काः।
पिण्डीबन्धादि विन्यासै रासकं तदुदाहृतम्॥

३. भाव प्रकाशम् (गायकबाड़ सीरीज) नवम् अधिकार, पृष्ठ २६३ एवं २६६।

४. भाव प्रकाशम् (गायकबाड़ सीरीज) नवम् अधिकार, पृष्ठ २९७।

होकर गान–वाद्य युक्त 'नृत्य' बना रहा; दूसरा 'उपरूपक' के नाम से नाट्य की परिधि में विकसित होने लगा। १२वीं शताब्दी के बाद के आचार्यों ने रासक के दोनों रूपों की परिभाषाएँ लिखी हैं और उनके पृथक्–पृथक् लक्षण बतलाये हैं। यही कारण है कि शारदातनय कृत 'भाव प्रकाशम्' में रासक की कई परिभाषाएँ मिलती हैं।

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'काव्यानुशासन' में 'पाठ्य' तथा 'गेय' नाम से नाटकों का नया वर्गीकरण करते हुए हल्लीसकादि १३ गेय नाटकों में रासक का नामोल्लेख किया गया है।[1] आचार्य शारदातनय कृत 'भाव प्रकाशम्' में जहाँ रासक के नाट्य–रूप में सूत्रधार नहीं होता है; किन्तु उसमें एक अंक, सुश्लिष्ट नांदी, पाँच पात्र, तीन संधियाँ, कई भाषाएँ, कैशिकी और भारती वृत्तियाँ, समस्त वीथ्यंग, प्रसिद्ध नायक और नायिकाएँ तथा उदात्त भाव का होना आवश्यक है।[2] शारदातनय के ही प्रायः समकालीन आचार्य विश्वनाथ थे। उन्होंने 'साहित्य दर्पण' के नाम से काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है। इसमें दृश्य काव्य के अन्तर्गत नाट्य–भेदों का भी विवेचन किया गया है। 'साहित्य दर्पण' के अनुसार रासक के नाट्य–रूप में पाँच पात्र होते हैं, एक अंक होता है, मुख और निर्वहण संधियाँ तथा कैशिकी एवं भारती वृत्तियाँ होती हैं। सूत्रधार नहीं होता है। प्रसिद्ध नायिका होती है और नायक मूर्ख होता है। उदात्त भावों का उत्तरोत्तर प्रदर्शन किया जाता है। किसी–किसी के मतानुसार इसमें प्रतिमुख सन्धि भी होती है।[3] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि 'साहित्य दर्पण' का लक्षण भी 'भाव प्रकाशम्' के लक्षण से प्रायः मिलता हुआ ही है।

इस प्रकार रासक 'नृत्त' से विकसित होकर एकांकी गेय 'नाटक' बना था। उसके विकास का यह क्रम मालुम होता है, पहले उसमें गान–वाद्य संयुक्त नृत्य के साथ अभिनय का समावेश हुआ,

१. नाट्य समीक्षा, पृष्ठ ३२।
२. भाव प्रकाशम्, पृष्ठ २६९।
३. साहित्य–दर्पण, पृष्ठ २६७।

फिर उसके साथ कथानक जोड़ा गया। तत्पश्चात् उसमें वार्त्तालाप (कथोपकथन) भी समाविष्ट हो गया था। 'अभिनव भारती' और 'भाव प्रकाशम्' में इसका जो लक्षण दिया गया है, उससे ऐसा जान पड़ता है, 'कोई एक घटना गेय पदों द्वारा अभिनीत हुआ करती थी। गेय पदों का गायन वाद्य सहित होता था और उनका प्रदर्शन नृत्य के द्वारा वार्त्तालाप की सहायता से किया जाता था।[१]

रास का अभिनयात्मक प्रदर्शन शताब्दियों तक बड़ा लोकप्रिय रहा था। हिन्दी के प्रारम्भिक काल से ही अभिनय के उल्लेख मिलते हैं। १३वीं शती की रचना 'उपदेश गच्छ पट्टावली' से ज्ञात होता है कि उस समय स्थान-स्थान की नारियों में गान-वाद्य पुरस्सर हल्लीसक और प्रेक्षण के साथ लकुट रासक का भी प्रचलन था।[२] डॉ० दशरथ ओझा का मत है, यह रासक ही आज गीत-नाट्य के रूप में विकसित हो गया है; अतः इसे हिन्दी का प्रारम्भिक एकांकी नाटक माना जा सकता है।[३]

जब उपरूपकों को 'नृत्त' का प्रकार माना जाता था; तब हल्लीसक, रासक और रास प्रसिद्ध नृत्त-भेद थे। बाद में जब उन्हें भी नाट्य-भेद माना जाने लगा, तब उनके स्वरूप की व्याख्या नाट्य विधान के अनुसार की जाने लगी थी। तभी रासक के अतिरिक्त 'नाट्य रासक' नामक एक अन्य उपरूपक भी प्रकाश में आया था।

नाट्य रासक—वह रासक से प्रायः मिलता हुआ नाट्य-रूप था; क्योंकि वे दोनों ही एकांकी थे और दोनों में ही नृत्य के साथ अभिनय का प्रदर्शन किया जाता था। फिर भी उनके स्वरूप में कुछ भिन्नता थी; इसीलिए नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में दोनों को अलग-अलग

---

१. नाट्य-समीक्षा (डा० दशरथ ओझा), पृष्ठ ३४।

२. स्त्रीणां हल्लीसकः स्थान स्थान लकुटरासकः।
प्रेक्षणाकैर्जीयमानैः वादित्रैश्च पुरस्सरैः॥

३. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ ७८।

उपरूपक बतलाया गया है और उनके पृथक्–पृथक् लक्षण लिखे गये हैं। 'साहित्य दर्पण' (परिच्छेद ६, छन्द २७७–२८०) में आचार्य विश्वनाथ ने 'नाट्य रासक' को शृंगार और हास्य रस का एकांकी बतलाया है। उसका नायक उदात्त तथा पीठमर्द होता है और नायिका 'बासकसज्जा' होती है। इसमें बहु ताल–लय–स्थिति तथा मुख एवं निर्वहण संधियाँ होती हैं और लास्य के दसों अंग होते हैं।

नाट्य रासक में रासक से भिन्नता इस प्रकार है–'जहाँ नाट्य रासक में उदात्त नायक और बासकसज्जा नायिका होती है, वहाँ रासक में मूर्ख नायक और ख्यात नायिका होती है। इसमें भाषा और विभाषा अर्थात् प्राकृत और लोकभाषा का प्राधान्य होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जन–साधारण द्वारा किसी लोक–प्रचलित नायक को लेकर लोक में प्रदर्शित उपरूपक को अलंकारियों ने 'रासक' का नाम दिया है और शिक्षित एवं शास्त्र–प्रचलित नायक के आधार पर रचित उपरूपक को 'नाट्य रासक' बतलाया है।[१] शारदातनय ने 'नाट्य रासक' के लिए 'नाट्य रास' शब्द का प्रयोग किया है।

इस प्रकार लक्षण ग्रन्थों से प्रकट होता है कि 'नाट्य रासक' एक एकांकी उपरूपक था, जो 'भांड' से मिलता–जुलता था। धीरे–धीरे वह विकसित होकर रूपक की कोटि तक जा पहुँचा था। वह रूपक नृत्य और गायन प्रधान था। उसमें नारी पात्रों की प्रमुखता रहती थी और विदूषक भी अनिवार्य रूप से रहता था। अतएव उसकी कथावस्तु में शृंगार रस के साथ–साथ हास्य रस का समावेश था। शृंगार ही सम्भवतः नाट्य रासक के कथानकों का मुख्य रस होता था और हास्य उसका सहयोगी होता था।[२]

रास एक ऐसा विकासशील कला–रूप है, जिसने अव्यवस्थित 'नृत्त' से सुव्यवस्थित 'नृत्य' का रूप धारण किया था;

१. भारतीय नाट्य साहित्य, पृष्ठ २५२।

२. ब्रज का रासमंच (श्री रामनारायण अग्रवाल), पृष्ठ ५२।

फिर वह क्रमशः 'हल्लीसक', रासक एवं नाट्य रासक के रूपों में विकसित होता हुआ काव्य के श्रव्य (गान–वाद्य) और दृश्य (नाट्य) समन्वित रूप में परिणित हो गया था। उसकी विकास यात्रा का इतिहास अत्यन्त विचारोत्तेजक एवं ज्ञानवर्धक है।

परम्परा एवं प्रचलन—यद्यपि रास के विकास का इतिहास कृष्ण–काव्य से प्रारम्भ होता है; किन्तु उसके 'नृत्त' एवं 'नृत्य' रूपों की परम्परा अनादिकाल से प्रारम्भ होती है। नृत्य के मूल प्रवर्त्तक भगवान शंकर माने गये हैं, जिन्हें नटराज कहा गया है। फिर कृष्ण और उनके परिकर ने इसकी उन्नति में योग दिया था। इसीलिए कृष्ण को 'नटवर' अथवा 'नटनागर' कहा जाता है। इसके प्रारम्भिक प्रचारकों में देवर्षि का नाम पुराण प्रसिद्ध है। इसकी परम्परा और प्रचलन से सम्बन्धित विभिन्न कालों की गतिविधियों पर यहाँ क्रमानुसार प्रकाश डाला जाता है।

वेदकालीन स्थिति—नृत्य की विद्यमानता प्राचीन काल से रही है, अतः यह किसी–न–किसी रूप में वैदिक काल में भी विद्यमान था। नृत्य की भावना का उल्लेख 'ऋग्वेद' में मिलता है। वैदिक ऋषि ने क्षितिज की प्राची दिशा में उषा के प्रातःकालीन विस्तार की तुलना रंगमंच पर नर्तकी के उल्लासपूर्ण नृत्य से की है। प्रकृति की लीला के इस सुखद दृश्य को नृत्य के सदृश बतलाना अत्यन्त मनोरम उपमा है, जिससे वैदिक ऋषि की कलाप्रियता प्रकट होती है। ऋग्वेद की एक ऋचा में इसे अखिल विश्व का मूल कारण बतलाया गया है। उक्त ऋचा को विद्वद्वर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'रास और रासान्वयी काव्य' नामक ग्रन्थ की भूमिका में उद्धृत किया है। वह ऋचा इस प्रकार है—

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रां वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरजायत॥ (१०–७२–६)

उक्त ऋचा की व्याख्या करते हुए डॉ० अग्रवाल जी ने कहा है—'सृष्टि के आरम्भ में एक महान सलिल समुद्र था। उसमें सात

देवता एक–दूसरे से हाथ मिलाकर ठहरे हुए थे। उनके नृत्य या तालबन्ध के चरण–क्षोभ से जो तीव्र धूल छा गई, वही यह विश्व है। अदिति माता के सात पुत्र वे देव थे, जो सम्मिलित नृत्य कर रहे थे। इस प्रकार मण्डलाकार नृत्य की परम्परा का दर्शन ऋग्वेद के प्रारम्भिक युग में ही मिलता है।

'यजुर्वेद और आपस्तम्भ श्रौत सूत्रों में ऐसे नृत्य का उल्लेख मिलता है, जिसमें आठ–दस कन्यायें सिर पर जल के घड़े रखकर वाद्य–संगीत के साथ 'माजीली' गीत गाती हुई घूम–घूमकर नृत्य नाचती थीं।'[१] अथर्ववेद के 'पृथिवी सूक्त' में मातृभूमि की वंदना करते हुए गान के साथ नृत्य की महत्ता का भी उल्लेख किया गया है। ऋषि कहते हैं–**'यस्यां गायन्ति भूम्यां मर्त्याव्यैलवाः'** (अथर्व, १२–१–४१)। अर्थात् जहाँ के मानव आनन्दित होकर उमंग से गाते और नाचते हैं, वह भूमि वंदनीय है। वैदिक काल में गायन–वादन के साथ नृत्यों का प्रदर्शन किया जाता था। वे प्रदर्शन यज्ञों के अवसर पर छोटे–छोटे मंचों पर और अन्य प्रसंगों पर विस्तृत मैदानों में किये जाते थे। नर्तकी और नर्तक सोमरस का पान कर सामूहिक नृत्य करते थे। नर्तकियाँ पैरों में घुँघरू बाँधकर नाचती थीं।[२] ब्राह्मणों और उपनिषदों के काल में भी नृत्य की विद्यमानता के उल्लेख मिलते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता में 'नृत्त' करने वालों को 'सूत' और गीत गाने वालों को 'शैलूष' कहा गया है–नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं।[३] इससे ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में जो कलाकार केवल 'नृत्त' करते थे, उन्हें 'सूत' कहा जाता था और जो गायन भी करते थे, उन्हें 'शैलूषं' कहते थे। कालान्तर में शैलूष नाट्य कर्म करने वाले नटों का पर्यायवाची हो गया। 'अमरकोश' में नटों और

---

१. भारतीय नाट्य साहित्य, पृष्ठ ७०।

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास (गैरोला), पृष्ठ ७५३।

३. ऋग्वेद, १०–१०; १०–८६; १०–९७।

नर्तकी के आठ नामों का उल्लेख हुआ है। ये नाम हैं—१. शैलालि, २. शैलूष, ३. जायाजीव, ४. कृशाश्व, ५. भरत, ६. नट, ७. चारण और ८. कुशीलव। प्राचीनकाल के नर्तक नृत्त, नृत्य और नाट्य (अभिनय) आदि सभी कलाओं में निपुण होते थे। जब इन कलाओं का अधिक विस्तार हुआ, तब नर्तकों और नटों (अभिनेताओं) के अलग–अलग वर्ग बन गये थे।

सामान्यतया जो कलाकार नृत्त या नृत्य करते थे, उन्हें 'नर्तक' और जो नृत्य के साथ अभिनय करते थे, उन्हें 'नट' कहा जाने लगा था। 'अमरकोश' के पूर्वोक्त श्लोक की टीका करते हुए पं० रविदत्त शास्त्री ने लिखा है, शैलाली, शैलूष, जायाजीव, कृशाश्व, भरत और नट ये छह नाम नटों (अभिनेताओं) के हैं तथा चारण और कुशीलव ये दो नाम नर्तकों के हैं।[१] यदि इस कथन को प्रामाणिक माना जाय, तब केवल 'नृत्त' करने वाले प्राचीन सूतों के अतिरिक्त चारण और कुशीलव भी नर्तकों के वर्ग के थे। रामचरित्र के गायक भगवान राम के पुत्र कुश–लव के नाम पर नर्तकों का एक वर्ग 'कुशीलव' कहा जाने लगा था। नर्तकों का 'चारण' नाम नृत्य कला में उनके चरण–संचालन की कुशलता के कारण पड़ा हुआ जान पड़ता है। उन विभिन्न नामधारी नर्तकों एवं नटों द्वारा नृत्य एवं नाट्य के प्रचार का महान कार्य हुआ था।

नाट्य के जन्म की अनुश्रुति के अनुसार उसका उद्भव चारों वेदों की रचना के पश्चात् हुआ था। इसीलिए वेदों में 'नट' और 'नाटक' शब्द नहीं मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक काल में नाट्य के प्रमुख अंग अभिनय का प्रचलन नहीं था, किन्तु अभिनय के अतिरिक्त दो अंग 'नृत्य' और 'संवाद' भी होते हैं। नृत्य की भावना का उल्लेख तो वेदों में मिलता ही है, जैसा कि पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट है; किन्तु 'ऋग्वेद' के कई सूक्तों में यम–यमी, इन्द्र–इन्द्राणी, पुरुरवा–उर्वशी आदि के संवाद भी हैं। इनसे वैदिक काल की

१. कथक नृत्य, पृष्ठ ८।

नाट्यात्मक भावना का कुछ आभास मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी–मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य ऋषि के जो प्रश्नोत्तर हैं, वे भी उसी भावना के सूचक हैं।[1] संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों में शैलूष को नट का पर्यायवाची बतलाया गया है। इससे विद्वानों की धारणा है कि नाट्य का आरम्भ उन धार्मिक नृत्यों से हुआ, जिन्हें सूत और शैलूष जातियों के व्यक्ति गान के साथ यज्ञों के समय करते थे। उनके कारण वैदिक काल में ही नाट्य–परम्परा की भूमिका बन गई थी। फिर उत्तर वैदिक काल से उसके क्रमिक विकास का उल्लेख मिलता है। 'कात्यायन श्रौत सूत्र' (७–८–२५) में सोमयज्ञ के अवसर पर एक लघु अभिनय का सा प्रसंग मिलता है, जिसके नाट्यात्मक रूप का उल्लेख भी जयशंकर 'प्रसाद' जी ने किया है।[2]

भारत के प्राचीनतम नाट्योत्सवों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण इन्द्र की विजय–पताका का उत्सव था, जिसे 'इन्द्रध्वज मह' अथवा 'शक्र मह' कहते थे। उक्त समारोह में इन्द्र के ध्वज की स्थापना की जाती थी। उसके नीचे सामूहिक मनोविनोद के अनेक आयोजन होते थे, जिनमें नर–नारी बड़ी संख्या में भाग लेते थे। वह उत्सव सम्भवतः शरद ऋतु में किया जाता था। भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' की रचना उसी उत्सव को सूत्र मानकर की गई थी। उस उत्सव में ही भरत मुनि ने सर्वप्रथम 'अमृत मंथन' और 'त्रिपुर दाह' जैसे दिव्य नाट्याभिनयों का प्रयोग किया था। यूरोपीय विद्वानों ने उस उत्सव को प्राचीन यूरोप में मनाये जाने वाले May pole उत्सव के सदृश बतलाया है; यद्यपि दोनों की भावना में बड़ा अन्तर है।

रामायणकालीन स्थिति—रामायणकाल में नृत्य एवं नाट्य के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। इसके कई प्रसंगों में 'नट' और 'नर्तक' शब्द साथ–साथ भी प्रयुक्त हुए हैं। नट वाची 'शैलूष' शब्द भी रामायण में उपलब्ध हैं।[3] उससे नाट्य की उस स्थिति का बोध होता

---

१. यजुर्वेद संहिता, ३०–६।

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५७।

३. शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि।

है, जब वह नृत्त के साथ–साथ विकसित हो रहा था। रामायण काल में नर्तक–संघों के अतिरिक्त नट–नाटक संघ भी बन गये थे।[१] राम के पुत्र कुश–लव द्वारा रामचरित के गायन का उल्लेख रामायण में हुआ है। संस्कृत साहित्य में नटों के एक वर्ग को 'कुशीलव' कहा गया है। इससे विद्वानों का अनुमान है कि नटों का वह नाम कुश– लव के नाम पर पड़ा होगा।

महाभारत और हरिवंशकालीन स्थिति—महाभारत हमारे देश का अत्यन्त गौरवशाली विशाल ग्रन्थ है। इसमें भरतवंशीय कौरव और पाण्डव नामक दो राज–परिवारों के गृह–युद्ध की गाथा है, जिसमें प्रासंगिक रूप में श्रीकृष्ण के उत्तर जीवन का भी विशद् वर्णन किया गया है। इसका परिशिष्ट भाग 'हरिवंश' कहलाता है, जिसमें श्रीकृष्ण के आरम्भिक जीवन का विस्तृत कथन है। इस प्रकार महाभारत और हरिवंश दोनों के सम्मिलित विवरण से श्रीकृष्ण का समग्र और प्राचीनतम जीवन–वृत्त उपलब्ध होता है। इन दोनों ग्रन्थों का रचना–काल अनिश्चित है; किन्तु अधिकांश विद्वानों के मतानुसार महाभारत की रचना विक्रम–पूर्व की तृतीय शती में और हरिवंश की विक्रम पश्चात् की तीसरी शताब्दी में हुई थी। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत में वर्णित कृष्ण–चरित्र की पूर्ति हरिवंश द्वारा प्रायः छह शती पश्चात् की गई थी। महाभारत और हरिवंश दोनों में नृत्य एवं नाट्य के पर्याप्त वर्णन मिलते हैं; किन्तु कृष्ण द्वारा किये गये रास का विस्तृत विवरण हरिवंश में उपलब्ध है, जो सर्वाधिक प्राचीन है।

महाभारत के वन, विराट और उद्योगादि कई पर्वों में नाट्याभिनय के वर्णन मिलते हैं। विराट पर्व में एक रंगमंच का भी उल्लेख हुआ है। उस काल में अभिजात वर्ग, यहाँ तक कि राजकुल के युवक–युवती तक नाट्य कला की विधिपूर्वक शिक्षा प्राप्त करते

---

१. १–नटनर्तक संघानां गायकानां च गायताम्।
२–वधु नाटकसंघैश्च संयुक्ता सव्वर्तः पुरीम्।

थे और नाटकों के प्रदर्शन में भाग लेते थे। श्रीकृष्ण, उनके इष्ट–मित्र और बन्धु–बान्धव सभी नाट्य कला में निपुण थे। श्रीकृष्ण के सखा अर्जुन ने राजकुमारी उत्तरा को नृत्य एवं नाट्य की शिक्षा दी थी। जब उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से हुआ, तब उसके समारोह में प्रतिष्ठित व्यक्तियों का मनोरंजन करने के लिए जो कलाकार बुलाये गये थे, उनमें नट भी थे।

महाभारत के नृत्य–नाट्यादि से सम्बन्धित कतिपय प्रसंगों के होते हुए भी उसमें श्रीकृष्ण के उस रास–नृत्य का उल्लेख नहीं है, जो बाद के हरिवंश और पुराणादि में मिलता है। इस महाग्रन्थ में श्रीकृष्ण का जीवन–वृत्त एक शूरवीर, कुशल राजनीतिज्ञ और द्वारका के विख्यात राजाधिराज के रूप में वर्णित है। उसमें उनकी रसमयी लीलाओं–रास क्रीड़ा आदि का कथन नहीं किया गया है। किन्तु डॉ० बसंत यामदग्नि ने महाभारत में वर्णित खाण्डव वन की नृत्यकेलि को रासक्रीड़ा के समकक्ष समझा है। वे कहते हैं–

''खाण्डव वन में यमुना तट पर स्थित विहारभूमि की उस नृत्यकेलि को श्रीकृष्ण की रास–क्रीड़ा के रूप में रखा जा सकता है, जो श्रीकृष्ण, अर्जुन एवं उनके रनिवास की सुन्दरियों के मध्य सम्पन्न हुई थी। वे सुन्दरियाँ कृष्ण एवं अर्जुन की रुचि के अनुसार कुछ वन में, कुछ जल में और कुछ निभृत निकुंजों में क्रीड़ाएँ कर रही थीं। उनकी इन केलियों में नृत्य की गति थी, वाद्यों की ध्वनि थी और उनके बीच उभरता गायन का मधुर स्वर था। वस्तुतः वह सब मिलकर एक अपूर्व क्रीड़ा–विहार का मनमोहक आनन्दोत्सव था। इसमें वे सन्दर्भ–सूत्र अवश्य ही समाहित हैं; जिनका चरम विकास पुराण साहित्य में हुआ है।[१]

'नृत्त' के मूलतः दो प्रकार हैं, जो 'ताण्डव' एवं 'लास्य' के नामों से प्रसिद्ध रहे हैं। रास नृत्य में उन दोनों का आरम्भ से ही समावेश रहा है। 'महाभारत' के परिशिष्ट 'हरिवंश' में जहाँ 'रास'

१. रासलीला और रासानुकरण विकास, पृष्ठ ३७।

का प्राचीनतम उल्लेख मिलता है, वहाँ उसके ताण्डव एवं लास्य रूपों का भी कथन किया गया है। उसमें श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था में किये गये 'कालीयमर्दन नृत्त' के और गोप-बालाओं के साथ आयोजित उनके 'रास नृत्त' के जो प्रसंग उपलब्ध हैं, उनमें से प्रथम को 'ताण्डव' का और दूसरे को 'लास्य' का प्रकार कहा जा सकता है। लास्य के एक अन्य रूप 'छालिक्य' का भी विस्तृत वर्णन हरिवंश में मिलता है; किन्तु वह गायन-प्रधान था।

'हरिवंश' में श्रीकृष्ण द्वारा आयोजित एक विचित्र नाट्य समारोह का भी अद्‌भुत कथन है। उसका आयोजन उस काल के एक अत्याचारी नरेश वज्रनाभ दैत्य का वध करने के उद्देश्य से किया गया था। 'हरिवंश' में उल्लिखित है कि श्रीकृष्ण ने नाट्यकला में कुशल कई यादव युवक-युवतियों के साथ भद्र नामक एक प्रसिद्ध नट को वज्रनाभ दैत्य की राजधानी में भेजा था। उन्होंने छद्म वेश में राजधानी में प्रवेश किया। वहाँ पर उन्होंने रामायण में वर्णित रामचरित्र, गंगावतरण और कौवेर-रंभाभिसार के रोचक अभिनय किये थे। उनमें कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न सूत्रधार और साम्ब विदूषक बने थे। गद नामक यादव ने परिपार्श्वक की भूमिका प्रस्तुत की थी। यादव श्रेष्ठ शूर ने रावण का और यादव युवती मनोवती ने रम्भा का रूप धारण किया था। उनके नाट्य-प्रदर्शन इतने सफल हुए कि उन्हें देखकर सभी दैत्य नर-नारियों सहित दैत्यराज वज्रनाभ मंत्रमुग्ध हो गये थे। तभी यादव वीरों ने वज्रनाभ का वध कर दिया और उसकी पुत्री प्रभावती का विवाह प्रद्युम्न के साथ किया गया।[१]

हरिवंश में द्वारका की पिण्डार-यात्रा के अवसर पर आयोजित एक बृहत् मनोरंजक समारोह का कथन किया गया है। उस नृत्य-नाटक-गान-वाद्य समन्वित केलि-क्रीड़ा को 'हल्लीसक' कहा गया है। इस प्रकार 'हरिवंश' में 'रास' और 'हल्लीसक' दो प्रायः समानार्थी आयोजनों का उल्लेख है। वे दोनों ही शृंगार-प्रधान नृत्य थे और

---

१. हरिवंश, विष्णुपर्व, ९१-९७।

दोनों में ही अनेक नर्तकियाँ एक नर्तक के साथ नृत्य करती थीं; किन्तु उनके स्वरूप एवं प्रदर्शन की पद्धति में अन्तर था। 'रास' का सम्बन्ध श्रीकृष्ण के बांसुरी–वादन से रहा है; किन्तु 'हल्लीसक' में उसका उल्लेख नहीं मिलता है। गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण की लीलाओं के अभिनय को लीलानुकरण की संज्ञा सर्वप्रथम 'हरिवंश' में ही है।

'हरिवंश' में श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था में किये गये जिस 'रास' का उल्लेख है, वह संक्षिप्त एवं संयत है; किन्तु उनके उत्तर जीवन में द्वारका की पिंडार–यात्रा के अवसर पर जो 'हल्लीसक' नामक नृत्य–नाट्य समारोह किया गया था, उसका कथन विस्तृत एवं असंयत है। उसमें नैतिकता एवं मर्यादा का अभाव है। इस प्रकार 'हरिवंश' का उक्त वर्णन अपने परवर्ती पुराणों के कथन से भिन्न है।

पौराणिक उल्लेख–

भारतीय वाङ्मय में पुराणों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मुख्य पुराणों की संख्या १८ है। इनके अतिरिक्त अनेक उपपुराण भी हैं। इनके नामों के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है। इनमें से अनेक पुराणों में कृष्ण–चरित्र का न्यूनाधिक वर्णन मिलता है। कई पुराणों में कृष्ण द्वारा प्रचारित नृत्य–नाट्य समन्वित रास का भी उल्लेख हुआ है। उनसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के बाल्यकाल में प्राचीन ब्रजमण्डल ने नृत्य एवं नाट्य कलाओं के विकास में पर्याप्त योग दिया था। उस काल में वहाँ पर नाट्याभिनय किये जाते थे, जिनके लिए किसी प्रकार की रंगशालाएँ भी थीं। पुराणों का कथन है, मथुरा के राजा कंस ने कृष्ण–बलराम का मनोरंजन करने के बहाने उन्हें रंगशाला में बुलाया था। वह अपने मदमत्त हाथी और प्रचण्ड मल्लों द्वारा प्रेक्षालय में ही उनका वध करवाना चाहता था; किन्तु उन अलौकिक बाल वीरों ने उसके कुटिल षड्यन्त्र को विफल कर दिया था। मथुरा का एक स्थल परम्परा से 'रंगभूमि' के नाम से प्रसिद्ध रहा है। अनुश्रुति के अनुसार वहाँ कंस की रंगशाला थी। कालान्तर में उक्त स्थल पर शिव की मूर्ति स्थापित की गयी, जो 'रंगेश्वर

महादेव' के नाम से प्रसिद्ध है।

जिन पुराणों में श्रीकृष्ण की बाल्य एवं कैशोर्य लीलाएँ और उनके नृत्य–नाट्य समन्वित रास का उल्लेख मिलता है, उनमें विष्णु, भागवत एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रमुख हैं। यहाँ पर उनके रास सम्बन्धी विवरण को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है–

विष्णु पुराण–कृष्णलीला और रास विषयक पुराणों में विष्णु पुराण सर्वाधिक प्राचीन है। इसकी रचना 'हरिवंश' के पश्चात् विक्रम की चतुर्थ–पंचम शतियों में किसी समय हुई थी। इस पुराण में श्रीकृष्ण के 'कालियदमन नृत्य' और कृष्ण–गोपियों की 'रास–गोष्ठी' का कथन किया गया है। कालियदमन नृत्य के सम्बन्ध में उल्लेख है कि–''कृष्णचन्द्र के चरणों की धमक से कालिय के प्राण मुख में आ गये थे। वह अपने जिस मस्तक को उठाता, उसी पर कूद कर भगवान कृष्ण उसे झुका देते थे। कृष्णचन्द्र के 'भ्रांति', 'रेचक' तथा 'दण्डपान' आदि तांडव करने से वह महासर्प मूर्छित हो गया और उसने बहुत–सा रुधिर वमन किया। 'कालिय–दमन नृत्य' पर शास्त्रोक्त दृष्टि से विचार किया जाय तो 'करण' और 'अंगहारों' के रूप में उसका कोई महत्व नहीं; केवल पदाघातों द्वारा 'लय' के विशेष स्वरूपों का प्रतिपादन मात्र उसमें है। भिन्न–भिन्न लयों में विशेष पदाघातों द्वारा यदि रंगमंच को झकझोरकर दर्शकों के स्नायु–जाल को भयानक रस के संचार द्वारा स्पंदित करके प्रभावित किया जा सकता है, तो सर्प के मस्तक पर पद–विन्यास से मूर्छित भी किया जा सकता है। इसमें अविश्वास का कोई कारण नहीं। वर्तमान कत्थक नृत्य में भी केवल पाद–विक्षेप, पद–विन्यास और पदाघातों का ही महत्व है।''[१]

रास गोष्ठी के सम्बन्ध में इस पुराण में कहा गया है कि शरद की निर्मल चन्द्रिका को देखकर श्रीकृष्ण की इच्छा गोपियों के साथ रास–क्रीड़ा करने की हुई। गोपियाँ आती हैं, रास का आरम्भ होता

१. रासलीला के नृत्य और संगीत (रासलीला : एक परिचय, पृष्ठ २३)।

है; तभी कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। गोपियाँ उनके विरह में वृन्दावन में विचरण करती हुईं उनकी लीलाओं का अनुकरण करती हैं। कुछ समय पश्चात् कृष्ण प्रगट हो जाते हैं। तब गोपियों के कंकणों की झंकार के साथ रास होने लगता है। कृष्ण शरद ऋतु के अनुरूप चन्द्र–ज्योत्सना और कुमुद वन विषयक गीत गाते हैं। गोपियाँ मुग्ध होकर उनकी सराहना करती हैं। श्रीकृष्ण की गति के अनुरूप ही गोपियों के ललित व्यापार होते थे। 'विष्णु पुराण' का यह सब वर्णन पूर्वोक्त 'हरिवंश' की अपेक्षा कहीं अधिक संयत और श्रीकृष्ण के दैवी रूप का परिचायक है। इसमें रास को भी श्रीकृष्ण की दिव्य–लीला बतलाया गया है। इसी पुराण से रास के उस रहस्यात्मक एवं भक्तिपरक रूप के कथन का शुभारम्भ होता है, जिसका चरम विकास श्रीमद्भागवत में हुआ है।

भागवत पुराण—पौराणिक वाङ्मय में भागवत पुराण की सर्वाधिक प्रसिद्धि है। इसके दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण–लीलाओं का विशद् वर्णन है, जिसके अन्तर्गत 'रास' का भी विस्तृत कथन हुआ है। 'विष्णु पुराण' में रास के जिस भव्य पादप को अंकुरित किया गया था, उसे 'भागवत पुराण' ने पल्लवित एवं पुष्पित किया था। इस प्रकार विष्णु पुराण का 'एकाध्यायी' रास भागवत में विकसित होकर 'पंचाध्यायी' हो गया। दशम स्कन्ध के २९ से ३३ तक के पाँच अध्यायों को 'रास–पंचाध्यायी' कहा जाता है। इन्हें भागवत के प्राण–स्वरूप माना गया है। भागवत की रचना विष्णु पुराण के पश्चात् छठी से नवमी शतियों के बीच किसी काल में हुई थी।

रासपंचाध्यायी—इसका शुभारम्भ २९वें अध्याय में हुआ है। उसमें रास का वर्णन करते हुए कहा गया है कि शरद की पूर्णिमा को जब चन्द्रमा का उदय पूर्ण प्रकाश के साथ हुआ और उसकी उज्ज्वल, निर्मल चन्द्रिका का सौरभ समस्त वनखण्डों में फैल गया, तब श्रीकृष्ण को गोप–बालाओं के साथ क्रीड़ा करने की इच्छा हुई। उन्होंने अपनी वंशी से एक मीठी तान छेड़ी, जो समस्त ब्रजक्षेत्र में

व्याप्त हो गयी। उसे सुनकर सभी गोप–बालाएँ मुग्ध हो गयीं और वे हठात् अपने–अपने घरों से निकलकर वंशी की ध्वनि की ओर बेसुध होकर दौड़ पड़ीं। जो जिस स्थिति में उस समय थीं, वे उसी स्थिति में चल दीं। गायों को दुहती हुई, बच्चों को दूध पिलाती हुई, घर–गृहस्थी का काम करती हुई, पतियों की सेवा–शुश्रूषा करती हुई वे गोप–बालाएँ अपने–अपने कामों को छोड़कर चल पड़ी थीं। उस समय वे इतनी व्यग्र और बेसुध थीं कि उन्हें अपने वस्त्राभूषणों का भी ध्यान नहीं था। वे अस्त–व्यस्त तथा उल्टे–सीधे वस्त्राभूषणों को पहिने हुए ही चल पड़ी थीं। उनके माता–पिता, बन्धु–बान्धव यहाँ तक कि पतियों ने भी उन्हें रोका; किन्तु वे किसी की ओर ध्यान न देकर उतावली में चलती हुई कृष्ण के पास पहुँच गयीं। श्रीकृष्ण ने गोपियों को देखकर कहा—''इस रात्रि के समय तुम यहाँ क्यों आयी हो? अपने घरों और पति–पुत्रों को छोड़कर इस प्रकार तुम्हारा यहाँ आना उचित नहीं हुआ। यदि तुम वन–भ्रमण के लिए आयी हो, तब तुमने यह कर लिया; अब तुम अपने–अपने घरों को लौट जाओ।'' कृष्ण के मुख से इस प्रकार की कठोर बातें सुनकर गोपियाँ उदास हो गयीं। उन्होंने कहा—''तुम हमारे हार्दिक भावों को भलीभाँति जानत हो। फिर ऐसी बातें कहकर हमें क्यों दुःखी करते हो? तुम हमारे सर्वस्व हो; हम तुम्हारे साथ क्रीड़ा करना चाहती हैं।'' गोपियों की उस अनन्य भक्ति से कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उनकी मनोभिलाषा पूर्ण करने का आयोजन किया। यमुना के पावन पुलिन पर शरद् की उस मनोरम रात्रि में रासलीला आरम्भ हुई। गान–वाद्य के साथ नृत्य हुआ और साथ–ही–साथ क्रीड़ा भी हुई। गोपियाँ आनन्दविभोर हो गयीं। उन्हें अपने सौभाग्य पर गर्व होने लगा। उसी समय कृष्ण उनके गर्व का शमन करने के लिए अकस्मात् वहाँ से अन्तर्धान हो गये।

३०वें अध्याय में कहा गया है कि रास क्रीड़ा म से श्रीकृष्ण के अकस्मात् अन्तर्धान हो जाने से गोप–बालाएँ बड़ी दुःखी हुईं। वे

व्याकुल होकर उन्हें ढूँढ़ने लगीं। उन्होंने प्रत्येक वन को छान डाला। लता–गुल्म, वृक्ष–वल्लरी, जीव–जन्तु, पशु–पक्षी सबसे पूछा लिया; किन्तु कृष्ण का पता न चला। तब वे दीनतापूर्वक विलाप करने लगीं। कृष्ण के साथ की हुई समस्त लीलाओं का स्मरण करती हुईं वे आर्तनाद कर रही थीं। उस समय वे सब कृष्णमयी हो गयी थीं। इसी अध्याय के श्लोक १३ से २३ तक में बतलाया गया है, वे गोप–बालाएँ कृष्णान्वेषण करती हुई विह्वलतापूर्ण उन्मत्तावस्था में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के अनुकरण का उपक्रम करने लगीं। अपने विरह–ताप के निवारणार्थ उनमें से एक गोपी कृष्ण बन गयी। कुछ गोपियाँ ग्वाल–बाल बन गयीं। फिर वे एक–एक कर श्रीकृष्ण की समस्त लीलाओं के अनुकरण का अभिनय करने लगीं। श्रीमद्भागवत का यह प्रसंग ही रास के लीलानुकरण का प्रमुख आधार है।

इस प्रकार 'लीलानुकरण' करते हुए उन्हें एक स्थान पर कृष्ण के चरण–चिह्न दिखलाई दिये। वहीं पर उन्होंने किसी नारी के पद–चिह्न भी देखे। उन्होंने समझा कि कृष्ण अपनी उस 'आराधिका' के साथ एकान्त में क्रीड़ा करने को कहीं चले गये हैं। भागवत में आये हुए इस 'आराधिका' शब्द से ही भक्तजनों ने 'राधा' का संकेत प्राप्त किया है। समस्त गोपियाँ उन्हीं पद–चिह्नों की दिशा में चल दीं। आगे जाकर उन्होंने उस भाग्यशालिनी कृष्णप्रिया को भी बेसुध दशा में पड़ी हुई पाया। उससे कृष्ण का पता पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे भी अभिमान हो गया था, अतः कृष्ण उसे वहीं छोड़कर कहीं चले गये थे।

३१वें अध्याय में गोपियों की उत्कट विरह–वेदना और उनके प्रलाप का वर्णन है। उन्होंने नेत्रों से अश्रुपात करते हुए अपनी व्यथा का जो मर्मस्पर्शी गायन किया है, उसे 'गोपी गीत' की संज्ञा दी गयी है।

३२वें अध्याय में भी पहले गोपियों की विरह–व्यथा का वर्णन है। फिर कहा गया है कि जब गोपियाँ कृष्ण को ढूँढ़ते–ढूँढ़ते, उनकी लीलाओं का स्मरण और अनुकरण करते–करते 'तन्मनस्का,

तदालापा, तद्विचेष्टा और तदात्मिका' होकर सबकी सब एकमात्र श्रीकृष्ण के रंग में रँग गयीं और उनके मन में गर्व या अभिमान का लेश भी नहीं रहा, तब कहीं मृदु मुस्कान करते हुए कृष्ण प्रकट हुए। उन्हें अकस्मात् अपने बीच में पाकर गोपियाँ अत्यन्त प्रसन्न हुईं। कृष्ण उन सबको लेकर यमुना–पुलिन पर गये। शरद् पूर्णिमा की शेष रात्रि में कृष्ण ने गोपियों के साथ प्रेमपूर्ण वार्ता की और उन्हें प्रेमरस में निमग्न कर दिया। इससे उनकी विरह–वेदना शान्त हो गयी।

३३वें अध्याय में कहा गया है कि यमुना–पुलिन पर पुनः गोपियों के साथ कृष्ण की रसमयी रास–क्रीड़ा आरम्भ हुई। कृष्ण गोपियों के साथ गायन–वादन के साथ नृत्य करने लगे। उस समय गोप–बालाओं को ऐसा अनुभव हुआ कि कृष्ण अनेक रूप धारण कर दो–दो गोपियों के बीच में अपने एक–एक रूप से उन्हें आनन्दित करते हुए क्रीड़ा कर रहे हैं! उस समय गोप–बालाओं के वलयों, नूपुरों और किंकिणियों के मधुर एवं उच्च स्वर से रास–स्थल गुंजायमान हो गया। भागवतकार ने कृष्ण–गोपियों के इस नृत्य–प्रसंग को 'महारास' कहा है।[१] महारास के उपरान्त उसमें होने वाले श्रम को दूर करने के लिए सबने यमुना–स्नान किया। तब उन्होंने पहले जल–क्रीड़ा की और फिर वन–विहार किया था।

इस प्रकार भागवत की यह 'रास पंचाध्यायी' १७४ श्लोकों में सम्पन्न हुई है। रास का वास्तविक वर्णन इसके आरम्भिक और अन्तिम अर्थात् २९वें और ३३वें अध्यायों में हुआ है। शेष तीन

---

१. उक्त प्रसंग से सम्बन्धित दशम स्कन्ध, ३३वें अध्याय के कुछ श्लोक इस प्रकार हैं—

तत्रारमत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुवतैः। स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धवाहुभि॥२॥
रासोत्सवः संप्रवृत्तो गोपीमंडलमंडितः। योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोः द्वयोः॥
प्रविष्टेन गृहीतानां कंठे स्वनिकटं स्त्रियः॥३॥
वलयानां नपुराणां किंकिणीनां च योषिताम्। स प्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमंडले॥६॥
उच्चैर्जगुर्वृत्यमाना रक्तकंठ्यो रतिप्रियाः। कृष्णाभिमर्शमुदिताः मद्गीतेनेदमावृतम्॥९॥
काचित्समं मुकुंदेन स्वरजातीरमिश्रिताः। उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधुसाध्विति॥
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बहवदात॥१०॥

अध्यायों में गोपियों का विरह–वर्णन, कृष्णान्वेषण और उनकी लीलाओं के अनुकरण करने का कथन है। २९वें अध्याय के वर्णन को 'रास' और ३३वें को 'महारास' कहा गया है। २९वें अध्याय के आरम्भिक वंशी–वादन प्रसंग को 'वेणु गीत' और गोपियों के विरह निवेदन को 'गोपी गीत' की संज्ञा दी गयी है। वैष्णव धर्माचार्यों ने इन पाँच अध्यायों को श्रीमद्भागवत के 'पंच प्राण' कहा है। इससे 'रास पंचाध्यायी' की अनुपम महत्ता ज्ञात होती है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण—श्रीकृष्ण की रास क्रीड़ा का कथन करने वाले पुराणों में 'ब्रह्मवैवर्त' अन्यतम है। इसमें ब्रह्म, प्रकृति, गणपति और श्रीकृष्ण–जन्म नामक चार खण्ड हैं; जिनमें अन्तिम खण्ड सबसे बड़ा और आरम्भ के तीनों खण्डों के प्रायः बराबर है। विद्वानों के मतानुसार इसका आरम्भिक अंश ९वीं शती में रचा गया था; किन्तु शेषांश, विशेष रूप से श्रीकृष्ण–जन्म खण्ड की रचना कई शताब्दियों बाद हुई होगी। इसका वर्तमान रूप राधा–कृष्णोपासना के विविध भक्ति सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव होने के पश्चात् १६वीं शती में निर्मित हुआ होगा। इस प्रकार यह पुराण जिस रूप में उपलब्ध है, वह पर्याप्त परवर्ती है। इसकी रचना शाक्त मत से प्रभावित किसी प्रदेश में सम्भवतः गौड (बंगाल) में किसी अज्ञात बंगाली विद्वान ने की होगी।

इस पुराण की यह विशेषता है कि इसमें रासेश्वरी राधाजी का नामोल्लेख प्रथम बार स्पष्ट रूप में किया गया है। इससे पहले के महाभारत एवं हरिवंश के साथ–ही–साथ किसी प्राचीन पुराण में, यहाँ तक कि कृष्ण–लीला के सर्वप्रधान ग्रन्थ 'भागवत–पुराण' में भी राधाजी का स्पष्टतया नामोल्लेख नहीं हुआ है। विष्णु एवं ब्रह्म नामक पुराणों में 'विशिष्टा सखी' और भागवत में 'आराधितः' जैसे नामों से राधाजी का संकेत मात्र किया गया है। इस पुराण में राधा–कृष्ण का विवाह भी वर्णित है; जो इसकी अन्य विशेषता है। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में राधाजी के समग्र रूप की प्रतिष्ठा करने का

श्रेय 'ब्रह्मवैवर्त' को है। इसलिए इसे 'राधापुराण' भी कहा जा सकता है। जिन भक्तजनों ने राधा–कृष्ण की माधुर्य लीलाओं के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है और जिन भक्त कवियों एवं गायकों ने उनका कथन तथा गायन किया है, वे न्यूनाधिक रूप में 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' से अवश्य प्रभावित हैं। जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' के कई प्रसंग 'ब्रह्मवैवर्त' से मिलते हुए हैं; किन्तु यह कहना कठिन है कि दोनों में से किसने किसका अनुकरण किया है।

'श्रीकृष्ण–जन्म' नामक चौथा खण्ड इस पुराण का मुख्य भाग है, जिसमें राधा–कृष्ण की लीलाओं का विस्तृत कथन किया गया है। इस खण्ड का २८वाँ अध्याय 'रास–क्रीड़ा' अध्याय है। इसमें रास का विशद् वर्णन है। हरिवंश, विष्णु और भागवतादि पुराणों में शरद ऋतु के रास का कथन है; किन्तु ब्रह्मवैवर्त की 'रास–क्रीड़ा' बसंत में सम्पन्न होने का उल्लेख मिलता है। इस रास क्रीड़ा के लिए पहले एक बृहद् रासमण्डल की स्थापना का उल्लेख किया गया है। उस मणिमय रासमण्डल के चारों ओर रत्नजटित दीवारें हैं, सुरभित पुष्पों से युक्त उद्यान एवं सरोवर हैं, उसमें मनोहर नवद्वारों का रत्न मण्डप है, जिसके शिखर चित्रित कलशों से शोभायमान हैं। उन पर पताकाएँ फहरा रही हैं।

रासमण्डल की स्थापना के पश्चात् २८वें अध्याय में रास क्रीड़ा का विस्तृत कथन है। फिर २९वें और ५४वें अध्यायों में भी इसका उल्लेख है। इसमें सुरति और सम्भोग के उन सभी उपादानों का समावेश किया गया है, जो 'कामशास्त्र' में वर्णित हैं। इस प्रकार 'ब्रह्मवैवर्त' का 'रास वर्णन' विलासिता और कामुकता से परिपूर्ण है। इससे पाठकों को भ्रम न हो, इसलिए इस पुराण में पहले ही उसे परब्रह्म कृष्ण का अपनी मूल प्रकृति के साथ दिव्य विहार बतलाया गया है। इसमें राधाजी को श्रीकृष्ण के वामांग से उद्भूत परमानंदरूपिणी और रासेश्वरी कहा है। इस प्रकार का स्पष्टीकरण होने पर भी वैष्णव धर्माचार्यों ने 'ब्रह्मवैवर्त' की अपेक्षा श्रीमद्भागवत की रास–

पंचाध्यायी को रास का उपजीव्य माना है और उसी के अनुसार अपना कथन किया है।

गर्ग संहिता—यह पुराण न होते हुए भी पौराणिक शैली का बृहद ग्रन्थ है। इसके रचयिता के रूप में गर्ग मुनि के नाम का उल्लेख है और इसे देवर्षि नारद एवं मिथिलेश बहुलाश्व के संवाद रूप में रचा गया है। इसमें श्रीकृष्ण की माधुर्यमयी एवं ऐश्वर्यपूर्ण सभी प्रकार की लीलाओं का विस्तृत कथन है। इस पर 'ब्रह्मवैवर्त' का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है; अतः इसकी रचना उक्त पुराण के अनन्तर और १६वीं शती के पश्चात् हुई होगी।

इसमें १० खण्ड हैं, जिनमें से 'गोलोक खण्ड' में गोलोक धाम का बड़ा अद्‌भुत वर्णन है। वहाँ गोवर्धन, वृन्दावन, रासमण्डल, कालिन्दी नदी, वंशीवट आदि सभी दिव्य रूप में विद्यमान हैं। इसी खण्ड में राधाजी के अवतार धारण करने का कथन है, जो 'ब्रह्मवैवर्त' के अनुसार है। उसी के अनुसार राधा–कृष्ण विवाह भी वर्णित है।

इसके 'वृन्दावन खण्ड' में रास का कथन है, किन्तु वह 'ब्रह्मवैवर्त' की भाँति विलासितापूर्ण नहीं है। इसमें कहा गया है कि कृष्ण ने अनेक रूप धारण कर सयूथा यमुना–गंगा तथा सपरिकर सखियों सहित वन बालाओं और गोवर्द्धन निवासिनी नारियों के साथ वृन्दावन के यमुना तटवर्ती उपवन में रास का आयोजन किया था। उसका शुभारम्भ वैशाख मास की शुक्ल पंचमी को हुआ।[1] फिर उसे क्रमशः वृन्दावन, तालवन, मधुवन, कामवन और कोकिलावन में किया गया था।[2]

इसके 'मथुरा खण्ड' में कृष्ण–बलराम का ब्रज से मथुरा आना, कंस का वध करना और अन्य लीलाएँ करना आदि का उल्लेख अन्य पुराणों की भाँति है; किन्तु उनसे भिन्न कृष्ण का उद्धव

---

१. वृन्दावने समारम्भे रासं रासेश्वरः स्वयम्॥
वैशाखमासि पंचम्यां जाते चन्द्रोदये शुभे।
यमुनोपवने रासेश्वर्या मनोहरः॥ वृन्दावन खण्ड, अध्याय १६, श्लोक २–३।

२. वृन्दावन खण्ड, अध्याय १६, श्लोक १ से ४१ तक।

के साथ पुनः नन्दगाँव जाने का भी कथन किया गया है। वहाँ उन्होंने सब ब्रजवासियों से मिल-भेंट कर उन्हें आनन्दित किया, राधा को सुख दिया और ब्रज-बालाओं के साथ रास किया। कुछ दिन वहाँ रहकर वे मथुरा वापस आ गये। इस प्रकार का उल्लेख किसी भी पुराणादि में नहीं मिलता है।

इसके 'द्वारका खण्ड' में वहाँ की राजकीय घटनाओं के अतिरिक्त राधा-कृष्ण के पुनः मिलन का भी उल्लेख है। उसमें कहा गया है, एक बार राधाजी अपनी सखियों सहित आनर्त्त (प्राचीन गुजरात) प्रदेश के श्रद्धाश्रम तीर्थ में सूर्य पर्व के अवसर पर स्नानार्थ गई थीं। वहाँ श्रीकृष्ण की पत्नियों ने उनसे प्रार्थना की कि वे राधा और गोपियों के साथ वैसा ही रास करें, जैसा वे ब्रज में किया करते थे। इस बार वहाँ वैशाख मास की पूर्णमासी को पूर्ण चन्द्रमा की शुभ्र ज्योत्सना में रास का आयोजन किया गया था।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि 'गर्ग संहिता' का रास अन्य ग्रन्थों में वर्णित रास से प्रशस्त और कुछ भिन्न है। यह शारदी रास न होकर वासंती रास है, जो ब्रह्मवैवर्त के सदृश और भागवतादि से भिन्न है।

ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य-

रास की पौराणिक परम्परा जहाँ हमें कृष्ण-काल अर्थात् अब से प्रायः ३५०० वर्ष से ५००० वर्ष तक के युग में ले जाती है, वहाँ इसके ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य हमें शुंग काल अर्थात् अब से प्रायः २२०० वर्ष पूर्व के युग में ही ले जाने की क्षमता रखते हैं। उस काल में भी रास की विद्यमानता की अपेक्षा उसकी पूर्वपीठिका के ही प्रमाण मिलते हैं। उस समय संगीत के तीनों अंग गान, वाद्य एवं नृत्य का व्यापक प्रचार था, जो रास के आवश्यक उपादान हैं। फिर उस युग में प्रचलित 'हल्लीसक' नृत्य को भी रास का समानार्थी माना गया है। ऐसी स्थिति में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शुंगकालीन गान-वाद्य-नृत्य की समृद्ध परम्परा ने उस पृष्ठभूमि का

निर्माण कर दिया था, जिस पर कालान्तर में रास के भव्य भवन को स्थापित किया गया था।

हमारे ग्रन्थ 'ब्रज की कलाओं का इतिहास' की भूमिका में इतिहास–पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान् श्री रमेशचन्द्र शर्मा ने लिखा है—'प्राचीन काल से और कम से कम शुंग युग से हमें ऐसे पुरातात्त्विक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे ब्रज के संगीत का भव्य चित्र हमारे सन्मुख उभरता है और यही परम्परा कालान्तर में रास के रूप में विकसित हुई। दो स्त्रियों के साथ नृत्य मुद्रा में लीन एक पुरुष को प्रदर्शित करने वाला शुंगकालीन एक मृत्तिका फलक, जो मथुरा संग्रहालय में है, सम्भवतः हल्लीसक की ओर संकेत करता है और इसी का विस्तृत रूप रास या महारास के रूप में प्रचलित हुआ।[१]

शुंगकालीन नृत्य कला का साहित्यिक उल्लेख भास कवि कृत नाटकों में मिलता है। उक्त कवि के 'बाल चरित' नाटक में श्रीकृष्ण के कालियमर्दन नृत्य का अत्यन्त ओजपूर्ण कथन किया गया है। शुंगकालीन नाट्य कला का उल्लेख वैयाकरण पतंजलि कृत 'महाभाष्य' में उपलब्ध है। पतंजलि के कथन से ज्ञात होता है कि उस काल (वि.पू. प्रथम शती) में 'कंस–वध' और 'बलि–बंध' नाटकों का प्रदर्शन किया जाता था। उनमें जो कलाकार असुर का अभिनय करते थे; वे अपने मुखों को काले रंग से रँगते थे और जो कलाकार कृष्ण, उनके साथियों तथा देवताओं का अभिनय करते थे, उनके मुख लाल रंग से रँगे जाते थे। इन उल्लेखों से सिद्ध होता है कि शुंग काल में ब्रज सम्बन्धी कथानकों के आधार पर नाटकों की रचना होती थी और उनका प्रदर्शन भी किया जाता था।

उस काल की रंग–शालाओं में नट–नटियों के साथ नर्तक–नर्तकियों की भी व्यवस्था थी। वे सब रंगमंच पर अपने कलापूर्ण नृत्यों का प्रदर्शन करते थे; जिनसे प्रेक्षकों की आनन्द–प्राप्ति में वृद्धि होती थी। उन नर्तकियों को 'रंगोपजीवना' कहा जाता था।

१. मथुरा संग्रहालय परिचय, पृष्ठ १४।

रंगशालाओं के अतिरिक्त धार्मिक एवं सार्वजनिक स्थानों में भी विविध अवसरों पर नृत्य के आयोजन होते थे। उनमें जो नृत्यांगनाएँ अपनी कला के प्रदर्शनार्थ नृत्य करती थीं, उनका चरित्र बड़ा निर्मल होता था और उन्हें समाज में सम्मानित किया जाता था।

गान–वाद्य एवं नृत्य–नाट्य की उस समृद्ध परम्परा का समर्थन तत्कालीन और उसके परवर्ती युग की ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक स्थिति से होता है। यहाँ पर उसका काल–क्रमानुसार उल्लेख किया जाता है–

शुंग काल (विक्रमपूर्व द्वितीय-प्रथम शती) की स्थिति– मथुरा एवं लखनऊ संग्रहालयों में ऐसे अनेक वास्तु–खण्ड एवं कलावशेष सुरक्षित हैं, जिन पर नृत्य–नाट्य के दृश्यों एवं नृत्यांगनाओं तथा नटियों की विभिन्न मुद्राओं के साथ–साथ रंगशालाओं की आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं। उदाहरण के लिए मथुरा संग्रहालय में शुंग काल के एक स्तम्भीय भाग (०० आई. १६) में नृत्य का दृश्य उत्कीर्ण है। उसमें किसी सम्भ्रान्त युगल के समक्ष एक महिला को नृत्य करते हुए और ढोलक, मृदंग एवं वीणा जैसे वाद्य यन्त्रों द्वारा उसकी संगति करते हुए दिखलाया गया है। उसी शिलाखण्ड पर ऐसा दृश्य है, जिसमें एक नर्तकी को नृत्य के लिए सुसज्जित किया जा रहा है। नर्तकी के दोनों हाथ ऊपर की ओर सिर पर हैं और एक पुरुष उसका कटि–परिधान ठीक कर रहा है। इसी संग्रहालय के एक वेदिका–स्तम्भ (जे. २) पर नर्तकी अथवा नटी की मूर्ति है। उसकी वेश–भूषा एवं मुद्रा से ऐसा ज्ञात होता है कि वह थिरकती हुई और पैजनियों की झंकार करती हुई शीघ्र ही रंगमंच पर जाने वाली है उसके सुडौल शरीर, पीन पयोधर, सघन केश–कलाप और वस्त्राभूषणों के अंकन से ऐसा जान पड़ता है, मानो कलाकार का अनुपम कौशल ही मूर्तिमान हो गया हो!

संग्रहालय के अध्यक्ष श्री रमेशचन्द्र शर्मा ने इस मूर्ति का परिचय देते हुए बतलाया है–'कलाकार ने इसे बड़े सधे हाथों से

बनाया है। इसका कलात्मक ढंग से बना हुआ जूड़ा, इसके विविध आभूषण, पायल पहने हुए थिरकते पाँव दर्शक के मन में सहज स्पंदन पैदा करते हैं। साड़ी पहनने पर भी पारदर्शिता के कारण उसके अवयव दिखाई देते हैं। शुंगकालीन कला का यह एक सुन्दर उदाहरण है। साथ ही इससे यह भी ज्ञात होता है कि भारतीय रंगमंच उस युग में विकसित अवस्था में था।[१]

श्री रमेशचन्द्र शर्मा ने अन्यत्र लिखा है–'ब्रज के शुंगकालीन कतिपय मृत्तिका–फलक स्त्री व पुरुषों का समवेत अंकन करते हैं। ये प्रणय या आसक्त भाव में भी दिखाई देते हैं। सबसे कुतूहलपूर्ण वह फलक है, जिसमें एक पुरुष दो स्त्रियों के साथ एड़ी उठाकर नृत्य में लीन है (३४.२४७४)।

लखनऊ संग्रहालय में मथुरा से प्राप्त जो शुंगकालीन कला–कृतियाँ हैं, उनमें से एक वास्तु खण्ड (जे. ३५४) पर नृत्य का दृश्य उत्कीर्ण है। इसमें एक नर्तकी को नृत्य करते हुए और उसके निकट बैठे हुए कलाकारों को वाद्ययन्त्र बजाते हुए दिखलाया गया है। यह कलावशेष मथुरा के जैन केन्द्र कंकाली टीला से प्राप्त हुआ है: अतः ऐसा समझा जाता है कि जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के सम्मुख नीलांजना अप्सरा के नृत्य का यह दृश्य है। इसमें कुछ व्यक्तियों को खड़े हुए और कुछ को बैठे हुए दिखलाया गया है। उनके चेहरों की भाव–भंगिमा से स्पष्ट होता है कि वे नर्तकी के नृत्य–कौशल से अभिभूत और ऋषभदेव जी की अनासक्ति से चमत्कृत हैं। इस कला–कृति से शुंगकालीन रंगमंच की एक झाँकी मिलती है। रंगमण्डप स्तम्भों पर आधारित है और उसकी छत खपरैल की है। उसके दो स्तम्भों के मध्य में अप्सरा बड़ी भावपूर्ण मुद्रा में नृत्य कर रही है। उसके दोनों ओर दो व्यक्ति प्रणव एवं मृदंग वाद्यों को बजा रहे हैं। उसके पार्श्व में एक व्यक्ति ढोलक बजा रहा है। दो अन्य व्यक्तियों के वाद्य यन्त्र स्पष्ट नहीं हैं। इस कला–कृति की गणना भारत के धार्मिक नृत्य की प्राचीनतम मूर्तियों में की जा सकती है।

---

१. मथुरा संग्रहालय परिचय, पृष्ठ १४।

शक-कुषाण काल (विक्रमपूर्व-प्रथम शती से विक्रम पश्चात् तृतीय शती तक) की स्थिति—उस काल में प्राचीन ब्रज की गान–वाद्य एवं नृत्य–नाट्य कलाओं की बड़ी उन्नति हुई थी। इसके प्रमाण उस काल के कलावशेष हैं। उस युग की एक विशेष बात यह थी कि समाज के अन्य वर्गों के साथ–साथ कलाजीवी वर्ग के नर–नारी श्रद्धा–भावना और धार्मिक रुचि सम्पन्न थे। इसका परिचय उनके द्वारा आयोजित धार्मिक समारोहों और उनके दान से निर्मित धार्मिक कला–कृतियों से मिलता है।

मथुरा संग्रहालय में शक–कुषाण काल के जो कलावशेष हैं, उसमें शककालीन एक अभिलिखित आयाग–पट (क्यू० २ है) जिस पर स्तूप की आकृति उत्कीर्ण है। उसके अभिलेख से ज्ञात होता है कि ज्येष्ठा गणिका लवण शोभिका की पुत्री कनिष्ठा गणिका वसु ने अर्हंत वर्धमान (भगवान महावीर) की स्मृति में एक देवकुल, एक सभा मण्डप और एक पयशाला के निर्माण सहित उस आयाग–पट की स्थापना की थी।[१]

मथुरा संग्रहालय में ही आरम्भिक कुषाण काल का एक अभिलिखत शिलापट (१६१०) है, जिसके लेख से ज्ञात होता है कि उसे मथुरा के शैलालक (नट–पुत्र) चांद्रक भाइयों (शैलालकानां चांद्रका) ने नागराज दधिकर्ण के मंदिर में प्रतिष्ठित किया था। मथुरा के नृत्य–नाट्यों पर शोध करने वाले अमरीकन विद्वान् डॉ० नारविन हाइन ने यहाँ की प्राचीन नृत्य–नाट्य परंपरा का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिये पूर्वोक्त अभिलेखों को बड़ा महत्वपूर्ण माना है। उन्होंने पतंजलि कृत महाभाष्य के आधार पर 'शोभिका' और 'शैलालक' दोनों शब्दों को नट का समानार्थक बतलाते हुए लवण और पुत्री वसु को तथा उक्त चांद्रक भाइयों को नृत्य–नाट्य करने वाले नट मार्ग से सम्बधित माना है। उन्होंने अपनी मान्यता का विशद् विवेचन करने के अनंतर यह बतलाया है कि चंद्रवंशीय

१. प्रभुदयाल मीतल कृत 'ब्रज की कलाओं का इतिहास' पृष्ठ १९९–२००।

वासुदेव संकर्षण (कृष्ण–बलराम) का अभिनय करने के कारण वे दोनों नट–बंधु 'चांद्रक भ्रातृ' कहलाते थे। चाद्रक उनका रंगमंचीय नाम था। वे कंस–वध नाटक में वासुदेव का अभिनय करते थे।[1]

डा० नारविन हाइन की उपर्युक्त मान्यता से मतभेद हो सकता है, किन्तु ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि शक–कुषाण काल में 'कंस वध' जैसे नाटकों द्वारा कृष्ण–चरित्र का अभिनय लोकभाषा शौरसैनी के माध्यम से जनता के समक्ष प्रदर्शित किया जाता था। उसे स्थानीय नट समुदाय की अभिनेत्रियों और अभिनेतागण प्रस्तुत करते थे। वे कला द्वारा उपार्जित द्रव्य का सदुपयोग धार्मिक कार्यों में करने से यश और पुण्य दोनों के भागी बनते थे।

कुषाण काल के नृत्य की सर्वाधिक आकर्षक मुद्राएँ वेदिका स्तंभों पर उत्कीर्ण 'शालभंजिका' संज्ञक मूर्तियों में दिखलाई देती हैं, जो मथुरा संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। उनमें से एक नृत्यांगना की मूर्ति (१५२) विशेष रूप से दर्शनीय है। एक अन्य मूर्ति (४०५) में कतिपय महिलाएँ नृत्योत्सव में संलग्न दिखलाई देती हैं। इस प्रकार की सभी मूर्तियों में नर्तकियों को पुष्पित वृक्षों के नीचे नृत्य की विभिन्न मुद्राओं में दिखलाया गया है।

कुषाणकालीन नृत्य की अनेक मूर्तियाँ लखनऊ संग्रहालय में भी हैं, जिनमें से अधिकांश मथुरा मण्डल से प्राप्त हुई हैं। उनमें से एक सुन्दर मूर्ति वेदिका स्तम्भ पर राजनर्तकी की है। उसके वस्त्राभूषणों से सौन्दर्य की वृद्धि हुई है। वह बड़े आकर्षक भाव से नृत्यरत मुद्रा में है। उसका बायाँ हाथ सिर के ऊपर उठा हुआ है और दायाँ हाथ नाभि को छू रहा है। नृत्य के वेग से उसके दोनों घुटने भूमि पर टिक गये हैं और उसकी एकावली हिल गई है। उसी संग्रहालय की दूसरी मूर्ति (बी० ९२) ऐसी नायिका की है, जो शुक द्वारा अपने प्रियतम का आगमन सुनकर हर्षोन्मत्त होकर नृत्य कर रही है। वहाँ

१. दि मिरेकिल प्लेज ऑफ मथुरा, पृष्ठ २३३ से २५९ तक का सारांश।

के एक स्तम्भ (जे० २६८) पर धार्मिक वातावरण में नृत्य का दृश्य उत्कीर्ण है। उसमें एक महिला को नृत्य करते हुए और अन्यों को ताल एवं मृदंग बजाते हुए अंकित किया गया है।

नाग-गुप्त काल (विक्रम की तृतीय शती से छठी शती तक) की स्थिति—इस काल के नृत्य–नाट्य सम्बन्धी उल्लेखनीय कलावशेष मथुरा मण्डल में न मिलकर अन्यत्र मिले हैं। इसका कारण हूणों के आक्रमण से मथुरा में उनका नष्ट होना है। ग्वालियर मण्डल के पवायाँ (प्राचीन पद्मावती) से नागकालीन नृत्य का एक सुन्दर शिलापट मिला है। उसमें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित एक नर्तकी को नृत्य करते हुए तथा उसके चारों ओर बैठी हुई आठ महिलाओं को मृदंग, मजीरा, वीणा आदि वाद्यों को बजाते हुए दिखलाया गया है। इनमें से चार महिलाएँ नर्तकी के पीछे, दो आगे और एक–एक दोनों पार्श्वों में हैं। पीछे वाली महिलाएँ मृदंग जैसे आनद्ध तथा मजीरा जैसे घन वाद्यों को बजा रही हैं। आगे वाली वादिकाओं के हाथों में वीणा एवं तारमण्डल जैसे वाद्य हैं। नर्तकी की धोती–साड़ी घुटनों तक की है, जिसे पीछे की ओर लाग लगाकर पहना गया है। धोती या साड़ी पहनने का यह ढंग ग्वालियर–बुंदेलखण्ड में अब भी प्रचलित है।

गुप्तकालीन नृत्य–नाट्य सम्बन्धी जो उल्लेखनीय उदाहरण ब्रज की अपेक्षा अन्य स्थानों में मिलते हैं, उनमें वास्तुखण्डों एवं मूर्तियों के कम और भित्ति–चित्रों के अधिक हैं। मध्यप्रदेशांतर्गत बाघ नामक स्थान के गुहा–मन्दिर में नृत्य मण्डली का एक भित्ति चित्र है। इसमें एक नर्तक के चारों ओर कई नर्तकियों को एक–दूसरे का हाथ पकड़कर नृत्य करते हुए दिखलाया गया है। वह नर्तक लम्बा कंचुक, पायजामा और ऊँची टोपी पहिने हुए बीच में है। उसके चारों ओर कई नर्तकियाँ छोटे–बड़े दण्डों को लिए हुए मण्डलबद्ध नृत्य करने में तल्लीन हैं। यह भित्ति–चित्र प्रायः छठी–सातवीं शती का है और इसे प्राचीन 'हल्लीसक' अथवा 'दण्ड रासक' नृत्य का अच्छा

उदाहरण माना जाता है। मध्य प्रदेश के उदयगिरि गुहा–मन्दिर में भी इसी काल का नृत्य सम्बन्धी भित्ति–चित्र है। इसमें एक नर्तकी को नृत्य करते हुए और उसके साथ की पाँच महिलाओं को सप्ततंत्री वीणा, वंशी, मृदंग और कांस्य ताल जैसे वाद्यों को बजाते हुए चित्रित किया गया है।

भित्ति–चित्रों के सर्वाधिक नमूने दक्षिण भारत के अजंता नामक स्थान के गुफा मन्दिरों में मिलते हैं। इनका चित्रण बाघ के चित्रों से कुछ पहले हुआ था; किन्तु वे अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में हैं। इनमें संगीत और नृत्य के अनेक दृश्य दिखलाई देते हैं। 'हल्लीसक' नृत्य अथवा 'मण्डल नृत्य' का भी यहाँ पर एक सुन्दर उदाहरण है। इसमें एक नर्तक को बीच में भाव दिखाते हुए और उसके चारों ओर कई नर्तकियों को वंशी आदि वाद्यों को बजाते हुए नृत्यरत दिखलाया गया है। सभी कलाकार विविध प्रकार के वस्त्राभूषण धारण किये हुए हैं। अजंता की गुफा सं० १७ में भी नृत्य–मण्डली का एक सुन्दर चित्र है। इसमें एक सुसज्जित नर्तकी को हस्त मुद्राओं से भाव बताते हुए और तीन नर्तकियों को कांस्य ताल तथा एक नर्तकी को मृदंग बजाते हुए नृत्यरत दिखलाया गया है।

मौखरीवर्धन एवं राजपूत काल (सं० ६०० से सं० १२६३) तक की स्थिति—उस काल में नृत्य एवं नाट्य के अनेक प्रकार प्रचलित थे। उनमें निष्णात नर्तकों–नर्तकियों एवं नटों–नटनियों के नाम, धाम और उनकी विद्यमानता के निश्चित समय से सम्बन्धित सूचना अत्यल्प संख्या में ही मिलती है। उस काल के आरम्भ में कन्नौज–नरेश हर्षवर्धन का शासन था। उनके राजकवि वाणभट्ट का नाम प्रसिद्ध है। उनके मित्रों में कुछ नर्तक एवं अभिनेता भी थे, जिनके नाम वाणभट्ट के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हर्षचरित्' में मिलते हैं। उनमें एक का नाम ताण्डविक है, जो एक नर्तक था। दूसरा नाम हरिणिका है, जो एक नर्तकी थी। तीसरा नाम शिखण्डक है, जो एक शैलालि अर्थात् नाट्याभिनेता नट था।

उस काल में 'रास' का क्या रूप था, इसका उल्लेख कृष्णोपासना वैष्णवों की अपेक्षा अन्य धर्मावलम्बियों, विशेष रूप से जैनियों की रचनाओं में मिलता है। इसका विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जावेगा।

उस काल में ब्रजमण्डल के महावन और कामवन नामक स्थानों में ऐसे मन्दिर बनाये गये थे, जिनके स्तम्भों पर तत्कालीन नृत्य के दृश्य उत्कीर्ण थे। ऐसा ही एक विष्णु मन्दिर कामवन की पहाड़ी पर था, जिसे यदुवंशी राजा फक्कु के वंशज पर्जन्यदामा ने सं० १२५० के लगभग बनवाया था। वहाँ से जो शिलालेख मिला है, उसमें मन्दिर के निर्माता और शिल्पी के नाम तथा उनके पूर्वजों की वंशावली दी हुई है। उसमें शिल्पी का नाम नागमित्र बतलाया गया है, जो महटक शिल्पी का पुत्र था। मन्दिर के सभामण्डप में अनेक कलात्मक स्तम्भ थे, जिन पर सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई थीं। उस कलापूर्ण विशाल मन्दिर को गुलाम वंश के सुलतान इल्तुतमिश ने १३वीं शताब्दी में क्षतिग्रस्त किया। तत्पश्चात् फीरोज तुगलक ने सं० १४१० में उसे पूरी तरह नष्ट करा दिया था। उसके ध्वंसावशेषों से उसी स्थान पर उसने एक मसजिद बनवाई थी। इस प्रकार एक तास्सुबी शासक द्वारा उस अनुपम कला–कृति को नष्ट कर उसका विकृत रूपान्तर किया गया। उक्त मन्दिर के ध्वंसावशेषों में अनेक कलापूर्ण स्तम्भ भी थे, जो कई शताब्दियों तक बिखरे पड़े रहे थे। कालान्तर में उन्हें जोड़–तोड़कर उनसे एक मन्दिर बनाया गया। उन खम्भों की विशेषता के कारण उसे 'चौरासी खम्भा वाला मन्दिर' कहा जाने लगा; यद्यपि उसके खम्भों की संख्या ८४ से कम है।

इस भग्न मन्दिर के ध्वस्त स्तम्भों पर कुछ नृत्यरत मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मथुरा राजकीय संग्रहालय के विद्वान् निदेशक श्री रमेशचन्द्र शर्मा ने इन मूर्तियों की विभिन्न मुद्राओं एवं भाव–भंगिमाओं से इन्हें रास नृत्य से सम्बन्धित समझा है। उन्होंने लिखा है–"जब पुरातत्व

व शिल्प का छात्र महावन के चौरासी खम्भा मन्दिर के मध्ययुगीन स्तम्भों की आत्मा को टटोलता है, तब कुछ भग्न मानवाकृतियाँ उसके सम्मुख थिरकने–सी लगती हैं! और अधिक परिश्रम करने पर उसे स्पष्ट होगा कि इनमें से एक पुरुष दूसरी स्त्री आकृतियों की पुनरावृत्ति है। उनकी गति और ओज भी सराहनीय है। काश कि स्तम्भों पर उत्कीर्ण यह रासमण्डली सुरक्षित होती और रास के विकास का हमें यथार्थ संदेश सुना पाती।''१

मथुरा के राजकीय संग्रहालय में भी उस काल के कतिपय स्तम्भ तथा द्वार–शाखायें हैं, जिन पर नृत्य एवं नाट्य की विभिन्न मुद्राओं की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उनसे सिद्ध होता है कि तत्कालीन ब्रजमण्डल में नृत्य एवं नाट्य कलाएँ विकसित रूप में विद्यमान थीं।

अवैदिक धर्मों का योग—यद्यपि रास के प्रचार–प्रसार का श्रेय वैदिक धर्म–सम्प्रदायों के अनुयायियों को; विशेष रूप से प्राचीन ब्रजमण्डल स्थित सात्त्वत–पंचरात्र एवं भागवत धर्म के अनुगामी कृष्णोपासक यादवों तथा गोपों को है; तथापि कुछ अवैदिक धर्मावलम्बियों ने भी इसमें पर्याप्त योग दिया था। अवैदिक धर्मों में बौद्ध एवं जैन धर्म प्रमुख हैं, जो श्रमण संस्कृति एवं ज्ञान–वैराग्यमयी निवृत्ति प्रधान साधना के प्रचारक हैं। एक समय ऐसा आया था, जब ब्रज मण्डल सहित समस्त भारत में वैदिक धर्म–सम्प्रदायों की अपेक्षा अवैदिक परम्परा के बौद्ध–जैन धर्मों का अधिक प्रभाव हो गया था। उसके कारण कृष्णोपासक धर्म सम्प्रदायों के साथ–साथ कृष्ण–रास के प्रचार–प्रसार में भी शिथिलता आ गई थी। तब बौद्ध–जैन धर्मावलम्बियों ने धर्म प्रचार के शक्तिशाली साधन के रूप में रास को अपनाने का उपक्रम किया था।

किन्तु बौद्ध एवं जैन धर्मों की वैराग्य एवं निवृत्ति प्रधान साधना के कारण उनके अनुयायियों के लिए नृत्य एवं नाट्य जैसी

१. 'ब्रज में नृत्य और रासः पुरातात्विक साक्ष्य' लेख (हित सौरभ, वर्ष ५, अंक ३, पृष्ठ ३८)।

ललित कलाओं में रुचि लेने का निषेध था। फलतः उन्हें रास को अपनाने में कठिनाई जान पड़ती थी। उस काल में बौद्ध भिक्षुओं और जैन साधुओं के लिए रास जैसे सरस आयोजनों में सम्मिलित होने पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। फिर भी उनके अनुपम आकर्षण के कारण बौद्ध–जैन धर्मों के विरक्त जन जब–तब उन्हें देखने चले जाते थे; किन्तु उसके लिए उन्हें दण्डित होना पड़ता था।

बौद्ध–जैन धर्मों का वह दृष्टिकोण स्थायी नहीं रहा था। कालान्तर में युग की आवश्यकता के अनुसार उन्हें अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया था। उसका कारण रास का लोकरंजक प्रभाव था। तब धर्म–प्रचार के शक्तिशाली साधन के रूप में उन्होंने रास को अपना लिया था और अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार उसे विकसित किया था। तब प्रमुख बोधिसत्वों और जैन–तीर्थंकरों की गौरव गाथाओं के नाट्य–रासक लिखे जाने लगे और उन्हें रंगमंच पर प्रदर्शित करने की समुचित व्यवस्था की गई। बौद्ध–जैन धर्मों के गृहस्थ अनुयायी पहले से ही इस प्रकार के समारोहों में सम्मिलित होते थे; किन्तु उस परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण विरक्त भिक्षु एवं साधु भी उसमें योग देने लगे थे।

फलतः बौद्ध–जैन धार्मिक स्थलों में ऐसे नृत्य–नाट्य समन्वित एवं रास सदृश समारोहों का आयोजन होने लगा, जो बौद्ध जातकों तथा जैन आचार्यों की कथाओं पर आधारित थे और जिनमें बोधिसत्त्वों और जैन तीर्थंकरों के पावन चरित्रों का प्रदर्शन किया जाता था। वे समारोह उक्त धर्मों की मान्यताओं के अनुसार विरक्ति प्रधान और आदर्शपूर्ण होते थे। उसका यह परिणाम हुआ कि कृष्ण–रास की अपेक्षा बौद्ध–रास और जैन–रास का तब अधिक प्रचलन हो गया था।

यहाँ पर बौद्ध एवं जैन धर्मों के रस–ग्रन्थों और उन पर आधारित कुछ प्रमुख समारोहों का उल्लेख किया जाता है—

बौद्ध रास—जैसा पहले लिखा जा चुका है कि बौद्ध धर्म की ज्ञान–वैराग्य–मूलक तथा निवृत्ति–प्रधान साधना के कारण उसके अनुयायियों को रास के परम्परागत नृत्य–परक रूप को स्वीकार करने में कठिनाई होती थी। अतएव उक्त धर्म के कलानुरागी भिक्षुओं ने पहले रास के पाठ्य तथा संगीत–नाट्य रूप के प्रचार–प्रसार में योग दिया था। तब बौद्ध–विहारों एवं मठों में जीमूतवाहन प्रभृति बोधिसत्त्वों के पुनीत जीवन–वृत्तों का पठन–पाठन और उनकी जीवन–गाथा के गायन एवं अभिनय के कार्यक्रम किये जाने लगे। इनका उल्लेख छठी शती में भारत आने वाले चीनी यात्री इत्सिंग ने किया है। वह स्थिति कन्नौज के यशस्वी सम्राट हर्षवर्धन के शासन–काल (सं० ६६३–सं० ७०४) में थी और उसके कुछ बाद तक रही थी। इसकी पुष्टि 'रिपुदारण–रास' की कथा–वस्तु से होती है। उसके अनुसार तब बोधिसत्त्वों की जीवन–गाथा पर आधारित प्रवचन, गायन एवं अभिनय की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी।

कन्नौज नरेश हर्षवर्धन एक महान् सम्राट होने के साथ–साथ विद्वान्, धर्मनिष्ठ और उच्चकोटि के कवि एवं नाटककार थे। आरम्भ में वे हिन्दू धर्म के अनुयायी और सूर्य एवं शिव के उपासक थे; किन्तु बाद में वे बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के प्रति अत्यधिक श्रद्धावान हो गये थे। अपनी उस श्रद्धा–भावना को चरितार्थ करने के लिए उन्होंने 'नागानंद' नामक एक नाटक की रचना की थी, जिसका कथानक बोधिसत्त्व जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग पर आधारित है। सम्राट हर्षवर्धन उक्त नाटक को जनता में प्रचारित करने के लिए बड़े उत्सुक थे। वे चाहते थे कि उसके द्वारा बौद्ध धर्म के आदर्श को व्यापक समर्थन प्राप्त हो सके। उसके लिए उन्होंने नृत्य–नाट्य कलाओं में कुशल कतिपय कलाकारों द्वारा 'नागानंद' का रंगमंचीय प्रदर्शन कराया था, जो बड़ा लोकप्रिय सिद्ध हुआ था। कन्नौज साम्राज्य का तत्कालीन ब्रजमण्डल से घनिष्ठ सम्बन्ध था और वहाँ के कृष्ण–रास की प्रसिद्धि को देखते हुए यह भली–भाँति समझा जा

सकता है कि 'नागानंद' का वह नृत्य–नाट्य ब्रज के कृष्ण रास के अनुकरण पर किया गया होगा।

सम्राट हर्षवर्धन के पश्चात् की स्थिति—हर्ष के साम्राज्य का अन्त होने पर भारत में राजपूत राजाओं के छोटे–बड़े राज्य स्थापित हो गये थे। वे राजागण वैदिक परम्परा के अनुयायी थे; अतः उनके द्वारा बौद्ध एवं जैन जैसे अवैदिक धर्मों को प्रोत्साहन नहीं मिला था। तभी वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक महामनीषी कुमारिल भट्टाचार्य और शंकराचार्य का उदय हुआ था। उनके अभियानों ने बौद्ध धर्म को तो एक प्रकार से भारत से निष्कासित ही कर दिया और जैन धर्म की स्थिति भी दुर्बल कर दी थी। किन्तु जैन धर्म ने कठोर अनुशासन से अपनी स्थिति को किसी प्रकार कायम रखा था। उस समय जैन मुनियों ने जिन जनोपयोगी और लोकरंजक साधनों को अपनाया, उसमें कृष्ण–रास के अनुकरण पर जैन–रास का प्रचलन प्रमुख था। यहाँ पर उनका विस्तृत विवरण दिया जाता है।

जैन रास—जैन मुनियों द्वारा रचित जैन रास के ग्रन्थों और उन पर आधारित आयोजनों का व्यवस्थित विवरण विक्रम की १२वीं शती से मिलता है, किन्तु जैन–रास की भावना का कथन जैन–साहित्य में बहुत पहले ही हो गया था। इसके समर्थन में 'रास पसेणीय सुत्त' उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त जैनाचार्य पुष्पदंत (सं० ९५९–९७२) कृत 'महापुराण' में प्रासंगिक रूप से वासुदेव कृष्ण की कुछ लीलाओं का कथन भी मिलता है। उन लीलाओं से जैन मान्यता के अनुसार रास की भावना का संकेत भी प्राप्त होता है। यहाँ पर उनका यथोचित् विवरण दिया जाता है।

'रास पसेणीय सुत्त' का नृत्य-नाट्य समारोह—इसका रोचक वर्णन डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने एक लेख में किया है। उन्होंने लिखा है, जब भगवान् महावीर धर्मोपदेश करते हुए 'आमलकप्पा' नगरी में पहुँचे, तब उनका अभिनन्दन करने के लिए

सूर्याभिदेव ने वहाँ के अंबसाल वन में गान–वाद्य युक्त एक नृत्य–नाट्य का आयोजन किया था। उसमें रंगमंच की पूर्वविधि के रूप में जिन अनेक नृत्यों का प्रदर्शन हुआ, उनका वर्णन पढ़ने से ऐसा लगता है, मानो हम प्राचीन भारत के किसी प्रेक्षागृह में जा बैठे हों, 'जहाँ नाट्य रूपी चाक्षुष–यज्ञ का विस्तार हो रहा हो और जिसमें कला के अनेक चिह्नों को नृत्य के रूप में उतारा जा रहा हो।' उन्होंने आगे लिखा है–'जिस समय वेदिका और तोरणों से सुसज्जित एक महान स्तूप की रचना हो चुकी और उसका दिव्य मंगल आरम्भ हुआ, उस समय सूर्याभिदेव की आज्ञा से एक सौ साठ देवकुमारों और देव–कुमारियों के अभिनेतृ–दल ने बत्तीस प्रकार की नाट्य विधि (बत्तिसइ बद्ध णटविहि) का प्रदर्शन करने के लिए रंगभूमि में प्रवेश किया। इस नाट्य–विधि के अंतिम बत्तीसवें कार्यक्रम में तीर्थंकर सदृश महापुरुषों के जीवन–चरित्र का अभिनय किया जाता था। शेष आरम्भ की इकत्तीस प्रविभक्तियों में प्राचीन भारतीय नृत्य का ही उदात्त प्रदर्शन सम्मिलित था। यह द्वात्रिंशिक नाट्य–विधि कला की पराकाष्ठा सूचित करती है। इसमें कला के अभिप्रायों को नृत्य नाट्य द्वारा प्रदर्शित करने की मनोहर कल्पना पाई जाती है।'.....'अवश्य ही सुन्दर कलात्मक अभिप्रायों के अभिनय से उज्जीवित इस नृत्य–नाट्य में धार्मिक भेदों के लिए अवकाश न था। महावीर के जीवन चरित्र का अभिनय हो या राम और कृष्ण के चरित्र हों या बुद्ध का दिव्य चरित्र हो, वह तो नाटक की अंतिम कड़ी थी। प्रत्येक महापुरुष का चरित्र एक ही अलौकिक सर्वत्र व्यापक महान सृष्टि–सत्य और चैतन्य तत्त्व की व्याख्या करता है। चरित् के अन्तर्गत नीति और धर्म के अनेक गुण प्रकट होते हैं। उनका प्रदर्शन मानव मात्र के हृदय को प्रेरणा देने वाला होता है। अतएव द्वात्रिंशिक नाट्य–विधि को सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतीय रंगमंच की सार्वजनिक विधि कह सकते हैं। इसके अभिनेताओं में स्त्री–पुरुष समान रूप से भाग लेते थे। उनकी

१०८ संख्या से ही उसका बृहत् रूप और सम्भार सूचित होता है।'[१]

पुष्पदंत कृत 'महापुराण' का उल्लेख—अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत का मूलनिवास कहाँ था, इसका उल्लेख उनकी रचनाओं में नहीं मिलता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार वे ब्रज या यौधेय (दिल्ली) के निवासी थे। उन्हें उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में सम्मान प्राप्त हुआ था। वे वहाँ के राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के महामात्य भरत के आश्रित कवि थे। उनके द्वारा रचित तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनमें महापुराण (तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार) प्रमुख हैं। यह एक विशाल महाकाव्य है, जो 'आदिपुराण' और 'उत्तर पुराण' नामक दो खण्डों में विभाजित है। आदिपुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव जी का चरित्र वर्णित है और उत्तर पुराण में शेष २३ तीर्थंकरों के चरित्रों का कथन किया गया है। इसी खण्ड में २२वें तीर्थंकर नेमिनाथजी के साथ उनके भाई वासुदेव कृष्ण की लीलाओं का भी वर्णन है। इन लीलाओं में गोपी–कृष्ण–क्रीड़ा रस की भावना के अनुकूल है। उसमें गोपियों की उत्सुकता, प्रेम–विह्वलता और शृंगारिक चेष्टाओं का प्रायः वैसा ही कथन है, जैसा कृष्ण रास सम्बन्धी भागवतादि ग्रन्थों में है। कृष्ण से मिलने की आतुरता में गोपियाँ अपने आधे बिलोए दही को छोड़कर भागीं। उस हड़बड़ी में एक गोपी की मथानी टूट गई। वह कृष्ण से कहती है, तुम्हारे कारण ही मेरी मथानी टूटी है; अतः तुम उसका मूल्य मुझे आलिंगन देकर चुकाओ—

कावि गोवि गोविंदहु लग्गी। एण महारी मंथाणी भग्गी॥
एयहि मोल्लु देउ आलिंगरासु। णं तो मा मेल्लहु मे प्रंगणु॥

—उत्तरपुराण, पृष्ठ ६४

पुष्पदंत का यह वर्णन कृष्ण के रास–विलास का कथन

---

१. 'भारतीय नाट्य साहित्य' में प्रकाशित डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के लेख का कुछ अंश।

करने वाले संस्कृत कवि जयदेव से प्रायः दो शताब्दी पूर्व का है। पुष्पदंत के पश्चात् जैन कवियों ने रास सम्बन्धी रचनाओं को विपुल संख्या में रचा था। उनका काल–क्रमानुसार उल्लेख यहाँ किया जाता है।

जैन रास सम्बन्धी रचनाएँ—गुजरात, राजस्थान तथा अन्य राज्यों के जैन ग्रन्थ भण्डारों में जैन रास की बहुसंख्यक रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। उन्हें अधिकतर तत्कालीन लोकभाषा अपभ्रंश अथवा उससे विकसित जूनी गुजराती अथवा पुरानी हिन्दी या मिश्रित राजस्थानी भांषाओं में रचा गया है। इसके कथानक जैन तीर्थंकरों, जैन मुनियों तथा श्रावक गृहस्थों अथवा दानवीर श्रेष्ठियों के उपाख्यानों पर आधारित हैं। ये रचनाएँ अधिकतर १३वीं शती के आरम्भ से लेकर १४वीं शती के अन्त तक की हैं। अनुसन्धान से ज्ञात हुआ कि जैन रास का सर्वप्रथम संकेत देवगुणाचार्य विरचित 'नवतत्त्व प्रकरण' के भाष्यकार अभयदेव सूरि द्वारा सं० ११२८ में रचे हुए ग्रन्थ में मिलता है।[१]

जैन रास की रचनाओं में रास को 'रासा' या 'रासो' भी कहा गया है और उनका प्रयोग प्रायः समान अर्थ में हुआ है। कुछ विद्वानों का मत है कि 'रासा' एवं 'रासो' शब्द उद्धत भाव के द्योतक हैं और इन नामों की रचनाओं में वीर रस पूर्ण युद्धादि का वर्णन हुआ है; जबकि 'रास' शब्द कोमल भावना का सूचक है और उस नाम की रचनाएँ भक्ति तथा शृंगार–रस से सम्बन्धित हैं। किन्तु इस परम्परा की रचनाओं का अध्ययन करने से उक्त मत निराधार ज्ञात होता है, क्योंकि न तो रासा एवं रासो नामक सभी रचनाएँ केवल वीर रस की हैं और न रास संज्ञक समस्त रचनाएँ केवल भक्ति या शृंगार रस से ही सम्बन्धित हैं। उन सबका प्रचार गुजरात, राजस्थान और ब्रजमण्डल के जैनियों में था।

जैन रास की कुछ प्रमुख रचनाओं का उल्लेख उनके

१. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य (डॉ० शिवप्रसाद सिंह), पृष्ठ ३६५।

रचयिताओं एवं रचना–काल के साथ यहाँ किया जाता है–

१. वजसेन सूरि द्वारा सं० १२२५ में रचित 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर रास' में सर्वप्रथम 'रास' का स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है। २. शालिभद्र सूरि कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' (सं० १२४१)। इन दोनों रचनाओं में आदि तीर्थंकर ऋषभदेवजी के दो पुत्र भरतेश्वर और बाहुबलि द्वारा राजसत्ता के लिए संघर्ष करने और फिर बाहुबलि जी के वैराग्य लेने की कथा है। ये रचनाएँ वीर रस की हैं, जिनका पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। इनका कथानक अपभ्रंश के 'त्रिंसट्ठि महाकाव्य' में वर्णित भरतेश्वर एवं बाहुबली के आख्यानों पर आधारित है। ३. 'बुद्धिरास' (सं० १२४१) के रचयिता भी पूर्वोक्त शालिभद्र सूरि हैं। इसका विषय जैन धर्म का उपदेश है। 'जीवदया रास' (सं० १२५७) और ५. चन्दन बाला रास (सं० १२५७ के लगभग) इन दोनों के रचयिता आसगु हैं। इनमें से प्रथम में जीवदया का धर्मोपदेश है और द्वितीय में चन्दन बाबा की धार्मिक कथा वर्णित है। ६. धर्मसूरि कृत 'जम्बू स्वामी रास' (सं० १२६६) इसमें अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी के वैराग्य का कथन है। ७. विजयसेन सूरि कृत 'रेवन्तगिरि रास' (सं० १२८८) इसमें गिरिनार स्थित जैन मन्दिरों के जीर्णोद्धार की कथा वर्णित है। ८. पाल्हड़ कृत 'नेमि जिणंद रासो' (सं० १२८९) इसका दूसरा नाम आबू रास भी है। इसमें बाइसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथजी का चरित्र और उनके द्वारा आबू पर्वत पर तपस्या करने की कथा वर्णित है।[1] ९. देल्हणि कृत 'गय सुकुमाल रास' (सं० १३००), इसमें देवकी–पुत्र गज सुकुमार की कथा है। वसुदेव–पत्नी वासुदेव–कृष्ण के समान रूप गुण वाले एक और पुत्र की कामना करती है। फलतः गज सुकुमार के जन्म से उसकी अभिलाषा पूर्ण होती है। इसके

१. हिन्दी साहित्य कोष में लिखित डॉ० माताप्रसाद गुप्त की टिप्पणी, जिसको डॉ० श्याम परमार ने अपने 'रासलीला' नामक लेख में उद्धृत किया है। (श्री बनारसीदास चतुर्वेदी अभिनंदन ग्रन्थ, पृष्ठ ३५६)

सम्बन्ध में डॉ० दशरथ ओझा का मत है कि यह पुरानी हिन्दी में रचा हुआ प्रथम नाटक है।[1] इसकी पुष्पिका में इसका माहात्म्य बतलाते हुए कहा गया है–

एहु रासु सुहडेयह जाई। रक्खउ सयलु संघु अंबाई।
एहु रासु जो देसी गुणिसी। से सासय सिव सुक्खहि लहिषी॥[2]

१०. मण्डलीक कृत 'पेथड़ रास' (सं० १३६०), इसमें संघपति पेथड़ का चरित्र वर्णित है। ११. अम्बदेव सूरि कृत 'समरा रासु' (सं० १३७१) इसमें संघपति समरा की कथा है। इसका आयोजन समस्त संघ सहित समरा के समक्ष जैन मन्दिर में किया गया था।

इससे यह भी सूचित होता है कि इसमें 'लकुट रास' का प्रदर्शन किया गया था। डॉ० बसन्त यामदग्नि ने 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह' (पृष्ठ ३६) के आधार पर लिखा है कि 'लकुट रास' के सामूहिक आयोजन देवालयों के अतिरिक्त प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में जलाशय के समीप भी होते थे।[3]

उपर्युक्त सभी रचनाएँ उपदेशात्मक हैं और जैन धर्म की मान्यताओं से परिपूर्ण हैं। इन्हें विषय की दृष्टि से दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। एक श्रेणी की रचनाएँ 'नृत्य–गीत परक' हैं, जिनका विकास नृत्य और नाट्य के क्षेत्रों में हुआ था। दूसरी श्रेणी की कृतियाँ छंदपरक हैं, जो साहित्य के क्षेत्र में विकसित हुई थीं। दोनों प्रकार की रचनाएँ जैन मान्यताओं से मण्डित हैं। इनमें से अधिकांश शान्त रस की हैं। इन रचनाओं के कथानक के कलात्मक प्रदर्शन एवं प्रवचन द्वारा जैन धर्मावलम्बियों की धार्मिक भावना को संपुष्ट किया जाता था। उनके प्रदर्शनों में ताल, लय, स्वर एवं अभिनय की विशेषता होती थी। उक्त रचनाओं में से कुछ के द्वारा

---

१. भारतीय नाट्य साहित्य, पृष्ठ २५६।
२. राजस्थान भारती (जुलाई सन् १९५१)।
३. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २८।

गान–वाद्ययुक्त नृत्य होता था, कुछ के कथानकों का नाट्यात्मक प्रदर्शन किया जाता था और कुछ के द्वारा दोनों के सम्मिलित रूप का आयोजन होता था।

१२वीं शती से लेकर १४वीं शती के पूर्वार्द्ध तक की अनेक रचनाओं से ज्ञात होता है कि उस काल के जैन मन्दिरों में ताल एवं लकुट नामक रास–नृत्य प्रचुरता से प्रचलित थे। जैन श्राविकाएँ एवं श्रावकगण रात्रि में तालियाँ या लकुटों (छोटे डंडों) को बजाते हुए नृत्य किया करते थे। उसी काल में रचित कुछ रचनाओं के कथानकों द्वारा जैन तीर्थंकरों के पावन चरित्रों का नृत्य–गान सहित अभिनय किया जाता था। उससे श्रावक–श्राविकाओं और जैन धर्म में आस्था रखने वाले श्रद्धालु दर्शकों में धार्मिक भावना की पुष्टि होती थी। इसके प्रमाणार्थ 'रेवन्तगिरि रास' का नाम उल्लेखनीय है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, उक्त ग्रन्थ की रचना विजयसेन सूरि ने सं० १२८८ वि० में की थी। इसकी पुष्पिका में लिखा गया है–'श्री विजयसेन सूरि कृत इस रास का जो उत्साहपूर्वक अभिनय करेगा, उस पर जिन नेमिनाथजी प्रसन्न होंगे और देवी अम्बिका उसकी इच्छाओं को पूर्ण करेंगी–

रंगहि एरमइ जो रासु, सिरि विजयसेन सूरि निम्मविउए।
नेमि जिणु तूसइ तासु, अम्बिक पूरइ मणि रलीए॥

जैन रास की उन रचनाओं के प्रेरणा–स्रोत शृंगार एवं वीर रस प्रधान वे नृत्य–गीत–नाट्य परक प्रदर्शन तथा छन्दबद्ध ग्रन्थ थे, जिन्हें तत्कालीन लोककवियों ने सामान्य जनता के मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किया था। उनका उपयोग अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित जन समाज के लिए किया जाता था। बाद में जैन मुनियों एवं जैन रचनाकारों ने उन्हें धर्म–प्रचार का उपयोगी तथा शक्तिशाली साधन समझकर अपना लिया था। उन्होंने उनकी विषय–वस्तु को जैन धर्म की मान्यताओं में परिवर्तित कर तदनुकूल रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। वे या तो पूर्णतया शान्त रस की होती थीं अथवा शृंगार एवं वीर रस

की होने पर भी उनका पर्यवसान शान्त रस में होता था। उनका उद्देश्य बालक, स्त्री, मूढ़ और अज्ञ वर्ग की जनता को चारित्र्य की शिक्षा देना था, जैसा कि 'धर्मबिन्दु वृत्ति' नामक ग्रन्थ में बतलाया गया है।[१]

कालान्तर में रास के नाम पर कुछ ऐसी रचनाओं द्वारा नृत्य एवं नाट्य के कार्यक्रम किये जाने लगे, जो जैन धर्म की विरक्ति–भावना के अनुकूल नहीं थे। इसलिए जैन मुनियों ने उस प्रकार के आयोजनों पर रोक लगा दी थी। फलतः जैन मन्दिरों में रास के नृत्य एवं नाट्य रूपों का क्रमशः ह्रास होता गया; जिससे उनमें रोचकता की कमी आ गयी थी। उस काल में रास सम्बन्धी रचनाओं का अधिकतर गायन एवं वाचन मात्र ही होने लगा था। यदि कभी नृत्य एवं अभिनय के कार्यक्रम किये जाते थे; तब वे जैन तीर्थंकरों के चरित्रों पर आधारित होते थे और उन्हें मन्दिरों में अथवा अन्य धार्मिक स्थलों में अत्यन्त संयत विधि से सम्पन्न किया जाता था।

जैन रास के नृत्य–नाट्यपरक आयोजनों पर प्रतिबन्ध लगाये जाने से अभिनय एवं दृश्य रचनाओं के प्रस्तुतीकरण में भी शिथिलता आ गई थी, किन्तु गायन एवं पठन–पाठन की गेय, श्रव्य एवं पाठ्य रचनाएँ निरन्तर लिखी जाती रही थीं। इस प्रकार की रचनाओं की दीर्घकालीन परम्परा रही है। १३वीं शती के मध्य काल में रची हुई पूर्वोक्त 'बुद्धि रास' और 'जीव दया रास' इसी तरह की कृतियाँ थीं। उनमें कथावस्तु नहीं है, केवल धर्मोपदेश है। अतएव उनकी अभिनेयता भी संदिग्ध है। वस्तुतः वे अभिनेय होने की अपेक्षा गेय एवं श्रव्य अधिक हैं। जिनदत्त सूरि कृत 'उपदेश रसायन रास' भी इसी कोटि की रचना है। उन्होंने स्वयं अपनी इस कृति को श्रव्य काव्य की संज्ञा दी है। वे इसकी पुष्पिका में कहते हैं, जो धार्मिक जन अपनी कर्ण–अंजलि से इस रास का रस–पान करेंगे, वे अजर–अमर हो जावेंगे—

कण्णंजलिहि पियतिजि भव्वइं। ते ध्वंति अजरामर सव्वइं॥

---

१. नाट्य समीक्षा, पृष्ठ ३६।

जैन रास की गेय परम्परा के ग्रन्थ कई शताब्दियों बाद तक लिखे जाते रहे थे। 'उनके रचयिता कविगण अभिनेयता के बन्धन से मुक्त होकर उन्हें काव्यात्मक आधार पर प्रस्तुत करते थे। इससे उनका आकार बढ़ा और उनमें काव्यत्व भी उभरा। इस प्रकार के ग्रन्थों में 'कच्छुलि रास' और 'सप्त क्षेत्रि रास' उल्लेखनीय हैं। 'सप्तक्षेत्रि रास' तो रास की गेय परम्परा का गौरव ग्रन्थ है। श्री रामनारायण अग्रवाल के मतानुसार 'जैन धर्म' ही एक ऐसा धर्म है, जिसने रासों की गेय परम्परा को अपना अनिवार्य अंग स्वीकार किया है। इनका गायन आज तक जैन मन्दिरों में किया जाता है।[१]

जैन रास का रूप विधान—कृष्ण–रास सम्बन्धी नृत्य एवं नाट्य प्रकारों के रूप विधान का समुचित विवरण अनुपलब्ध होने के कारण तद्विषयक हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। किन्तु जैन रास के रूप विधान का उल्लेख तत्कालीन ग्रन्थों में होने से हम उससे परिचित हो जाते हैं। जिस 'नाट्यरासक' के नाट्य रूप का पहले उल्लेख किया गया है, डॉ० माताप्रसाद गुप्त के मतानुसार वही जैनियों द्वारा 'नाटकीय संकेतों' और उसके कुछ अन्य तत्त्वों से विरहित होकर गीत–नृत्य परक 'रास' परम्परा में ढाल दिया गया था। उस परम्परा की अनेक रचनाओं में उनके गाये जाने और नृत्य समन्वित होने का उल्लेख मिलता है।[२] आरम्भ में उन रचनाओं का उपयोग गायन एवं नर्त्तन के लिए किया जाता था। बाद में उनके द्वारा अभिनय भी किया जाने लगा। उनके वे सभी कार्यक्रम जैन मन्दिरों में किये जाते थे। जैन कलाकार नृत्य–गान एवं अभिनय करते थे, जैन विद्वानों द्वारा प्रवचन किया जाता था और जैन श्रावक–श्राविकाओं में उनका पठन–पाठन होता था। उन सब आयोजनों का उद्देश्य जैन धर्मावलम्बियों में धार्मिक भावना का सम्बर्द्धन और उसका उन्नयन करना था।[३]

---

१. ब्रज का रास–रंगमंच, पृष्ठ ६९–७०।

२. प्रभुदयाल मीतल कृत 'ब्रज की कलाओं का इतिहास' पृष्ठ ३०८।

३. हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड (भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग) पृष्ठ १००।

जैन रास के विषय और तत्सम्बन्धी रचनाओं द्वारा नृत्य–नाट्य करने का उद्देश्य बतलाते हुए जिनदत्त सूरि (सं० ११३२–सं० १२११) ने अपने प्राकृत ग्रन्थ 'उपदेश रसायन–रास' में लिखा है, 'धार्मिक नाटकों में भरत और सगर जैसे मनीषियों के चरित्रों का नर्त्तन होना चाहिए; क्योंकि उससे अन्ततः दर्शकों में प्रव्रज्या लेने की आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है–

धम्मिय नाहुय परं नचिज्जहि। भरत सगर निक्खमण कहिज्जहि।
चक्कबहि बल शयह चरियइं। नच्चिवि अति हुंति पव्वइयइं॥

रास परम्परा की जैनेतर रचनाएँ–

जिस काल में जैन रास, रासो एवं रासक ग्रन्थों की रचना प्रचुर परिमाण में की जा रही थी, उसी युग में जैनेतर रचनाएँ भी लिखी गई थीं। ऐसी कृतियों में एक 'संदेश रासक' है। उसे मुलतान निवासी अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) नामक एक मुसलमान जुलाहे ने विक्रम की १३वीं शती के आरम्भिक काल में उस समय रचा था, जब मुहम्मद गोरी का भारत पर आक्रमण नहीं हुआ था। इस प्रकार इस देश में मुसलमानी शासन की सत्ता जमने से पहले ही 'संदेश राचक' की रचना हो गई थी। इसकी भाषा अपभ्रंश तथा राजस्थानी मिश्रित पुरानी हिन्दी है, जो 'पृथ्वीराज रासो' के मूलभाग की भाषा से प्रायः मिलती हुई है। इसमें एक विरहिणी नायिका द्वारा किसी पथिक को अपनी विरह–व्यथा बतलाते हुए उसके माध्यम से अपने परदेशी प्रियतम के पास संदेश भेजने की कथा है। इस काव्य–कृति के कथोपकथन में नाटकीय तत्वों का समावेश है।

रास परम्परा की दूसरी जैनेतर रचना नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' है। इसका रचनाकाल सं० १२१२ वि० है। मूल रूप में यह मौखिक परम्परा की काव्य–कृति है। इसे कवि ने गाकर सुनाने के उद्देश्य से रचा था। इसकी फलश्रुति में वह कहता है, इस रास के सुनने से गंगास्नान का फल प्राप्त होगा–

गायो हो रास सुनै सब कोइ। साँभल्याँ रास गंगा–फल होइ॥१०॥

बीसलदेव रास लोक जीवन से सम्बन्धित शृंगार रस का काव्य है। इसमें भी एक विरहिणी नायिका की वियोग–व्यथा का मार्मिक कथन है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का मत है–'स्वस्थ गार्हस्थ जीवन की इतनी वास्तविक, सरस और सफल रचना अपने साहित्य में दूसरी नहीं दिखाई पड़ती। गीत–नृत्य परक रासो परम्परा में यह जैनेतर अपवाद अत्यन्त मूल्यवान है।'[१]

रास अथवा रासो संज्ञक जैनेतर रचनाओं का प्रस्तुतिकरण बहुत बाद तक १९वीं शती तक होता रहा। उस दीर्घ काल की प्रमुख रचनायें हैं–१. नल्हसिंह कृत 'विजयपाल रासो' (१७वीं शती) २. दयाल कवि कृत 'राणा रासो' (१७वीं शती) ३. कुम्भकरण कृत 'रतन रासो' (सं. १६७५), ४. न्यामत खाँ जान कवि कृत 'कायम रासो' (सं. १६५१), ५. जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' (सं. १७८५), ६. गुलाब कवि कृत 'करहिया कौ रास' (सं. १८३४) और ७. रसिकगोविन्द कृत 'कलियुग रासो' (सं. १८६५)।[२]

साहित्यिक कथन–

धर्माश्रित वाङ्मयी वर्णन–वैदिक एवं पौराणिक वाङ्मय में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनमें नृत्य नाट्य कलाओं को धर्मोपासना का साधन माना गया है। 'नाट्य शास्त्र' (३६–७७) का कथन है कि उपास्यदेव पूजा–आराधना से उतने प्रसन्न नहीं होते हैं; जितने नृत्य एवं नाट्य से। फलतः हिन्दू मन्दिरों के साथ ऐसे प्रेक्षागृह भी बनाये जाते थे, जहाँ धार्मिक नृत्य–नाट्यों का नियमित रूप से प्रदर्शन किया जाता था और दर्शकगण उन्हें बड़ी श्रद्धा–भावना के साथ देखते थे। ऐसे आयोजनों में पुरुष अभिनेताओं के साथ महिला अभिनेत्रियाँ भी अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। कुछ महिला नर्तकियाँ अविवाहित रहकर मन्दिरों में ही अपना जीवन बिता देती थीं। उन्हें देवदासियाँ कहा जाता था और उनके जीवन

---

१. हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड (भारतीय हिन्दी परिषद्), पृष्ठ १११।

२. हिन्दी साहित्य द्वितीय खण्ड (भारतीय हिन्दी परिषद्), पृष्ठ १२८–१३६।

एवं कला–कौशल उपास्यदेव के लिए समर्पित थे। वे पुजारिनों की भाँति पवित्र जीवन व्यतीत करती थीं और उन्हें समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त था। भारत में प्राचीनकाल से मध्य काल तक और उत्तर से दक्षिण तक के मन्दिर–देवालयों में देवदासियों की विद्यमानता के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। दक्षिण के मन्दिरों में देवदासी प्रथा का अधिक प्रचार रहा है। वे देवदासियाँ मन्दिरों के लिए समर्पित जीवन का परित्याग कर शायद ही कभी गृहस्थ जीवन स्वीकार करती थीं। देश के उत्तरी राज्य कश्मीर के पुंड्रवर्धन मन्दिर की एक नृत्यांगना के नृत्य–कौशल पर रीझकर वहाँ के महाराज जयापीड़ ने उसे अपनी पटरानी बना लिया था। किन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद रूप में ही मिलते हैं।

'शिलप्पादि्दकारम्' एवं 'मणिमेखैल' के उल्लेख—दक्षिणी भाषा तमिल के कुछ प्राचीन ग्रन्थों में कृष्ण द्वारा प्रस्तुत नृत्यों का विवरण मिलता है। ऐसे ग्रन्थों में 'शिलप्पाद्दिकारम्' (रचना द्वितीय शती) और 'मणिमेखैल' के नाम उल्लेखनीय हैं। 'शिलप्पाद्दिकारम्' में 'अल्लियाम्' तथा कुरावइकूतु नृत्यों का वर्णन है। उन नृत्यों को भगवान् कृष्ण ने अपनी बाल्यावस्था में किया था। 'शिलप्पाद्दिकारम्' का उल्लेख है कि श्रीकृष्ण उनकी प्रेयसी नाप्पिनै (दक्षिणी राधा) और कृष्ण के बड़े भाई बलराम ने सात गोपियों के साथ हाथ में हाथ डालकर 'कुरावइकूतु' नृत्य किया था। उस नृत्य को अति प्राचीन माना जाता है और वेदों में उसका उल्लेख मिलता है। वेदोत्तर संस्कृत–साहित्य में इस नृत्य को 'लाट–रासक' की संज्ञा दी गई है। यह 'लकुट–रासक' का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। वात्स्यायन ने 'नाट्य–रासक' का उल्लेख किया है।[१]

संस्कृत नाटकों एवं काव्यों के विवरण—संस्कृत साहित्य में ऐसे बहुसंख्यक नाटक एवं काव्य उपलब्ध हैं, जिनमें रास के प्रमुख अंग नृत्य एवं अभिनय के विवरण मिलते हैं। ऐसे अधिकांश

१. 'रासलीला के नृत्य और संगीत' (रासलीला : एक परिचय), पृष्ठ १७।

नाटक पठनीय हैं, अभिनीत नहीं। उन्हें रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता। यह निर्विवाद तथ्य है कि नाटकों की सार्थकता उनके अभिनयात्मक प्रदर्शन में ही है। इसीलिए 'नाट्य शास्त्र' में बतलाया गया है कि किस प्रकार के नाटकों का रंगमंच पर सफलता पूर्वक अभिनय और प्रदर्शन किया जा सकता है।

महामुनि भरत के मतानुसार दर्शकों के समक्ष उस नाटक का अभिनय सफल होता है, जिसमें मृदु एवं ललित पदों की योजना हो, जिसके शब्द गूढ़ अर्थ वाले न हों, वरन् साधारणजनों को भी सरलतापूर्वक समझने योग्य हों, जिसमें नृत्य का समुचित समावेश हो और विविध पात्रों द्वारा जिसमें रस का परिपाक किया गया हो। इस प्रकार मूलतः नाटक जन–साधारण के देखने, समझने और आनन्द प्राप्त करने की वस्तु थे। कालान्तर में उन्हें जन साधारण की अपेक्षा अभिजात वर्ग से सम्बन्धित कर दिया गया था। तब नाटककार सरल शब्दों की अपेक्षा गूढ़ार्थ वाले शब्दों का प्रयोग करने लगे और वे रस के परिपाक की भी उपेक्षा करने लगे थे। उसका यह परिणाम हुआ कि संस्कृत नाटक का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया और वह अभिनय के योग्य न रहकर गायन एवं पठन–पाठन की वस्तु बन गये।

प्राचीन नाटकों का स्वरूप—संस्कृत के प्राचीन नाटक आदर्शवादी होते थे। उनमें नायक को धर्म एवं नीति और प्रतिनायक को अधर्म एवं अनीति का प्रतीक बनाया जाता था। नाटककार का उद्देश्य नायक का उत्कर्ष और प्रतिनायक का अपकर्ष दिखलाकर समाज में धर्म एवं नीति की स्थापना करना होता था। उसका प्रभाव प्रेक्षकों पर भी तदनुसार पड़ता था। वे नाटक स्वभावतः ही सुखान्त होते थे। दुखान्त नाटकों की रचना उस काल में प्रायः वर्जित थी, क्योंकि उनमें नायक की पराजय अथवा उसकी मृत्यु भी दिखलाई जा सकती थी। उस प्रकार का प्रदर्शन प्राचीन नाटककारों को अभीष्ट नहीं था, चाहे उससे स्वाभाविकता में कमी ही क्यों न आती हो।

नाटकों एवं काव्यों में 'रास' का कथन—संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं के अनेक नाटकों तथा काव्यों में 'रास' का सरस एवं रोचक कथन मिलता है। ऐसे ग्रन्थों में भासकृत 'बालचरित' नाटक, बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' काव्य, राजशेखर कृत 'कर्पूर मंजरी' सदृक, विल्वमंगल कृत 'कृष्णकर्णामृत' एवं 'बालगोपाल स्तुति', जयदेव कृत 'गीतगोविन्द', नरसी मेहता कृत 'रास सहस्त्रपदी', रूपगोस्वामी कृत 'विदग्धमाधव' एवं 'ललितमाधव' नाटक, रघुनाथदास गोस्वामी कृत 'मुक्ताचरित' एवं 'दानकेलिकौमुदी' नाटक, जीवगोस्वामी कृत 'गोपाल चम्पू', कर्णपूर कृत 'आनन्द वृंदावनचम्पू' नारायण भट्ट कृत 'प्रेमांकुर' नाटक, कृष्णदास कविराज कृत 'गोविन्द लीलामृत' और मित्र मिश्र कृत 'आनंदकंद चम्पू' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर उनमें कथित रास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

भास कवि कृत 'बालचरित' नाटक—संस्कृत के प्राचीन नाटककारों में भास अग्रणी हैं। उनका रचना–काल विक्रम पूर्व द्वितीय शती के लगभग निश्चित हुआ है; अतएव वे शुंगकाल में विद्यमान थे। संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार कालिदास के वे पूर्ववर्ती थे। उनकी १३ नाट्य रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें से एक बालचरित भी है। इसके ५ अंकों में श्रीकृष्ण के बालचरित्र का कथन है, जो हरिवंश, विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत से भिन्न हैं। यह इस नाटक की प्राचीनता का प्रमाण है। इसके तृतीयांक में श्रीकृष्ण द्वारा गोप–बालाओं के साथ वृन्दावन में जिस रास नृत्य के किये जाने का उल्लेख है, उसे 'हल्लीसक' कहा गया है। वह मण्डलीबद्ध नृत्य था और ताल–लय युक्त गायन–वादन के साथ सम्पन्न किया जाता था।

वाणभट्ट कृत 'हर्षचरित'—वाणभट्ट कान्यकुब्ज नरेश हर्षवर्धन का सभा–पण्डित था। इससे ज्ञात होता है कि वह विक्रम की ७वीं शती में विद्यमान था। उसके द्वारा रचित 'हर्षचरित' काव्य में

रासक गीतों तथा नटों द्वारा किये गये 'आरभटी' शैली के रास नृत्य का कथन है। इस ग्रन्थ के टीकाकार शंकर ने आरभटी नृत्य को 'हल्लीसक' की संज्ञा दी है।

राजशेखर कृत 'कर्पूरमंजरी'—राजशेखर ९वीं शती का प्रसिद्ध कवि और नाटककार था। उसकी कृति 'कर्पूरमंजरी' प्राकृत भाषा में रची हुई 'सदृक' संज्ञक नाटिका है। इसमें चर्चरी नामक गीत एवं नृत्य का सुन्दर कथन है। 'चर्चरी' को ताल एवं डांडिया रास के समतुल्य माना गया है। इस प्रकार इस नाटिका में रास के एक रूप का उल्लेख मिलता है।

विल्वमंगल कृत 'कृष्ण-कर्णामृत' एवं 'बालगोपाल स्तुति'—लीलाशुक विल्वमंगल दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उनकी विद्यमानता का काल १२वीं शती है। उनके द्वारा रचित 'कृष्ण कर्णामृत' सुप्रसिद्ध स्तोत्र काव्य है। इसमें श्रीकृष्ण की संयोग–वियोगात्मक सरस लीलाओं के साथ 'रासाष्टक' में रास का भी सुन्दर कथन है। उनके दूसरे ग्रन्थ 'बालगोपाल स्तुति' की सचित्र हस्तलिखित प्रतियाँ भी मिली हैं। प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ने लिखा है कि 'बालगोपाल स्तुति' ग्रन्थ की सचित्र हस्तलिखित प्रतियाँ भी मिली हैं। इनमें १४वीं–१५वीं शताब्दी की गुजराती शैली में रास के चित्र हैं। एक चित्र में हाथों में छोटे–छोटे दण्ड लिये हुए मण्डलीबद्ध नृत्यरत गोप–गोपियाँ प्रदर्शित हैं। उनके मध्य में राधा– कृष्ण हैं। प्रत्येक गोप के दोनों ओर गोपियाँ हैं। यह 'दण्ड रासक' का सुन्दर उदाहरण है।[१]

. **जयदेव कृत 'गीतगोविन्द'**—महाकवि जयदेव बंगाली थे। वे बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के मित्र और दरबारी थे। उनके 'गीतगोविन्द' काव्य में श्रीकृष्ण के रास–विलास का अत्यन्त मनोरम कथन किया गया है। जिस प्रकार पौराणिक वाङ्मय में राधाजी की प्रतिष्ठा का श्रेय 'ब्रह्मवैवर्तकार' को है, उसी प्रकार काव्य क्षेत्र में

---

१. संस्कृत साहित्य और रासलीला (रासलीला : एक परिचय), पृष्ठ २६।

राधाजी को प्रतिष्ठित करने का गौरव जयदेव को प्राप्त है। इन दोनों रचनाओं में कई प्रसंग एक–दूसरे के अनुकरण पर रचे हुए मिलते हैं। जयदेव की विद्यमानता का काल विक्रम की १३वीं शती का आरम्भिक युग है। इससे अनुमान होता है कि उनके कथन का अनुकरण 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में किया गया होगा। इसमें 'ब्रह्मवैवर्त' और 'गर्ग संहिता' की भाँति वासंती रास का कथन किया गया है, जो इस प्रकार है–

ललित–लवंगलता–परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर–निकर–करंबित–कोकिल–कूजित–कुंज–कुटीरे॥
विहरति हरि रिह सरस वसंते।
नृत्यति युवति–जनेन समं सखि विरहि–जनस्य दुरन्ते॥

जयदेव की कोमलकांत पदावली कानों में अमृत घोलने वाली और मन को मोहने वाली है। उनकी अनुप्रासमयी ललित भाषा सदा से रसिकों को आनन्दित करती रही है। उनकी रचनाओं के गायन द्वारा नृत्य–नाट्य करने की परम्परा भी थी। 'गीतगोविन्द' में वर्णित रास के विलासपूर्ण सरस कथन का उदाहरण प्रस्तुत है–

पीनपयोधर भारभरेण हरि परिरम्य सरागम्।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चित पञ्चमरागम्॥२॥
कापि विलासविलोलविलोचन खेलन जनितमनोजम्।
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदन वदन सरोजम्॥३॥
कापिकपोलतलेमिलितालपितुं किमपिश्रुतिमूले।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले॥४॥
केलिकला कुतुकेन च काचिदमुं यमुना जलकूले।
मंजुलवंजुल कुंजगतं विचकर्ष करेण दुकूले॥५॥
करतल ताल तरल वलयावलि कलितकलस्वनवंशे।
रास रसे सह नृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशंसे॥६॥
श्लिष्यति कामपि चुंबति कामपि रमयति कामपि रामाम्।
पश्यति सस्मित चारुपरामपरामनुगच्छति वामाम्॥७॥

नरसी मेहता कृत 'रास सहस्त्रपदी'—नरसी मेहता गुजरात के भक्त कवि थे। वे विक्रम की १६वीं शती के आरम्भ में विद्यमान थे। उनके द्वारा रचित 'रास सहस्त्रपदी' में कहा गया है कि उन्हें राधाकृष्ण के दिव्य रास के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्हें ऐसा आभास हुआ कि वे रासमण्डल में दीपक लिए हुए खड़े हैं। रास दर्शन की तल्लीनता में वे ऐसे मुग्ध हुए कि दीपक की लौ से उनका हाथ जल गया और उन्हें उसका आभास भी नहीं हुआ। अन्त में स्वयं श्रीकृष्ण ने उनका उपचार किया था। इसी घटना का उल्लेख प्रियादास कृत 'भक्तमाल टीका'–'भक्तिरस बोधिनी' में भी किया गया है। उसमें दिव्य रासमण्डल और राधा–कृष्ण के दिव्य रास का कथन इस प्रकार है–

'हीरों से जड़े हुए दिव्य रासमण्डल पर अनेक सखियों के साथ दोनों प्रिया–प्रियतम गान–तान द्वारा नृत्य कर रहे हैं। उनके रूप के प्रकाश से चन्द्रमा की चाँदनी फीकी पड़ रही है। श्रीकृष्ण हाथों से तालियाँ बजा–बजाकर ताल दे रहे हैं और सुन्दर गति ले रहे हैं। उनकी गर्दन की झुकान, हाथों की उँगलियों की मुद्राएँ तथा मुख से मधुर स्वर का गायन देखते और सुनते ही बनता था। उस समय महचंग के साथ जो मृदंग बज रहा था, उसके कारण उनके अंग–अंग से मानो छवि की तरंगें उठ रही थीं–

हीरनि खचित रासमण्डल नँचत दोऊ, रचित अपार नृत्त–गान–तान न्यारियै।
रूप उजियारी चंद–चाँदनी न सम ताकी, देत कर–तारी लाल गति लेत न्यारियै॥
ग्रीव की ढुरनि, कर–आँगुरी मुरनि, मुख मधुर सुरनि, सुनि स्त्रवन तयारियै।
बजत मृदंग मुहचंग संग, अंग–अंग उठति तरंग, रंग छवि की जियारियै॥

—नाभाजी कृत छप्पय सं० १०८ पर प्रियादासजी का कवित्त सं० ४३२

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'रास' एक ऐसा विकासशील कथारूप है, जो मूलतः प्राचीन ब्रजमण्डल के गोप समाज का एक लोक नृत्त था और जिसने बाद में सुव्यवस्थित नृत्य का रूप धारण

किया था। वह क्रमशः 'हल्लीसक' 'रासक' एवं 'नाट्य रासक' के रूपों में विकसित होता हुआ काव्य के श्रव्य (गान–वाद्य) और दृश्य (नाट्य) समन्वित रूप में परिणित हो गया था। उसकी विकास–यात्रा में आरम्भिक योग प्राचीन ब्रजमण्डल एवं पुरातन सौराष्ट्र के गोपों एवं यादवों ने दिया था; फिर उसे वैदिक परम्परा के सात्त्वत, पंचरात्र एवं भागवत धर्म के अनुयायियों ने और अवैदिक परम्परा के बौद्ध एवं जैन धर्मों के अनुगामियों ने अपनी विचारधारा के अनुसार विकसित किया था। उसकी विकास–यात्रा के साहित्यिक उल्लेख प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। इनसे ज्ञात होता है कि रास ने विकास, ह्रास और पुनर्विकास के अनेक युग देखे हैं।

रास की विकास–यात्रा कृष्ण–काल से लेकर मध्यकाल के उस युग तक चलती रही थी, जब वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक मनीषियों ने उसे परिष्कृत रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया था। उसके लिए उन्होंने अपनी उपासना–भक्ति के एक साधन रूप में 'रासानुकरण' का प्रचलन किया था।

कृष्णोपासना का प्रचार एवं रासानुकरण की पृष्ठभूमि–

जिस काल में उत्तरी भारत के राजस्थान–गुजरात आदि राज्यों के विभिन्न स्थानों में जैनियों द्वारा जैन रास का आयोजन और उससे सम्बन्धित रास ग्रन्थों का प्रणयन किया जा रहा है; प्रायः उसी समय ब्रजमण्डल में कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों द्वारा कृष्ण–भक्ति के प्रचार का उपक्रम किया गया था। वे धर्माचार्य अधिकतर दाक्षिणात्य तथा कुछ पूर्वांचल के थे; किन्तु श्रीकृष्ण के जन्म और उनकी लीलाओं के पावन स्थल ब्रजमण्डल में अपने धार्मिक केन्द्र बनाकर उनमें स्थायी या अस्थायी रूप से निवास किया था। उन्हीं केन्द्रों में उन्होंने अपनी भक्ति–साधना की थी और कृष्ण–भक्ति के प्रचार का आयोजन किया था।

ब्रजमण्डल में आने वाले धर्माचार्यों एवं धार्मिक मनीषियों में श्री निम्बार्काचार्य पहले महानुभाव थे। उनके पश्चात् माध्व सम्प्रदाय

के आचार्य माधवेन्द्रपुरी, तत्पश्चात् पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य और फिर माध्य गौड़ेश्वर सम्प्रदाय उन्नायक श्री चैतन्यदेव ने ब्रज–मण्डल में आकर कृष्णोपासना के प्रचार का व्यापक अभियान चलाया था। उन्होंने अपने प्रचार के साधन रूप में रासानुकरण का प्रचलन किया था।

जिस समय वे धार्मिक मनीषी ब्रज में आये थे, उस समय यह पुरातन प्रदेश दिल्ली के सुलतानों की मजहबी तानाशाही से उत्पीड़ित था। उन्होंने ऐसे कठोर आदेश जारी किये थे, जिनसे ब्रज के परम्परागत धार्मिक स्वरूप को बड़ी क्षति पहुँची थी। यहाँ के निवासियों को अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार जीवन–यापन करना भी दूभर हो गया था। ऐसी परिस्थिति में ब्रज के अधिकांश लीला–स्थल उजड़ गये; यहाँ तक कि उनकी खोज–खबर रखने वाले भी नहीं रहे। मथुरा के चारों ओर का क्षेत्र बीहड़ वनों से आच्छादित हो गया और वहाँ हिंसक पशुओं तथा चोर–डाकुओं का आतंक रहने लगा।

पुराणों में श्रीकृष्ण के जिन अनेक लीला–स्थलों का नामोल्लेख हुआ है, उनमें से केवल मथुरा और गोवर्धन ही उस भीषण काल में कुछ आवास योग्य होने के कारण जनता के लिए परिचित थे। उनके अतिरिक्त गोकुल, वृन्दावन, नन्दगाँव, बरसानादि महत्त्वपूर्ण लीला–स्थल तब निर्जन एवं सघन वनों से आच्छादित होने के कारण अपरिचित और अज्ञात हो गये थे। उन तक पहुँचने के मार्गों में जहाँ हिंसक पशुओं एवं चोर–डाकुओं का भय था, वहाँ बीहड़ वनखण्डों, कंटीले झाड़ों, थूहर एवं नागफनी की काँटेदार झाड़ियों और कंकरीली, पथरीली तथा गोखरू के काँटों से भरी हुई वन–वीथियों का कष्ट था। ऐसे दुर्गम स्थलों में कोई भी व्यक्ति जाने का साहस नहीं करता था।

श्रीकृष्ण के जन्म स्थान मथुरा के अनन्तर लीला–स्थानों में वृन्दावन को सर्वोपरि माना गया है। पुराणादि में मथुरा मण्डल (ब्रज मण्डल) को २० योजन अर्थात् ८४ कोस और वृन्दावन को ५

योजन अर्थात् प्रायः २० कोस के आकार का बतलाया गया है।[1] पुराणकालीन वृन्दावन में गोवर्धन गिरि की स्थिति मानी गई है और उसके निकट यमुना नदी को प्रवाहित बतलाया गया है।[2] इस प्रकार प्राचीन वृन्दावन एक सुविशाल सुन्दर और सघन वन था, जो वर्तमान वृन्दावन से वर्तमान गोवर्धन तक विस्तृत था। जब वर्तमान वृन्दावन सघन वन से आच्छादित होने के कारण दुर्गम हो गया था, तब वर्तमान गोवर्धन को ही पुरातन वृन्दावन का महत्त्व प्राप्त था। वहाँ गोवर्धन गिरि के निकट यमुना की एक धारा भी प्रवाहित थी।[3] श्रीकृष्ण काल के स्मृति–चिह्नों में यमुना नदी और गोवर्धन गिरि ही शेष थे और वे दोनों तब वर्तमान गोवर्धन में विद्यमान थे। इन सब कारणों से उस काल में गोवर्धन का अत्यधिक महत्त्व था। उस काल में जो धार्मिक व्यक्ति ब्रज में आते थे, वे कुछ समय तक मथुरा में विश्राम कर गोवर्धन चले जाते थे। वहाँ वे अपनी इच्छा और सुविधानुसार अस्थायी या स्थायी रूप से निवास किया करते थे।

श्रीनिम्बार्काचार्यजी ये दाक्षिणात्य थे। जब वे अपने सुदूरवर्ती जन्मस्थान से चलकर और मार्ग के कष्टों एवं असुविधाओं को सहन करते हुए ब्रज में आये थे, तब वहाँ की वही स्थिति थी, जिसका पूर्वोल्लेख किया जा चुका है। वे कुछ दिन तक मथुरा के ध्रुव क्षेत्र में विश्राम करने के उपरान्त गोवर्धन चले गये। वहाँ उन्होंने गिरिराज की परिक्रमा की। गोवर्धन की पावन–भूमि में उनका मन रम गया और वे वहाँ स्थायी रूप से रहने लगे। वहीं पर उन्होंने अपनी भक्ति– साधना की और अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया था। वहीं से उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त 'द्वैताद्वैत' का प्रचलन किया और अपने भक्ति सम्प्रदाय की रूप–रेखा निश्चित की थी। गोवर्धन

---

१. विंशतियोजनानां च माथुरं मम मण्डलम्। —वाराह पुराण
पंच योजनमेवास्ति वनंभेदेह रूपकम्॥ —वृहत् गौतमी तंत्र

२. वृन्दावनं गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासिदुत्तमाप्रीतो राममाधवयोर्नृप॥ —भागवत पराण

३. अहो वृन्दावनं रम्य यत्र गोवर्द्धनो गिरिः॥ —स्कन्ध पुराण

के जिस स्थल पर वे निवास करते थे, वह उनके नाम पर 'निंबग्राम' अथवा नीमगाँव कहलाने लगा।

निम्बार्क सम्प्रदाय के परमाराध्य एवं परमोपास्य सर्वेश्वर श्रीकृष्ण हैं; जो अपनी आह्लादिनी शक्ति सहित युगल रूप में मान्य हैं। इनके प्रतीक रूप में सर्वेश्वर शालिग्राम हैं, जो इस सम्प्रदाय के सर्वोपरि पूजनीय देव–विग्रह हैं। ऐसा कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के साथ राधाजी को धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का श्रेय इसी सम्प्रदाय को है। इसके प्रमाण के लिए 'दशश्लोकी' का सुप्रसिद्ध श्लोक–अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम्' प्रस्तुत किया जाता है और उसे श्रीनिम्बार्काचार्य जी की रचना माना जाता है।

इस सम्प्रदाय के आरम्भिक केन्द्र गोवर्धन स्थित 'नीमगाँव' और मथुरा स्थित ध्रुव क्षेत्र हैं। ध्रुवटीला पर इस सम्प्रदाय का मन्दिर है, जो अनेक आचार्यों का उपासना–स्थल रहा है। उसके निकटवर्ती नारद टीला पर इसके कई आचार्यों की समाधियाँ हैं। इन सबसे सिद्ध होता है कि ब्रज में इस सम्प्रदाय का उस काल में प्रचार हुआ था, जब वर्तमान वृन्दावन सहित ब्रज के अनेक लीलास्थल अज्ञात थे। कालान्तर में इस सम्प्रदाय की प्रधान गद्दी राजस्थान के 'सलेमाबाद' में स्थापित हुई और ब्रज में वृन्दावन इस सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र बन गया। जहाँ तक इस सम्प्रदाय की रास सम्बन्धी देन है, उसका आधार रासेश्वरी राधाजी है जिनके कारण ही रास के रस रूप की सार्थकता है। इस सम्प्रदाय के एक परवर्ती आचार्य घमण्डदेवजी को रास के पुनरुद्धारकों में भी माना गया है, किन्तु यह मान्यता कहाँ तक प्रामाणिक है, इसके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायेगा।

श्री माधवेन्द्रपुरी जी–निम्बार्क सम्प्रदायी आचार्यों के पश्चात् ब्रज में आने वाले मनीषियों में श्री माधवेन्द्रपुरी प्रमुख धर्माचार्य थे। वे 'द्वैतवाद' के प्रवर्त्तक श्री मध्वाचार्य जी की शिष्य परम्परा में आचार्य लक्ष्मीपति जी के शिष्य थे। उनकी विद्यमानता का काल

अनिश्चित है और वे दाक्षिणात्य थे अथवा उत्तर भारतीय—इसके सम्बन्ध में भी प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता। उनकी विद्यमानता का काल सं० १४५० से सं. १५५० के बीच का जान पड़ता है। उनका जन्म चाहे दक्षिण भारत में हुआ हो; किन्तु कार्यक्षेत्र उत्तर भारत, विशेष रूप से बंग प्रदेश रहा था। उनके प्रमुख शिष्यों में बंगीय भक्तजन ही अधिक हैं; इसलिए उन्हें बंगाली माना जाता है।

माध्व सम्प्रदाय के द्वैतवादी दार्शनिक सिद्धान्त और भक्ति तत्त्व को उत्तर भारत में प्रचारित करने का श्रेय श्री माधवेन्द्रपुरी को है। वे भ्रमणशील संन्यासी थे और एक स्थान पर अधिक दिनों तक नहीं रहते थे, किन्तु बंगाल में उन्होंने पर्याप्त समय तक निवास कर वहाँ की शाक्तमतावलम्बी जनता में कृष्ण–भक्ति का बीज वपन किया था, जिसे बाद में उनके प्रशिष्य श्री चैतन्यदेव जी महाराज ने पल्लवित किया था। उनके शिष्यों में श्री ईश्वरपुरी, नित्यानन्द और अद्वैताचार्य जैसे प्रमुख बंगाली भक्तजन थे। श्री ईश्वरपुरी संन्यासी थे और वे चैतन्य जी के दीक्षा गुरु थे। सर्वश्री नित्यानंद और अद्वैताचार्य श्री चैतन्यदेव के प्रमुख सहकारी थे। इस प्रकार चैतन्य सम्प्रदाय की स्थापना में श्री माधवेन्द्रपुरी का आरम्भिक योग था। वे माधुर्य भक्ति और राधाभाव के प्रति आस्थावान थे। उन्होंने ज्ञानमार्गीय संन्यासियों को माधुर्य भक्ति की ओर आकृष्ट किया था और माध्व सम्प्रदाय के भक्ति तत्व में राधाभाव का समावेश किया था।

बंगाल में धर्म–प्रचार करने के पश्चात् वे कुछ काल तक काशी में रहे थे। वहाँ पर उन्होंने श्री वल्लभाचार्य जी को उनके बाल्यकाल में विद्याध्ययन कराया था। काशी से चलकर वे ब्रज में गये और वहाँ के गोवर्धन नामक धार्मिक स्थल में जाकर रहने लगे। गोवर्धन के 'गिरिराज' की कन्दरा में उन्हें 'देवस्वरूप' के दर्शन हुए थे। उन्होंने उक्त स्वरूप का नाम 'गोपाल' रखा, जिनकी पूजा का प्रचलन वे करना चाहते थे। उसके लिए उन्हें चंदन और कपूर की

आवश्यकता थी, किन्तु वे उन्हें ब्रज में उपलब्ध नहीं हुए। फलतः वे गोपाल जी की देख–रेख का भार अपने बंगाली शिष्यों को सौंपकर स्वयं उक्त पदार्थों को प्राप्त करने के लिए उत्कल प्रदेश के नीलांचल की ओर चले गये। वहाँ उन्होंने पर्याप्त मात्रा में चंदन और कपूर प्राप्त किया। उन्हें लेकर जब वे वापस ब्रज की ओर जा रहे थे; तब मार्ग में उनका देहावसान हो गया था। वे बंगाल से आने के पश्चात् सं. १५४३ से सं. १५४५ तक काशी में और सं. १५४६ से सं. १५४८ तक गोवर्धन रहे थे। उनका निधन सं. १५५० के लगभग 'पूर्वांचल' के 'रेमुना' नामक स्थान में हुआ था।

कालान्तर में जब श्री वल्लभाचार्य जी ब्रज में आये थे, तब उन्होंने श्री गोपाल जी के स्वरूप को गिरिराज जी की कन्दरा से बाहर निकलवाया और उन्हें गिरिराज पर एक छोटे कच्चे मन्दिर में प्रतिष्ठित कर दिया। उन्होंने गोपाल जी को गोवर्धननाथ अथवा श्रीनाथजी के नाम से प्रचारित किया और उनकी सेवा–पूजा की आरम्भिक व्यवस्था की थी।

जहाँ तक श्री पुरीजी की रास–विषयक देन का सम्बन्ध है, वह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष रूप में है। उनकी माधुर्य भक्ति, राधा–भाव की आस्था और महाकवि जयदेव के लीला–गान के प्रति उनका आकर्षण–ये सब ऐसे तत्त्व हैं, जो कृष्ण–रास के प्रचलन में सहायक हुए हैं। पुरीजी के पट्टशिष्य श्री चैतन्यदेव जी और उनके अनुगामी गौड़ीय भक्तों की रास के लिए जो देन है, उसके मूल में श्री माधवेन्द्रपुरी जी की प्रेरणा–प्रद विचारधारा है।

श्री शंकरदेव जी–पूर्वांचल के सुदूरवर्ती राज्य असम की शाक्त धर्मावलम्बी जनता में वैष्णव धर्म और कृष्णोपासना के प्रचार का श्रेय महापुरुष श्री शंकरदेव को है। उनकी विद्यमानता का काल सं० १५०६ से सं० १६२६ माना जाता है। इससे ज्ञात होता है कि वे अत्यन्त दीर्घजीवी हुए थे। जिस समय श्री माधवेन्द्रपुरी जी ने वंग प्रदेश में कृष्ण भक्ति की दीप–शिखा प्रज्वलित की थी, उसका

प्रकाश पूर्वांचल के अन्य राज्यों की भाँति असम में भी पहुँचा था और शंकरदेव जी उससे थोड़े–बहुत अवश्य आलोकित हुए होंगे।

श्री शंकरदेव ने भगवद्‌गीता और भागवतादि पुराणों का अच्छा अध्ययन किया था और १२ वर्षों तक उत्तर भारत के अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। उस यात्रा में वे ब्रज प्रदेश भी आये थे और मथुरा में यमुना–स्नान करने के अनन्तर उन्होंने गोवर्धन में श्री गिरिराज जी की परिक्रमा की थी। उस समय तक सम्भवतः श्री माधवेन्द्रपुरी जी द्वारा श्री गोपालजी के विग्रह का प्राकट्य किया जा चुका था। श्री शंकरदेव जी की भेंट श्री पुरी जी से कहीं हुई थी या नहीं; इसे निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

तीर्थयात्रा से वापस लौटने पर उन्होंने असम में कृष्ण–भक्ति के प्रचारार्थ 'शरणिया' नामक भक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उन्होंने विविध स्थानों में धार्मिक मठों के रूप में 'सत्र' निर्मित कराये थे, जहाँ भगवद्–विग्रह के बजाय भागवत का पूजन–अर्चन किया जाता था और उसी के माध्यम से कृष्णोपासना होती थी।

श्री शंकरदेव ने अपने सम्प्रदाय को रोचक रूप में जनता में प्रचारित करने के लिए 'अंकियानाट' नामक नाट्य–रूपकों की रचना की थी, जिनका पठन–पाठन, गायन–वादन एवं अभिनय उनके सत्रों में किया जाता था। उनके रचे हुए नाटक अधिकतर श्रीमद्‌भागवत की कृष्ण–लीलाओं पर आधारित हैं। वे ब्रज के रासानुकरण अथवा रासलीलानुकरण से प्रभावित हैं या नहीं? यह प्रश्न विवादग्रस्त है। शंकरदेव के प्रथम नाटक का रचनाकाल सं. १५७५ माना जाता है। तब तक गोवर्धन स्थित श्रीनाथजी के मन्दिर में सूरदासादि अष्टछापी कवियों द्वारा रास के पदों के कीर्तन द्वारा रासानुकरण की प्रथा प्रचलित हो गई थी। इसलिए शंकरदेव के 'अंकिया' नाटकों पर ब्रज की रासलीला का थोड़ा–बहुत प्रभाव होना सम्भव है। ब्रज की भक्ति–भावना और 'ब्रजबुली' का प्रभाव तो उन पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता ही है।

श्री वल्लभाचार्यजी—कृष्ण—भक्ति के प्रचारार्थ ब्रज में आने वाले धार्मिक मनीषियों में श्री वल्लभाचार्य जी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका ब्रजागमन वस्तुतः इस पुरातन धार्मिक प्रदेश के भाग्योदय का सूचक था। उन्होंने यहाँ पर कृष्णोपासना के रूप में श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित की थी और ब्रज की सांस्कृतिक उन्नति में अनुपम योग दिया था। वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे; किन्तु उनका जन्म वर्तमान मध्यप्रदेशांतर्गत रायपुर जिला के चम्पारण नामक स्थान में सं. १५३५ की वैशाख कृ० ११ को हुआ था। उनका आरम्भिक जीवन काशी में बीता था और वहाँ पर ही उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। वे बड़े प्रतिभाशाली थे; अतः किशोरावस्था में ही प्रकाण्ड विद्वान् और विविध शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता हो गये थे।

श्री आचार्य जी की धार्मिक गतिविधियों में उनकी यात्राओं का बड़ा महत्त्व है। उन्होंने तीन बार देशव्यापी यात्रायें कर अपने भक्ति—सिद्धान्त का प्रचार किया था। वे अपनी आरम्भिक यात्रा के प्रसंग में प्रथम बार सं. १५५० में ब्रज आये थे। तब उन्होंने श्रीकृष्ण की शैशव लीलाओं के पुण्यस्थल गोकुल का अनुसन्धान किया और वहाँ पर ही उन्होंने 'पुष्टिमार्ग' के नाम से अपने भक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उसी यात्रा में उन्होंने मथुरा के विश्राम घाट की 'यन्त्र—बाधा' दूर की और सिकन्दर लोदी के तानाशाही शासन से मथुरा निवासियों को कुछ सुविधाएँ दिलाई थीं। वह यात्रा सं. १५५३ में पूरी हुई थी।

उनकी द्वितीय यात्रा सं. १५५४ में आरम्भ हुई थी। तब वे सं. १५५६ में ब्रज में आये थे। उस अवसर पर उन्होंने गोवर्धन जाकर वहाँ के गिरिराज की कन्दरा से श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य किया और उन्हें एक कच्चे मन्दिर में प्रतिष्ठित कर उनकी सेवा की आरम्भिक व्यवस्था की थी। उसी अवसर पर सद्दू पांडेय, रामदास चौहान, कुम्भनदास प्रभृति अनेक ब्रजवासी उनके शिष्य—सेवक हुए थे। वह यात्रा सं. १५५८ में आरम्भ हुई थी और वह श्री

वल्लभाचार्य जी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यात्रा थी। उसमें उनके गौरव की अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। उस यात्रा में वे सं. १५५९ में ब्रज में आये थे। जब वे गोवर्धन में श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ गये, तब उन्होंने अम्बाला के धनाढ्य हरिभक्त पूरनमल खत्री को श्रीनाथ जी का विशाल मन्दिर बनवाने के लिए कृतसंकल्प पाया था। उसने श्री आचार्य जी की अनुमति प्राप्त कर संवत् १५५९ की वैशाख शु० ३ (अक्षय तृतीया) को मन्दिर के निर्माण का शुभारम्भ किया था। मन्दिर बनने लगा; किन्तु सिकन्दर लोदी के सैनिकों द्वारा निरन्तर बाधा पहुँचाये जाने के कारण वह पूरा नहीं किया जा सका। जब अनेक स्थानों में घूमते–फिरते और धर्म–प्रचार करते हुए श्री आचार्य जी पुनः सं. १५६४ के अन्त में गोवर्धन गये, तब तक मन्दिर अधूरा था। यवन सैनिकों द्वारा बार–बार तोड़–फोड़ करने और पूरनमल खत्री द्वारा बार–बार निर्माण कराने में उत्पन्न राजकीय बाधा तथा द्रव्याभाव के कारण मन्दिर को शीघ्र पूरा करना सम्भव नहीं था। फलतः श्री आचार्य जी ने सं. १५६५ की वैशाख शु० ३ को उस अधूरे मन्दिर में ही श्रीनाथ जी के स्वरूप को प्रतिष्ठित कर दिया था। वहाँ उनकी सेवा तब तक होती रही, जब तक सिकन्दर लोदी का देहावसान नहीं हुआ था। उस कालावधि में भी कई बार मन्दिर पर आक्रमण हुआ था और श्रीनाथ जी के स्वरूप को मन्दिर से हटाकर कभी 'टोड़ कौघना' में, कभी 'श्याम ढाक' के अरण्य में और कभी 'गाँठोली' के वन में छिपाना पड़ा था। जब श्री चैतन्य देव जी सं. १५७३ में ब्रज आये थे, तब उन्होंने गाँठोली के वन में ही उनके दर्शन किये थे।

उधर श्री वल्लभाचार्य जी गोवर्धन के कार्य से निवृत्त होकर अपनी यात्रा को पूरी करने के लिए दक्षिण की ओर चले गये। वहाँ पर सं. १५६५–१५६६ में उन्होंने विद्यानगर के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त की थी। उसके उपलक्ष्य में राजा कृष्णदेव राय ने उनका अभिषेक किया था। वह यात्रा सं. १५६६ में पूर्ण हुई थी।

यात्रा की समाप्ति पर वे श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ गोवर्धन गये थे। उसी अवसर पर सूरदास और कृष्णदास उनके सेवक हुए थे। आचार्यजी ने सूरदास को श्रीनाथ जी का प्रमुख कीर्तनकार और कृष्णदास को मन्दिर का अधिकारी नियुक्त किया था। उसके उपरान्त वे गृहस्थ धर्म के निर्वाहार्थ प्रयाग के निकटवर्ती अड़ैल में निवास करने लगे थे।

सं. १५७४ में सिकन्दर लोदी की मृत्यु हो गई। तब ब्रजवासियों ने संतोष की साँस ली थी। तभी श्रीनाथ जी के मन्दिर को पूर्ण कराया जा सका था। सं. १५७६ के आरम्भ में मन्दिर पूरा बनकर तैयार हो गया। तब श्री वल्लभाचार्य जी गोवर्धन आये और सं. १५७६ की वैशाख शु. 3 (अक्षय तृतीया) को उन्होंने बड़ी धूम–धाम और समारोहपूर्वक श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया था। उसके उपरांत श्रीनाथ जी की सेवा कार्य का निरन्तर विस्तार होता गया।

जहाँ तक वल्लभाचार्य जी की रास सम्बन्धी देन की बात है, वह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कन्ध की 'रास पंचाध्यायी' के चिन्तन, मनन एवं प्रवचन द्वारा और श्रीनाथ जी के कीर्तन–पदों में रास सम्बन्धी पदों के गायन की व्यवस्था कर भावात्मक रास की सुखानुभूति करने का शुभारम्भ किया था।

श्री चैतन्यदेव जी—उनका जन्म सं. १५४२ में बंगाल के नवद्वीप (नदिया) नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने युवावस्था में ही श्री माधवेन्द्रपुरी जी के शिष्य ईश्वरपुरी से भक्ति–मार्ग की दीक्षा ली थी। वे संन्यासी हो गये और जीवनपर्यन्त कृष्णोपासना में तल्लीन रहे थे। उन्होंने शाक्तमतावलम्बी पूर्वांचल, विशेष रूप से बंगाल और ओड़िसा में कृष्ण–भक्ति का प्रचलन कर गौड़ीय वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की थी। संगीत, नृत्य एवं नाट्य कलाओं के प्रति उनकी आरम्भ से ही अभिरुचि थी। वे इन कलाओं को कृष्ण–भक्ति के प्रचार के साधन मानते थे। उक्त कलाओं के आयोजन में वे स्वयं

भाग लेते थे और अपने अनुगामी भक्तजनों को उसके लिए प्रेरित करते थे।

भक्तवर वृन्दावनदास कृत बंगला ग्रन्थ 'चैतन्य भागवत' से ज्ञात होता है कि जब चैतन्य जी अपने आरम्भिक जीवन में नवद्वीप में थे, तब उन्होंने एक विशिष्ट अवसर पर नृत्य–नाट्य का भव्य समारोह किया था। उस समय उन्होंने अपनी भक्त–मण्डली में घोषणा की थी–'आजि नृत्य करिवाङ अंकेर विधाने'–आज का नृत्य मैं नाट्य के विधान से करूँगा। (मध्य खण्ड, १८वाँ अध्याय)। तत्पश्चात् उन्होंने स्वयं आद्याशक्ति महालक्ष्मी का वेश धारण किया और नित्यानन्द को अपनी वृद्धा सखी बनाया। गदाधर रुक्मिणी बने, श्रीवास ने नारद का रूप सजाया; अद्वैत ने विदूषक का स्वांग रचा और हरिदास वैकुण्ठ के प्रहरी हुए। फिर उन सबने मिलकर ऐसा मोहक अभिनय किया, जिसे देखकर सभी प्रेक्षकगण प्रेमाश्रु बहाने लगे थे। वह आयोजन सं. १५६५ के लगभग हुआ था।

श्री चैतन्य जी ब्रज–वृन्दावन के प्रति आरम्भ से ही आस्थावान् और ब्रजमण्डल की गौरव–वृद्धि करने के लिए लालायित थे। जब वे संन्यासी होकर कृष्ण–भक्ति के प्रचार में लग गये, तब उनके अनुगामी बंगाली कृष्ण–भक्तों के मन में ब्रज–यात्रा करने और वहाँ के लीला–स्थलों का दर्शन करने की लालसा उत्पन्न हुई थी। किन्तु उसके लिए यात्रा को सुगम बनाने और ब्रज के लुप्तप्राय लीलास्थलों की जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता थी। उसकी पूर्ति के लिये उन्होंने सं. १५६८ में अपने दो अनुचर लोकनाथ चक्रवर्ती और भूगर्भ गोस्वामी को ब्रज का सर्वेक्षण करने के लिए भेजा था। वे दोनों भक्तजन कुछ समय तक ब्रज के बीहड़ वनों में भटककर वापस चले गये। उन्हें अपने कार्य में वांछनीय सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसके उपरान्त स्वयं श्री चैतन्य जी ने सं. १५७३ में ब्रजयात्रा की थी। तब उन्होंने वहाँ के कई वनों का भ्रमण किया और कतिपय लीला–स्थलों के दर्शन किये थे।

श्री चैतन्यदेव जी की ब्रज–यात्रा का विस्तृत विवरण कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' में मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि चैतन्य जी ने मथुरा में यमुना–स्नान कर श्रीकृष्ण जन्म स्थान में केशव भगवान् के दर्शन किये थे। ब्रज के वनों की यात्रा करते समय उन्होंने कई शताब्दियों से लुप्त हुए 'राधाकुण्ड' का प्राकट्य किया था। तभी से गोवर्धन के निकट का वह लीला–स्थल चैतन्य सम्प्रदायी भक्तों का प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। जब वे श्री गोपाल जी का दर्शन करने के लिए गोवर्धन गये, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि यवन सैनिकों के आक्रमण की आशंका से गोवर्धन निवासी भक्तजनों ने श्री गोपाल जी के स्वरूप को मन्दिर से हटाकर निकटवर्ती बीहड़ वनों में छिपा दिया है। तब अनुसन्धान करने के अनन्तर उन्होंने गोवर्धन क्षेत्र के गाँठोली नामक वन में श्री गोपाल जी के दर्शन किये थे। तभी उन्होंने श्री गिरिराज जी की परिक्रमा भी की थी।

अपनी यात्रा के अन्त में वे वृन्दावन गये थे। वहाँ उन्होंने कालियदह, केशीघाट, चीरघाट आदि यमुना तटवर्ती तीर्थों में स्नान कर एक प्राचीन इमली वृक्ष के नीचे हरिनाम–संकीर्तन किया था। वृन्दावन में उनका सात्त्विक प्रेमावेश इतना बढ़ गया था कि वे बार–बार प्रलाप करते हुए मूर्च्छित हो जाते थे। उनकी विह्वलताजन्य स्थिति को देखकर उनके अनुचर उन्हें शीघ्र ही ब्रज से वापस ले गये। कालान्तर में श्री चैतन्य जी ने अपने अन्तरंग गौड़ीय भक्तों को ब्रज में निवास करने और वहाँ के तीर्थों एवं लीला–स्थलों का उद्धार करने का आदेश दिया था।

श्री चैतन्यदेव के आदेशानुसार जो गौड़ीय भक्तजन ब्रज में आये थे, उनमें से छः गोस्वामी अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके नाम सनातन गोस्वामी, रूप गोस्वामी, गोपाल भट्ट गोस्वामी, रघुनाथदास गोस्वामी, रघुनाथ भट्ट गोस्वामी और जीव गोस्वामी हैं। उनके अतिरिक्त मधु गोस्वामी, लोकनाथ चक्रवर्ती, प्रबोधानन्द सरस्वती, कृष्णदास कविराज आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे

पहले रूप गोस्वामी, उनके पश्चात् सनातन गोस्वामी आये थे। उन्होंने क्रमशः सं. १५७४ और सं. १५७६ में स्थायी रूप से ब्रज–वास किया था। उनके अनन्तर गोपाल भट्ट गोस्वामी सं. १५८८ में, कृष्णदास कविराज सं. १५९० में, रघुनाथ गोस्वामी सं. १५९१ में और जीव गोस्वामी सं. १५९८ में ब्रज में आ गये थे। उन सब महानुभावों ने भक्तिपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, लीला स्थलों का उद्धार किया और मन्दिरों का निर्माण कराया था। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अथवा अन्य प्रकारों से रास के प्रचार में जो योग दिया था, उसका उल्लेख यथास्थान किया गया है।

श्री चैतन्य जी द्वारा कृष्ण–भक्ति प्रचार के जो कार्यक्रम चलाये गये थे, उनमें भक्तिपरक, नृत्य–नाट्यों का प्रदर्शन भी था। उन्होंने अपने आरम्भिक जीवन में जिस सरस नृत्य–नाट्य का आयोजन किया था और जिसमें उन्होंने स्वयं लक्ष्मी का वेश धारण कर मोहक अभिनय किया था उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जब वे अपने उत्तर जीवन में जगन्नाथ पुरी–नीलांचलधाम (ओड़िसा) में निवास करते थे, तब उनकी भक्तमण्डली में राय रामानन्द कृत 'जगन्नाथ वल्लभ' नाटक का अभिनय हुआ करता था। सरल संस्कृत में रचा हुआ वह एकांकी नाटक श्री चैतन्य जी को अत्यन्त प्रिय था। उसमें भक्तजनों के साथ देवदासियों द्वारा अभिनय किया जाता था। कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत', अन्त्य लीला, पंचम परिच्छेद (पयार ११ से २२) में उल्लिखित है, राय रामानंद निर्विकार होकर स्वयं देवदासियों का शृंगार करते थे और उन्हें नृत्य–नाट्य की शिक्षा देकर भगवान् जगन्नाथ जी के समक्ष उनका अभिनय कराते थे। उससे श्री चैतन्य जी को दिव्यानन्द की अनुभूति होती थी।

श्री चैतन्य जी के बहुसंख्यक अनुगामी भक्तजन थे। उनमें से अधिकांश गौड़ीय और कुछ दाक्षिणात्य थे। उन्होंने श्री चैतन्य जी के आदेशानुसार बंगाल, उड़ीसा और ब्रज–वृन्दावन में कृष्णोपासना

का प्रचार किया था। उनके वृन्दावनस्थ गौड़ीय भक्तों में श्री रूप गोस्वामी और कृष्णदास कविराज प्रमुख थे। उनके अतिरिक्त सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी आदि भी थे। दाक्षिणात्य भक्तों में श्री गोपाल भट्ट और श्री नारायण भट्ट थे। उन सबने रास के प्रचार–प्रसार में जो योग दिया था, उसका उल्लेख आगे किया जावेगा।

प्रवर्त्तन विषयक विवाद—रासानुकरण के प्रवर्त्तन का प्रसंग उपस्थित होते ही ये प्रश्न स्वभावतः ही उठते हैं कि इसका शुभारम्भ किसने, कब और किस प्रकार किया? किन्तु इन प्रश्नों का उत्तर देने में बड़ा मतभेद रहा है। इसका कारण है, रासानुकरण का अनुपम सांस्कृतिक महत्त्व। इसलिए ब्रज के प्रायः सभी भक्ति सम्प्रदाय इसके प्रवर्त्तन का श्रेय प्राप्त करना चाहते हैं। फलतः वे अपने सम्प्रदायों के प्रमुख महानुभावों को रासानुकरण के प्रवर्त्तक सिद्ध करने के लिए जी–जान से प्रयत्नशील रहे हैं।

इसका यह दुष्परिणाम हुआ कि सार्थक एवं स्वस्थ मतभेद के स्थान पर व्यर्थ का सांप्रदायिक विवाद उठ खड़ा हुआ है। इस विवाद को इसलिए और भी अधिक बल प्राप्त हुआ है कि अभी तक ऐसा कोई प्राचीन एवं प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ, जिसमें रासानुकरण के प्रवर्त्तन का विश्वसनीय विवरण दिया गया हो।

इस विषय की एकमात्र उपलब्ध पुस्तक 'रास–सर्वस्व' है, जो एक आधुनिक कृति है और जिसकी रचना रासघाटियों में प्रचलित अनुश्रुतियों एवं किंवदंतियों के आधार पर हुई है। इसमें रास के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से लिखा मिलता है। अतएव इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वान् इसकी ओर बड़ी ललक के साथ दौड़ पड़े हैं। इस पुस्तक में रासानुकरण के प्रवर्त्तकों एवं प्रचारकों के रूप में जिन धर्माचार्यों और भक्त महानुभावों के नामों का उल्लेख हुआ है, उनके सम्प्रदाय वालों ने उसकी प्रामाणिकता की परीक्षा किये बिना ही उसे स्वीकार कर लिया है। फिर उन्होंने अपने–अपने तर्क–कुतर्कों से उसके अप्रामाणिक कथन को भी प्रामाणिक सिद्ध

करने का प्रयास किया है। उससे यह विवाद और भी जटिल हो गया है। इस सम्बन्ध में अपना अभिमत व्यक्त करने से पूर्व हम 'रास–सर्वस्व' के तद्विषयक उल्लेख को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हैं।

'रास-सर्वस्व' और उसका उल्लेख–

'रास सर्वस्व' एक आधुनिक कृति है, जिसकी रचना ब्रज के रासधारी बिहारीलाल के पुत्र राधाकृष्ण ने २०वीं शती में की है। इसके द्वितीय परिच्छेद के अन्तःसाक्ष्य से इसका रचनाकाल सं० १९५० के कुछ बाद का ज्ञात होता है। रचयिता और उसका घराना वल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी रहा है। पुस्तक का कुछ अंश पद्य में है और कुछ गद्य में है। इसमें ९ परिच्छेद हैं, जिन्हें 'नवनिधि' कहा गया है। प्रथम निधि में 'महानुभाव प्रमाण वर्णन' है। इसके आरम्भ में मंगलाचरण, फिर निज मत के आचार्य श्री विष्णुस्वामी और श्री वल्लभाचार्य आदि की वंदना है। इसी परिच्छेद में 'भगवद्भक्ति रसिक वर्णन' के अन्तर्गत स्वामी हरिदास, हित हरिवंश, ध्रुवदास, हित दामोदर, नागरीदास, हरिवंश, हरिनाथ, वल्लभरसिक, बालकृष्ण तुलाराम, चंदसखी, श्यामचरण दास का क्रमशः वर्णन किया गया है। रास–रसिकों में से कुछ महानुभावों का परिचय छप्पय छन्द में है। ये छन्द स्वयं रचयिता के न होकर चाचा वृन्दावनदास की एक अप्रकाशित रचना 'रसिक अनन्य परिचावली' के हैं; किन्तु उसके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। इन छन्दों को रचयिता ने अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर उन्हें विकृत रूप से प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक के द्वितीय परिच्छेद में 'रासानुकरण' के प्रचलन की किंवदंती का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि (श्यामा–श्याम के दिव्य) महल से ललिता रूप स्वामी हरिदासजी को रासानुकरण के प्रकट करने की आज्ञा प्राप्त हुई। उन्होंने सनकादि सम्प्रदाय के घमण्डदेव जी को इस रस रीति के अधिकारी समझकर अपने साथ लिया और उनसे कहा कि हम लोग मथुरा के विश्राम घाट पर विष्णुस्वामी के मत के पोषक आचार्य जी (श्री वल्लभाचार्य जी) के

पास चलें। उन्होंने ब्रज में अलौकिक सेवा–रीति का प्राकट्य किया है। वही हमारी मनोकामना की पूर्ति करेंगे। 'रास सर्वस्व' कार के शब्द इस प्रकार हैं–

श्री स्वामी हरिदास खास ललिता वपु तिनकौ।
प्रगट करन भई रास, महल तैं आज्ञा जिनकौं॥
नाम घमंड सनकादि संप्रदा, रसमई जिनकी।
अधिकारी रसमई समुझ, निर्मल बुधि तिनकी॥
श्री मधुपुरी समीप घाट विश्रांत नाम तहँ।
श्री आचारज विष्णुस्वामि मत पोषक हैं जहँ॥
कही चलो तिन पास, आस मेरी वे पुजवें।
सेवा–रीति अलौकिक प्रकटी है जिन ब्रज में॥

इस पर वे दोनों महानुभाव मथुरा जाकर श्री आचार्य जी से मिले। उन्होंने कुशल पूछकर उन्हें आसन दिया और उनके आगमन का कारण पूछा। तब स्वामी हरिदास जी ने कहा–'प्रभो! आप अन्तर्यामी और जगत के स्वामी हैं, आपसे कुछ नहीं छिपा है। फिर भी आप पूछते हैं, तब आप ऐसा उपाय करो, जिससे जन–समाज में रास–रस का प्राकट्य हो। हमारे मन में यही इच्छा थी, जिसे आपसे कह दिया। 'रास–सर्वस्व' कार के शब्द हैं–

तब स्वामी हरिदास कह्यौ अंतरजामी।
तुम तैं कछु नहिं छिपी, कहा पूछत जग–स्वामी॥
ऐसौ करौ उपाय, रास–रस प्रगटै जन में॥
जो कछु इच्छा रही कही तुम आगे मन में॥

स्वामीजी की अभिलाषा पूर्ण करने के उद्देश्य से श्री आचार्य जी ने प्राणायामपूर्वक दशों इंद्रियों को वश में किया। तभी आकाश से 'सप्तताल विस्तार' और रत्नों की आभा से जगमगाता विशाल मुकुट उतरा। उस अवसर पर विश्रामघाट पर कोई पर्व था, जिसके लिए ५२ राजा वहाँ आये हुए थे। उन सबने धूप, दीप, नैवेद्य से मुकुट का पूजन किया और फिर आचार्य जी की आज्ञा से ताम्रपत्र द्वारा उसे प्रमाणित किया। तभी सबके देखते हुए मुकुट लुप्त हो गया!

आकाश में तब जय–जयकार की ध्वनि हुई और देवताओं ने पुष्प–वर्षा की। उसके पश्चात् सभी राजागण अपने–अपने स्थानों को चले गये।

फिर श्री आचार्य जी ने भक्ति–परायण माथुरों को अपने निकट बुलवाया और उनसे ८ बालकों की माँग की। जब वे बालक आ गये, तब उनमें से एक को स्वामी हरिदासजी ने 'प्रियाजी' के रूप में और दूसरे को श्री आचार्य जी ने 'मोहन' के रूप में सजाया–

माथुर भक्ति परायन, तिनकौं निकट बुलाये।
परम मतौ हम देउ, अष्ट बालक मन भाये॥
श्रीस्वामी हरिदास, कियौ शृंगार प्रिया कौ।
श्री आचारज देव, कियौ मोहन रसिया कौ॥

फिर वृन्दावन आकर शास्त्रोक्त विधि से रासमण्डल का निर्माण किया। उस पर श्री युगलकिशोर की स्थापना की और सखियों को पधराया। साथ ही उन्होंने 'समाज' में 'कृष्ण–लीला' का गायन किया–

पुनि वृन्दावन आय, रासमण्डल निर्मान्यौ।
वेद–पुराण, शास्त्र तंत्रन, जा रीति बखान्यौ॥
ता मध जुगलकिशोर थापि, पुनि सखि पधराई।
आपुन कियौ समाज, कृष्ण–लीला तब गाई॥

महारास की लीला प्रारम्भ हुई, जिसमें लाल जी के स्वरूप के अन्तर्धान होने का और सखियों ने उनका गुण–गान करते हुए उन्हें वनों में ढूँढ़ने का अभिनय किया। किन्तु उस लीला में विचित्र बात यह हुई कि लाल जी का स्वरूप वास्तव में लुप्त हो गया! उससे उन रसिकजनों के हृदय में अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने उक्त घटना को 'प्रथम ग्रास' में ही 'मक्षिका–पात' समझा। उसके कारण रासानुकरण की वह प्रथम लीला निर्विघ्न पूर्ण न हो सकी–

महारास तब कियौ, लाल भये अन्तरधाना।
बन बन ढूँढत फिरैं, सखी करि करि गुणगाना॥

रसिक जनन के हृदय भयौ अति ही दुख दारन।
प्रथम ग्रास में भयौ, मक्षिका को यह पातन॥

उसके उपरान्त कहा गया है कि जब माथुर अपने पुत्रों को माँगने आये और उन्हें न पाने से झगड़ा करने लगे, तब उनसे कहा गया कि वे भगवान में तदाकार हो गये हैं। उन्होंने कहा—हमें इस बात का किस प्रकार निश्चय हो? तब सभी पुत्रों को लाल जी के समीप दिखला दिया गया। इस पर माथुर अपने–अपने घरों को चले गये। उसके उपरान्त श्री आचार्य जी ने घमण्डदेव जी से कहा, 'तुम ब्रजवासियों को अपने शिष्य बनाकर उनके द्वारा इस 'मार्ग' को चलाओ। यह आज्ञा देकर वे अपने स्थान को चले गये। तत्पश्चात् घमण्डदेव जी ललिता जी के ग्राम करहला गये। वहाँ के दो ब्राह्मण बन्धु उदयकरण और खेमकरण ने रासानुकरण की प्रथा का प्रचलन किया। 'रास–सर्वस्व' कार के शब्द हैं—

माथुर अपने पुत्रन कों, माँगन जब आये॥
अति झगड़ौं तिन कियौ, तबै यह करी वारता।
तुम्हरे पुत्रन की जु भई है, तदाकारता॥
तब उनके सब पुत्र लाल ढिंग दिये दिखाई।
अपने अपने घरन माथुरन किये पलायन।
घमंडदेव सों कह्यौ, सुनो गुरु–भक्ति परायन॥
तुम ब्रज के बासीन माँहि, कीजै शिष शाखा।
तिनसों यह मारग जु चलाओ, सुनि मम भाखा॥
ऐसे आज्ञा दई, गये अपने–अपने थल।
घमंडदेव पुनि गये, ग्राम ललित जहँ करहल॥
उदयकरण अरु खेमकरण द्वै भ्राता द्विजवर।
तिनही सौं रास प्रथा चली, सुनो रसिकवर॥

इसी परिच्छेद में आगे बतलाया गया है कि उदयकरण के पुत्र विक्रम ने औरंगजेब के समय में रास कर बादशाह को उसका परिचय दिया था। फिर उसने राजा जयसिंह को इतना प्रभावित

किया कि उसने अन्य रासधारियों के तो मुकुट छीन लिये, किन्तु विक्रम के परिवार वालों के लिए महल–हवेलियों का निर्माण कराया। उसने झूला वाला रास–चबूतरा भी बनवाया और घमंडदेव जी के समाधि–स्थल को जाकर देखा। रचयिता का कहना है, उसके उपरान्त रास की प्रणाली विकृत होकर लुप्त हो गयी थी। फिर तीन सौ वर्ष बाद बिहारीलाल ब्राह्मण ने इसे पुनः प्रचलित किया और विभिन्न स्थानों में जा–जाकर उस पद्धति का प्रचार किया था। उस बिहारीलाल का देहांत ५० वर्ष की आयु में मथुरा में सं० १९३५ के अगहन माह की शुक्ला सप्तमी को हुआ था।

इस प्रकार यह द्वितीय परिच्छेद 'रासलीलानुकरण' के प्रथम आयोजन की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि वह आरम्भिक लीला मथुरा के विश्रामघाट पर हुई थी अथवा वृन्दावन के नवनिर्मित 'रासमण्डल' पर। इसके साथ ही इसमें कई इतिहास विरुद्ध कथन भी हैं, जिनका उल्लेख आगे के पृष्ठों में यथास्थान किया जावेगा।

'रास–सर्वस्व' के 'लीलानुकरण प्राकट्य निरूपणम्' नामक तृतीय परिच्छेद में नारायण भट्ट जी का और 'प्रत्यक्ष निरूपण' नामक चतुर्थ परिच्छेद में राजाराम, व्यास जी, चंदसखी, विट्ठल विपुल आदि भक्त महानुभावों की रास–निष्ठा का उल्लेख हुआ है। पंचम परिच्छेद में संस्कृत भाषा के कुछ उद्धरणों द्वारा रास का विवेचन है और षष्ठ परिच्छेद में 'रास का प्रयोजन' बतलाया गया है।

सप्तम परिच्छेद में 'रास के स्वरूप' का निरूपण हुआ है। इसमें लिखा गया है कि ग्वालियर के निकट परेवा नामक ग्राम में घमण्डदेव जी को मुकुट का दर्शन हुआ था। उसी समय उन्हें आज्ञा हुई कि मथुरा में गये हुए विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के आचार्य की सम्मति से रास का प्रचार करो। घमण्डदेव जी ने करहला जाकर वहाँ के दो ब्राह्मण बन्धु उदयकरण और खेमकरण को बुलाया और उन्हें रासानुकरण करने को कहा। फिर उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी वंश परम्परा में यह सेवा सदा रहेगी।

इसके उपरान्त उदयकरण के बाद की २७ पीढ़ियों का उल्लेख करते हुए उसके वंशजों के नाम बिहारीलाल तक लिखे गये हैं। बिहारीलाल के बड़े पुत्र का नाम गोवर्धन और छोटे का नाम राधाकृष्ण था। राधाकृष्ण इस पुस्तक का रचयिता है।

अष्टम् परिच्छेद में 'रासानुकरण' के पाँच 'आचारी' सूरदास, स्वामी हरिदास, विट्ठल विपुल, हित हरिवंश और व्यास जी का संक्षिप्त वर्णन है। फिर कुछ अन्य व्यक्तियों का भी उल्लेख है।

इस पुस्तक के अन्तिम नवम् परिच्छेद में 'रासानुकरण' की १८ लीलाएँ लिखी गई हैं, जो विजय सखी कृत हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य कवियों की रचनाओं का भी संकलन है।

'रास सर्वस्व' की रचना रासधारियों में प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर हुई है। कहने को तो इसमें पर्याप्त सामग्री है, किन्तु यह अस्त–व्यस्त, पूर्वापर कथन–विरुद्ध एवं किंवदंतियों के घटाटोप से आच्छादित है। इसमें कुछ नामों और कतिपय प्रसंगों का उल्लेख तो इतने इतिहास विरुद्ध एवं अप्रामाणिक हैं कि जिनके कारण इस पुस्तक का महत्व ही समाप्त हो गया है। फिर भी अपने विषय की एकमात्र उपलब्ध रचना होने के कारण इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसमें रासानुकरण के प्रवर्तन एवं प्रचलन से सम्बन्धित जिन महानुभावों एवं घटनाओं का उल्लेख किया गया है, उन्हें पूरी सावधानी के साथ इतिहास की संगति से ही मान्यता देना उचित होगा।

'रास–सर्वस्व' कार ने रासानुकरण के प्रवर्तन एवं प्रचलन के लिए मुख्य रूप से स्वामी हरिदासजी, श्री घमण्डदेव जी और विष्णुस्वामी मत के आचार्य (श्री वल्लभाचार्यजी) का नामोल्लेख किया है। उनमें से श्री वल्लभाचार्यजी को उसने रासानुकरण के प्रवर्त्तन का प्रमुख श्रेय प्रदान किया है। स्वामी हरिदास जी को उसने प्रवर्त्तक नहीं; वरन् प्रवर्त्तन में सहायक बतलाया है। श्री घमण्डदेवजी को उसने स्वामी हरिदासजी का सहयोगी और श्री वल्लभाचार्यजी के आदेशानुसार लीलानुकरण का प्रचलनकर्त्ता कहा है।

इस प्रकार उसके लिखे अनुसार श्री वल्लभाचार्य ने स्वामी हरिदासजी की इच्छानुसार रासानुकरण का सर्वप्रथम आयोजन किया था, जिसे उन्होंने माथुर ब्राह्मणों के बालकों से कराया था। उसकी भावी व्यवस्था के लिए उन्होंने श्रीघमण्डदेवजी को प्रेरित किया था। श्री हित हरिवंशजी को 'रास सर्वस्व' में रास के रसिक एवं आचार्य बतलाया गया है और नारायण भट्टजी को उसमें लीलानुकरण का प्राकट्यकर्त्ता लिखा गया है। हम इन पाँचों महानुभावों की वास्तविक देन की समीक्षा आगामी पृष्ठों में करेंगे।

'रास–सर्वस्व' कार राधाकृष्ण रासधारी वल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी था। इस ग्रन्थ की रचना करने में उसका उद्देश्य अपने सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्यजी को रासानुकरण के प्रवर्त्तक का और अपने पूर्वजों को उसके प्रमुख प्रचारक होने का गौरव प्रदान करना है। इसके सम्बन्ध में भी हम आगामी पृष्ठों में यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

रासानुकरण के सम्भावित प्रवर्तक एवं उन्नायक–

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी–'रास–सर्वस्व' कार के मतानुसार स्वामी हरिदासजी और श्री घमण्डदेवजी की प्रार्थना पर 'विष्णुस्वामी मत के पोषक आचार्यजी' ने रासानुकरण का प्रथम आयोजन किया था। इस प्रकार उसने उक्त आचार्यजी को रासानुकरण के प्रवर्त्तक होने का श्रेय दिया है, किन्तु उसने उन आचार्यजी के नाम का उल्लेख क्यों नहीं किया; इसका कारण समझ में नहीं आता है। वैसे उसका अभिप्राय श्री वल्लभाचार्यजी के अतिरिक्त किसी अन्य धर्माचार्य से नहीं हो सकता; क्योंकि उन्हीं ने श्री विष्णुस्वामीजी की उच्छिन्न गद्दी को पुनर्स्थापित कर उनके मत को परिष्कृत रूप में 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रचलित किया था। वल्लभ सम्प्रदाय में भी 'श्री आचार्यजी' से अभिप्राय श्री वल्लभाचार्यजी से ही होता है।

'रास–सर्वस्व' कार ने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि रासानुकरण का वह आरम्भिक आयोजन कहाँ किया गया था?

मथुरा के विश्राम घाट पर अथवा वृन्दावन के नवनिर्मित तथाकथित 'रासमण्डल' पर? जैसा पहले लिखा जा चुका है कि श्री आचार्यजी ने उक्त आयोजन के लिए मथुरा के माथुर ब्राह्मणों से उनके ८ बालकों को माँग लिया था। उनमें से एक का शृंगार स्वामी हरिदासजी ने 'प्रिया जी' के रूप में और दूसरे का शृंगार श्री वल्लभाचार्यजी ने 'मोहन' के रूप में किया था। उनके द्वारा 'महारास' की लीला का अनुकरण किये जाने का उल्लेख करने से पहले ही 'रास–सर्वस्व' कार ने वृन्दावन में रासमण्डल के निर्माण का कथन किया है। इससे यह समझा जा सकता है कि रासलीलानुकरण का वह प्रथम समारोह वृन्दावन में हुआ होगा; किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब यह मान लिया जाये कि वे तीनों महानुभाव सजे हुये स्वरूपों के साथ मथुरा से वृन्दावन गये थे और वहाँ रासमण्डल का निर्माण कराकर उस पर उन्होंने रासलीलानुकरण का अभिनय कराया था। ऐसा मानना सर्वथा हास्यास्पद है। ऐसा जान पड़ता है कि रचयिता अथवा लिपिक की असावधानी से उक्त प्रसंग में क्रम–भंग हो गया है। वस्तुतः रासमण्डल निर्माण से सम्बन्धित चार पंक्तियाँ लीलाभिनय किये जाने के पश्चात् लिखने की बजाय पहले लिख दी गई हैं। 'रास–सर्वस्व' कार का यह अभिप्राय ज्ञात होता है कि पहले मथुरा के विश्रामघाट पर लीलाभिनय हुआ था। उसके पश्चात् वृन्दावन में तथाकथित रासमण्डल का निर्माण किया गया था।

'लीलाभिनय' का वह आरम्भिक समारोह किस संवत् में हुआ था, इसे भी 'रास–सर्वस्व' कार ने नहीं बताया है; किन्तु उस संवत् में स्वामी हरिदासजी और श्री वल्लभाचार्यजी दोनों का ब्रज में उपस्थित होना आवश्यक है। वह संवत् कौन–सा हो सकता है, इसका निर्णय होना आवश्यक है।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, श्री आचार्यजी ने अनेक बार देशव्यापी यात्राएँ की थीं, जिनमें तीन अधिक प्रसिद्ध हैं। उन यात्राओं के प्रसंग में वे ब्रज में आते थे और यहाँ की धार्मिक एवं

सांस्कृतिक गतिविधियों में योग देते थे। अपनी प्रथम यात्रा के अवसर पर वे सं० १५५० में, द्वितीय यात्रा के अवसर पर सं० १५५६ में ब्रज में आये थे; किन्तु तब तक स्वामी हरिदासजी का वृन्दावन आगमन नहीं हुआ था। 'निजमत सिद्धान्त' के अनुसार स्वामीजी सं० १५६२ में वृन्दावन में आकर बसे थे।

श्री आचार्यजी अपनी तृतीय यात्रा के अन्त में पुनः सं० १५६४ में ब्रज में आये थे। तब वे मथुरा से तत्काल गोवर्धन चले गये थे। उस समय स्वामीजी भी वृन्दावन में उपस्थित थे। यदि 'रास–सर्वस्व' कार के कथन को प्रामाणिक माना जाय, तब लीलाभिनय के आरम्भिक समारोह का वही संवत् हो सकता है। तब तक श्री आचार्यजी द्वारा गोवर्धन के गिरिराज पर श्रीनाथजी की सेवा का प्रचलन किया जा चुका था; जिसका संकेत 'रास–सर्वस्व' में भी किया गया है। उस समय श्रीनाथजी के मन्दिर–निर्माण का कार्य चल रहा था; अतः उक्त 'लीलाभिनय' का स्थल मथुरा अथवा वृन्दावन के बजाय गोवर्धन स्थित श्रीनाथजी का मन्दिर भी हो सकता है, किन्तु तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति उस समारोह के अनुकूल नहीं थी। इसलिए उक्त घटना की प्रामाणिकता पर भी प्रश्न चिह्न लग जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लीलाभिनय के संभावित सं० १५६४ में दिल्ली के असहिष्णु सुलतान सिकंदर लोदी का दमनचक्र भीषण वेग से चल रहा था। उसकी विरोधी नीति के कारण समस्त ब्रज में भय का वातावरण व्याप्त था। मथुरा में हिन्दुओं को यमुना में स्नान तक नहीं करने दिया जाता था। वे विश्राम घाट पर क्षौर कर्म भी नहीं करा सकते थे। सिकन्दर लोदी के कर्मचारी उन्हें अनेक प्रकार से उत्पीड़ित करते थे। उसी काल में सुलतान ने हिन्दुओं के मन्दिरों को ध्वस्त करने का आदेश जारी किया था। उसके परिपालन के लिए शाही सैनिकों ने गोवर्धन स्थित श्रीनाथ जी के निर्माणाधीन मंदिर को ध्वस्त कर दिया था। पूरनमल के मिस्त्री बार–बार मन्दिर

बनाते थे और शाही सैनिक हर बार उसे तोड़ देते थे। तब श्रीनाथजी के पुजारी भयभीत होकर श्रीनाथजी के स्वरूप को गोवर्धन के बीहड़ वनों में छिपाते रहते थे। विशेष विवरण के लिए लेखक कृत 'ब्रजस्थ वल्लभ सम्प्रदाय का इतिहास' और 'ब्रज के धर्म–सम्प्रदायों का इतिहास' नामक ग्रन्थ देखिये। ऐसी भयानक स्थिति में 'रास–सर्वस्व' के कथनानुसार न तो मथुरा के विश्राम घाट पर कोई पर्व हो सकता था और न वहाँ ५२ राजाओं की भीड़ एकत्र हो सकती थी, साथ ही 'लीलानुकरण' जैसा प्रदर्शन भी न तो मथुरा–वृन्दावन में हो सकता था और न गोवर्धन में। ऐसी स्थिति में श्री वल्लभाचार्यजी द्वारा कराये गये 'लीलानुकरण' से सम्बन्धित 'रास–सर्वस्व' का पूर्वोक्त कथन अप्रामाणिक सिद्ध होता है। वस्तुतः वह रासधारियों में प्रचलित ऐसी किंवदन्ती मात्र है, जिसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

किन्तु श्री वल्लभाचार्यजी की रास–निष्ठा और उनकी रास सम्बन्धी देन इतिहास–सम्मत तथा प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित है। श्री आचार्यजी ने श्रीमद्भागवत की 'सुबोधिनी' नामक टीका की रचना की थी। उसके दशम स्कन्ध की 'रास पंचाध्यायी' पर उनका मार्मिक एवं सरस विवेचन उपलब्ध है। वे अपने अनुगामी भक्तों में सदैव उस पर प्रवचन किया करते थे। उन्होंने गोवर्धन–गिरिराज पर जो श्रीनाथजी की सेवा प्रचलित की थी, उसमें धार्मिक प्रवचनों के अवसर पर 'रास–पंचाध्यायी' की कथा–वार्ता और वर्षोत्सव सम्बन्धी कीर्तन में 'रास' के पदों का गायन किया जाता था। उनकी प्रेरणा से उनके वरिष्ठ शिष्य सर्वश्री कुम्भनदास, सूरदास, कृष्णदास और परमानन्ददास ने ब्रजभाषा में रास के सैकड़ों पदों की रचना की थी, जिन्हें वे श्रीनाथजी के समक्ष विविध राग–रागिनियों में स्वर, ताल एवं लय के साथ वाद्ययन्त्रों की संगति से गाते थे। इस प्रकार चिन्तन–मनन, कथा–प्रवचन और गायन–वादन के रूप में 'रासानुकरण' के आरम्भिक प्रवर्तक होने का श्रेय श्री वल्लभाचार्यजी को दिया जा सकता है। उन्होंने जिस रासानुकरण का प्रवर्त्तन किया

था, वह 'भावनात्मक रास' था। नाट्यपरक अभिनयात्मक 'रासलीलानुकरण' का प्रचलन श्री आचार्यजी के तिरोधान के उपरान्त उनके यशस्वी पुत्र गो० श्री विट्ठलनाथजी (सं० १५७२–सं० १६४२) के काल में हुआ था। इसका उल्लेख आगे किया जावेगा।

श्री घमण्डदेवजी किंवा घमण्डी स्वामीजी—'रास–सर्वस्व' में सनकादि (निम्बार्क) सम्प्रदाय के श्री घमण्डदेवजी का उल्लेख 'रासानुकरण' को श्री वल्लभाचार्यजी द्वारा प्रवर्तित कराने में स्वामी हरिदासजी के सहयोगी और फिर 'लीलानुकरण' के प्रारम्भिक प्रचलनकर्ता के रूप में किया गया है। उसमें लिखा है, जब श्री वल्लभाचार्यजी द्वारा आयोजित रासाभिनय के प्रथम प्रदर्शन में ही विघ्न पड़ गया, तब उसकी भावी व्यवस्था करने की समस्या करने की समस्या उत्पन्न हो गई थी। उसके समाधान के लिए श्री आचार्यजी ने श्री घमण्डदेवजी से कहा कि वे ब्रजवासियों को अपने शिष्य बनाकर उनके द्वारा 'लीलानुकरण' की भावी व्यवस्था करें। फलतः श्री घमण्डदेवजी ने ललिता के ग्राम करहला के दो ब्राह्मण बन्धु उदयकरण और खेमकरण से 'लीलानुकरण' का प्रचलन कराया था।

इस प्रकार का कथन करने से 'रास–सर्वस्व' कार ने श्री वल्लभाचार्यजी, स्वामी हरिदासजी और श्री घमण्डदेवजी के नामोल्लेख की भूमिका में अपने पूर्वज करहला निवासी उक्त ब्राह्मण बन्धुओं को ही 'लीलानुकरण' के वास्तविक प्रचलनकर्त्ता होने का श्रेय प्रदान किया है। 'रास–सर्वस्व' कार का यह कथन कहाँ तक समीचीन है, इस पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

निम्बार्क सम्प्रदायी श्री घमण्डदेवजी का मूल नाम उद्धवजी था। वे श्री हरिव्यासदेवजी के बारह प्रधान शिष्यों में चतुर्थ थे। उन्हें अपने आराध्य के अनुग्रह का बड़ा अभिमान (घमण्ड) था। अतएव वे निम्बार्क सम्प्रदाय में 'उद्धव घमण्डदेव' अथवा 'घमण्डीजी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। उनका जन्म–स्थल भीमटोड़ा (राजस्थान) के निकट का 'दूबरदू' ग्राम है। उनका प्रधान स्थान 'कुंडल' (जि०

रोहतक – हरियाणा) है। वहीं पर उनका समाधि–स्थल भी है।[1]

निम्बार्क सम्प्रदाय में कोई ऐसा समकालीन उल्लेख नहीं मिलता है, जिसमें घमण्डदेव जी का सम्बन्ध 'रासलीलानुकरण' से बतलाया गया हो। सर्वश्री नाभाजी, प्रियादासजी और ध्रुवदासजी ने उस काल के विख्यात भक्तजनों का गुण–गान करते हुए उनकी कतिपय विशेषताएँ भी बतलायी हैं। किन्तु उनमें से किसी ने भी घमण्डदेवजी की रासविषयक विशिष्टता का उल्लेख नहीं किया। नाभाजी ने (भक्तमाल, छप्पय सं० ९४ में) उनका 'घमण्डी' नाम से उल्लेख करते हुए उनकी गणना वृन्दावन–माधुरी के आस्वादक भू गर्भ–जीवादि १३ भक्तजनों में की है और उन्हें ठाकुर श्री युगल–किशोरजी का सेवक बतलाया गया है–

घमंडी जुगलकिसोर भृत्य, भूगर्भ – जीव दृढ़ व्रत कियौ।
वृन्दावन की माधुरी, इन मिलि आस्वादन कियौ॥

प्रियादासजी ने नाभाजी द्वारा वर्णित भक्तजनों की महत्ता का विस्तृत कथन किया है; किन्तु उन्होंने 'घमण्डी' पर कुछ नहीं लिखा। ध्रुवदासजी ने ('भक्त–नामावली' दोहा सं० ३१ में) 'घमण्डी' को रस में निमग्न एवं निज धाम वृन्दावन में वंशीवट के समीप निवास करने वाला और श्री श्याम–श्यामा का गायक एक भक्तजन बतलाया है–

घमंडी रस में घुमड़ि रह्यो, वृन्दावन निज धाम।
वंसीवट तट वास किय, गाये स्यामा – स्याम॥

उपर्युक्त उल्लेखों में से किसी में भी न तो श्री घमण्डदेवजी को 'रासलीलानुकरण' का प्रचलनकर्ता कहा गया है और न उन्हें करहला ग्राम से सम्बन्धित बतलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि निम्बार्क सम्प्रदायी श्री घमण्डदेवजी का उनमें से किसी से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। निम्बार्क सम्प्रदाय का भी करहला ग्राम से कभी कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इस सम्प्रदाय के ब्रज में प्राचीन स्थल निंबग्राम (गोवर्धन) तथा मथुरा हैं। यदि निम्बार्क सम्प्रदायी घमण्डदेवजी

---

१. श्री आचार्य–परम्परा–परिचय, पृष्ठ २४।

'रासलीलानुकरण' का आरम्भ करते, तब वे उसे उन्हीं स्थानों में से किसी में करते अथवा अपने प्रधान स्थल 'कुण्डल' (हरियाणा) में उसे कराते। इससे सिद्ध होता है कि 'रास–सर्वस्व' का तत्सम्बन्धी उल्लेख निम्बार्क सम्प्रदायी श्री घमण्डदेवजी के संदर्भ में प्रामाणिक नहीं है।

किन्तु 'रास–सर्वस्व' कार के उस अप्रामाणिक कथन को आधार मानकर निम्बार्क सम्प्रदाय के कुछ उत्साही जनों ने अब से कुछ समय पूर्व श्री घमण्डदेवजी को रासलीलानुकरण के प्रवर्त्तक सिद्ध करने का अभियान चलाया था। निम्बार्क सम्प्रदायी श्री विहारीशरण ने अपने सम्प्रदाय के उत्कर्ष का साधन मानकर उक्त अभियान में पहल की थी। उनका तत्सम्बन्धी मत 'श्री सुदर्शन' मासिक पत्र और 'मुकुट की लटक' नामक पुस्तिका में अभिव्यक्त हुआ है।

श्री विहारीशरणजी के उक्त कथन की उग्र प्रतिक्रिया हुई थी। उनके मत का सर्वप्रथम खण्डन ब्रजमण्डल के दिवंगत गौड़ीय विद्वान् बाबा कृष्णदास ने 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' नामक पुस्तिका की रचना द्वारा किया था। बाबाजी के मतानुसार 'रासलीलानुकरण' के प्रचलन का श्रेय नारायण भट्टजी को है, न कि घमण्डदेवजी को। हमने भी अपने ग्रन्थ 'ब्रज के सांस्कृतिक इतिहास' में श्री विहारीशरणजी के मत की निस्सारता के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है।[१]

किन्तु श्री घमण्डीजी और करहला ग्राम से 'रासलीलानुकरण' का सम्बन्ध होने की जनश्रुति इतने व्यापक रूप में प्रचलित रही है कि उसमें निहित वास्तविक तथ्य से परिचित होना आवश्यक है।

ऐसा अनुमान होता है, 'घमण्डी' नामक कई भक्तजन विभिन्न

---

१. लेखक कृत 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास', प्रथम खण्ड 'ब्रज संस्कृति की भूमिका' में 'ब्रज की रासलीला', पृष्ठ १८०–१८२।

कालों में हुए हैं। उनमें से एक निम्बार्क सम्प्रदायी उद्धव घमण्डदेव पूर्ववर्ती थे। जैसा पहले लिखा जा चुका है, उनका 'लीलानुकरण' से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। दूसरे 'घमण्डी' वृन्दावन में वंशीवट के समीप निवास करते थे। वृन्दावन का वंशीवट पुराण प्रसिद्ध रास-स्थल है; किन्तु उसके समीप निवास करने मात्र से उक्त 'घमण्डी' को 'रासलीलानुकरण' का प्रचलनकर्ता मानना कष्ट कल्पना होगी। तीसरे 'घमण्डी' वल्लभ सम्प्रदायी घमण्डी स्वामी थे, जो करहला ग्राम के निवासी थे। वहाँ पर ही उनका जन्म हुआ और वहीं उनका देहावसान भी। उसी स्थल पर उनकी समाधि बनी हुई है। उन्होंने अपने बालकों तथा भाई-भतीजों के साथ 'लीलानुकरण' का प्रचलन किया था और विभिन्न स्थानों में उसका प्रदर्शन कराया था। वंशीवट एवं करहला निवासी दोनों 'घमण्डीजी' पूर्वोक्त निम्बार्क सम्प्रदायी उद्धव घमण्डदेवजी के परवर्ती थे। उन तीनों का नाम-साम्य होने से उन्हें एक ही व्यक्ति मानने की भूल की जाती रही है।[१]

अब निम्बार्क सम्प्रदायी घमण्डदेवजी की विद्यमानता के काल पर भी विचार कर लेना उचित होगा। निम्बार्क सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार श्री घमण्डदेवजी का आविर्भाव-काल सं० १५०० के लगभग है।[२] किन्तु इतिहास की संगति और माधुर्य भक्ति के विकास की दृष्टि से उनका उपस्थिति-काल प्रायः डेढ़ शती पश्चात् सिद्ध होता है। हमने उनके दीक्षा-गुरु श्री हरिव्यासदेवजी की विद्यमानता का काल सं० १५५० से सं० १६३० के लगभग निर्धारित किया है।[३] इस हिसाब से श्री घमण्डदेवजी का उपस्थिति-काल सं० १५८० से सं० १६६० के लगभग माना जा सकता है। 'रास-सर्वस्व' में श्री घमण्डदेवजी को श्रीवल्लभाचार्यजी के समय

---

१. श्री रामनारायण अग्रवाल कृत 'ब्रज का रास-रंगमंच, पृष्ठ १०२-१०४ में भी एक के बजाय तीन घमण्डी देव का उल्लेख हुआ है।

२. 'श्री सर्वेश्वर' का 'ब्रजलीला अंक', पृष्ठ १३९।

३. लेखक कृत 'ब्रज के धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास', पृष्ठ ३४७।

में उपस्थित लिखा गया है; किन्तु वे श्री आचार्यजी के पुत्र श्री विट्ठलनाथजी के समय में विद्यमान जान पड़ते हैं।

वृन्दावन में वंशीवट के समीप रहने वाले घमण्डीजी का उल्लेख ध्रुवदासजी ने 'घमण्डी रस में घुमड़ि रह्यौ' द्वारा वर्तमान काल की क्रिया में किया है। ध्रुवदासजी का रचना काल सं० १६४० से सं० १७०० के लगभग है।[१] वही काल उक्त घमण्डीजी का भी हो सकता है। इस प्रकार वे निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य घमण्डदेवजी और वल्लभ सम्प्रदायाचार्य विट्ठलनाथजी के कुछ परवर्ती जान पड़ते हैं।

करहला निवासी घमण्डी स्वामी की विद्यमानता का काल जानने का कोई विश्वसनीय प्रमाण प्रा:प्त नहीं है। इस सम्बन्ध में 'रास–सर्वस्व'–कार का कथन बड़ा अस्त–व्यस्त है। एक स्थल पर उसने उनको करहला के उदयकरण का समकालीन बतलाया है और दूसरे स्थल ५र उसने उदयकरण के पुत्र विक्रम को आमेर के राजा सवाई जयसिंह के समय में उपस्थित माना है। इससे जहाँ उदयकरण का काल १६वीं शती होता है, वहाँ उसके पुत्र विक्रम का काल १८वीं शती आता है; जो सम्भव नहीं है। हमारे मतानुसार ये दोनों काल अशुद्ध हैं। घमण्डी स्वामी की विद्यमानता श्री विट्ठलनाथजी के समय में ज्ञात होती है; क्योंकि उसी काल में उन्होंने रासमण्डली का गठन किया था और विभिन्न स्थानों में लीलानुकरण का प्रदर्शन कराया था। इस प्रकार करहला निवासी 'घमण्डी स्वामी' वंशीवट निवासी 'घमण्डीजी' के कुछ पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

श्री रामनारायण अग्रवाल ने करहला निवासी घमण्डी स्वामी की रासानुकरण विषयक देन पर विस्तार से लिखा है और उसे 'रास–गठन के प्रयोग' की संज्ञा दी है। उन्होंने उसके आरम्भ का काल 'सं० १५५०–५५ के आस–पास' का माना है।[२] वह काल

१. लेखक कृत 'ब्रज के धर्म–संप्रदायों का इतिहास', पृष्ठ ४००।

२. ब्रज का रास–रंगमंच, पृष्ठ १०१।

मजहबी तानाशाह सिकन्दर लोदी के उत्पीड़न का है; जो रासानुकरण के आयोजन अथवा रास–गठन के प्रयोग के लिए कदापि अनुकूल नहीं था। इसलिए उसकी अप्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है।

श्री स्वामी हरिदासजी—'रास–सर्वस्व' कार ने लिखा है कि रासायोजन की इच्छा सर्वप्रथम स्वामी हरिदासजी के मन में उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार रासानुकरण के प्रचलन में स्वामीजी की प्रमुख भूमिका रही है; किन्तु वह उसके आरम्भकर्त्ता अथवा प्रवर्त्तक के रूप में न होकर प्रधान सहायक के रूप में हैं। जैसा पहले लिखा जा चुका है, स्वामी हरिदास की इच्छानुसार श्री वल्लभाचार्यजी ने रासानुकरण का प्रथम आयोजन किया था।[१] 'रास–सर्वस्व' कार का यह कथन कहाँ तक प्रामाणिक है, इसके सम्बन्ध में गत पृष्ठों में विचार किया जा चुका है।

इसी प्रसंग में 'रास–सर्वस्व' कार ने लिखा है कि मथुरा से वापस जाने पर, स्वामी हरिदासजी ने वृन्दावन में 'रास मण्डल' का निर्माण कराया था। उस पर उन्होंने श्री युगल किशोरजी को 'स्थापित' किया; सखियों को 'पधराया' और 'समाज' का आयोजन कर कृष्ण–लीला का गायन किया था।[२] यद्यपि श्री वल्लभाचार्यजी के संदर्भ में हम इस प्रसंग की अवास्तविकता पर प्रकाश डाल चुके हैं; तथापि यहाँ स्वामी हरिदासजी के संदर्भ में भी उसका परीक्षण करना उचित होगा।

डॉ० गोपालदत्त शर्मा ने स्वामी हरिदासजी पर विद्वत्तापूर्ण शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत किया है, जो 'स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी–साहित्य' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमें स्वामीजी की रासविषयक देन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा गया है। इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में स्वामीजी का 'जीवन–चरित्र'

---

१. रास–सर्वस्व, द्वितीय निधि, पृष्ठ ८।

२. पुनि वृन्दावन आय, रासमंडल निर्मान्यौ।
ता मध जुगल किसोर थापि, पुनि सखि पधराई।
आपुन कियौ समाज, कृष्ण–लीला तब गाई॥ (द्वितीय निधि)

वर्णित है। उसमें उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में श्री वल्लभाचार्यजी का भी उल्लेख है। उसमें स्वामीजी द्वारा मथुरा के विश्रामघाट पर 'सर्वप्रथम रासलीलानुकरण आरम्भ कराने' विषयक किंवदंती की दो पंक्तियों में चर्चा है। इसके सम्बन्ध में डॉ० गोपालदत्त जी का कथन है–हरिदासी सम्प्रदाय के ग्रन्थों में कहीं इसका उल्लेख नहीं मिलता।'[१]

वास्तविक बात यह है कि स्वामी हरिदासजी के वृन्दावन आगमन के उपरान्त उनका कभी किसी स्थान पर जाना सर्वथा अप्रामाणिक है। इसी प्रकार उनके द्वारा वृन्दावन में रासमण्डल निर्मित कराने की बात भी प्रामाणिक नहीं है। यदि 'रास–सर्वस्व' के उक्त कथन को मान्यता दी जायेगी, तब यह भी मानना होगा कि स्वामीजी का वह तथाकथित रासमण्डल श्री हितहरिवंशजी द्वारा निर्मित रासमण्डल से पहले बना था। किन्तु इसके समर्थन में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

स्वामी हरिदासजी सर्वस्व त्यागी सन्त, रसिक भक्त, संगीतज्ञ–शिरोमणि और विख्यात धर्माचार्य थे। उन्होंने श्री कुंजविहारीजी की रसोपासना का प्रचलन किया था। उनके जीवन–वृत्त की घटनाओं से सम्बन्धित दो मत प्रचलित हैं। इनमें से एक मत का आधार भक्तवर किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ है। दूसरे मत का आधार अनिश्चित है। इसलिए स्वामीजी के जीवन–वृत्त के सम्बन्ध में 'निज मत सिद्धान्त' का उपयोग अनिवार्य रूप से होता रहा है; यद्यपि इसकी अनेक बातें अप्रामाणिक एवं परस्पर विरुद्ध हैं।

स्वामीजी की जन्म–तिथि, उनके वृन्दावन आगमन और वहाँ निवास करने की कालावधि 'निज मत सिद्धान्त' में इस प्रकार वर्णित है–

संवत् पंद्रह सै सैंतीसा। भादों शुक्ल अष्टमी दीसा॥
बुद्धवार मध्याह्न विचार्यौ। श्री हरिदास प्रगट तनु धार्यौ॥

---

१. स्वामी हरिदासजी का सम्प्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृष्ठ १५०।

गृह में वर्ष पचीस बिताए। फिर वैराग्य–त्याग उपजाए॥
सत्तर वर्ष कीन्ह बन वासा। गुप्त भाव कीन्हौ परकासा॥

इसके अनुसार स्वामी हरिदासजी का जन्म सं० १५३७ की भाद्रपद शु० ८ बुधवार को हुआ था। वे अपनी २५ वर्ष की आयु तक गृहस्थ रहे थे। उसके उपरान्त वैराग्य धारण कर सं० १५६२ में वृन्दावन आये थे और वहाँ ७० वर्ष तक रहे थे। उनका निधन सं० १६३२ में वृन्दावन में हुआ था।

दूसरे मत के अनुसार उनका जन्म सं० १५६९ की पौष शु० १३ शुक्रवार को हुआ था और वे सं० १५९४ में वृन्दावन आये थे। इतिहास की संगति से यह मत पूर्वोक्त की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक ज्ञात होता है; किन्तु उसका आधार अनिश्चित है। ऐसी स्थिति में 'निज मत सिद्धान्त' को अप्रामाणिक मानने वाले विद्वान् भी कुछ बातों के लिए उस पर ही आश्रित रहने को बाध्य हुए हैं।

'निज मत सिद्धान्त' में वर्णित स्वामीजी के वृन्दावन आने और वहाँ स्थायी रूप से निवास करने का काल सं० १५६२ तत्कालीन परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में अनुपयुक्त ज्ञात होता है। उस काल में वृन्दावन एक बीहड़ वन था और वहाँ चोर–डाकुओं एवं हिंसक पशुओं का बड़ा आतंक था। वहाँ के लीला–स्थल भी तब लुप्त हो गये थे। ऐसी स्थिति में वहाँ शान्तिप्रिय भक्तजनों को निश्चित होकर भजन–साधना करना भी बड़ा कठिन था।

गौड़ीय भक्त कवि कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसकी रचना भी 'निज मत सिद्धान्त' से प्रायः दो शताब्दी पूर्व हुई थी। उससे ज्ञात होता है कि श्री चैतन्यदेव जी ने सं० १५७३ के लगभग ब्रज की यात्रा की थी। उस समय तक वृन्दावन की स्थिति एक बीहड़ वन के सदृश थी। प्रायः वैसी ही दशा श्री हितहरिवंशजी के वृन्दावन आगमन काल सं० १५९० तक रही थी। उस परिस्थिति में स्वामी हरिदासजी का वहाँ सं० १५६२ से ही निवास करना सम्भव नहीं मालूम होता।

यदि यह मान लिया जाय कि स्वामीजी उस बीहड़ वृन्दावन के किसी एकान्त स्थल (जो कालान्तर में 'निधुवन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था) में अपनी एकाकी साधना करते रहे हों, तब भी रासानुकरण के किसी आयोजन के लिए वह परिस्थिति कदापि उपयुक्त नहीं थी। उसके लिए कुछ अनुकूल वातावरण सं० १५९० के पश्चात् उस समय बना था, जब श्री हितहरिवंशजी ने वहाँ पर रासमण्डल का निर्माण कराया था। तब भी श्री स्वामीजी की भूमिका रासानुकरण के प्रवर्त्तक अथवा प्रमुख प्रचलनकर्त्ता के रूप में नहीं रही थी। वे श्री हितहरिवंश की तत्सम्बन्धी गतिविधियों में उनके प्रधान सहयोगी रहे थे। जब सं० १६०९ में श्री हितजी का निधन हो गया, तभी से श्री स्वामीजी की स्वतन्त्र गतिविधियाँ प्रकाश में आई थीं। उसी काल में श्री स्वामीजी ने वृन्दावन में रासानुकरण का नेतृत्व किया था।

श्री वसंत यामदग्नि ने रासलीला पर अनुसन्धान कर अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया है, जो 'रास–लीला तथा रासानुकरण विकास' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उसमें डॉ० यामदग्नि ने स्वामी हरिदासजी को रासानुकरण का प्रवर्त्तक सिद्ध करने का प्रयास किया है। आश्चर्य यह है कि उन्होंने अपने निष्कर्ष का आधार 'रास–सर्वस्व' में वर्णित स्वामीजी द्वारा श्री वल्लभाचार्यजी से भेंट करने के उसी प्रसंग को बनाया है, जिसमें स्वामीजी की भूमिका रासानुकरण के प्रवर्त्तक की नहीं; वरन् सहायक की है; जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। उसके वर्णन में जो ऐतिहासिक विसंगतियाँ हैं उसे भी यामदग्नि जी नहीं मानते हैं। उन्होंने लिखा है–'रास–सर्वस्व' के प्रस्तुत वर्णन को ऐतिहासिक विसंगतियों से युक्त नहीं माना जाना चाहिए।[1] किन्तु अपने इस उल्लेख के समर्थन में उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है।

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण–विकास, पृष्ठ १५३।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, 'निज मत सिद्धान्त' के अनुसार श्री स्वामी हरिदासजी का निधन ९५ वर्ष की आयु में सं० १६३२ में हुआ था। इस प्रकार वे श्री हितहरिवंशजी के निधन–काल सं० १६०९ के पश्चात् २३ वर्ष तक और जीवित रहे थे। उनका वह उत्तर जीवन मुगल सम्राट अकबर के उदार शासन–काल में बीता था। उस समय ब्रजमण्डल की अनुपम सांस्कृतिक उन्नति हुई थी और समस्त कलाओं का विकास हुआ था। तभी गान–वाद्य–नृत्य युक्त 'रासानुकरण' (नित्य रास) के साथ ही साथ नाट्याभिनय एवं कथोपकथनपरक 'लीलानुकरण' (रासलीला) का भी समुचित वातावरण बना था।

हमारे इस कथन का विरोध डॉ० यामदग्नि भक्तवर श्री विट्ठल विपुलजी और भक्त–कवि श्रीहरिरामजी व्यास के उदाहरणों द्वारा करना चाहते हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि वे दोनों प्रसंग तो श्री स्वामीजी के निधनोपरान्त के हैं। श्री हरिरामजी व्यास ने 'रास–लीलानुकरण' के जिस प्रदर्शन में अपना यज्ञोपवीत तोड़कर उससे श्री राधाजी के स्वरूप का नूपुर बाँधा था, वह बहुत बाद की; 'अर्थात् व्यासजी के उत्तर जीवन की घटना है। व्यासजी अत्यन्त दीर्घजीवी हुए थे। वे श्री स्वामीजी के निधन–काल सं० १६३२ के उपरान्त ३७ वर्षों तक, अर्थात् सं० १६६९ तक जीवित रहे थे। उससे तो बहुत पहले ही 'रासानुकरण' एवं 'लीलानुकरण' का व्यापक प्रचलन हो चुका था। इससे स्पष्ट होता है कि डॉ० यामदग्नि द्वारा प्रस्तुत श्री विट्ठल विपुलजी और श्री हरिराम व्यासजी के उदाहरणों से श्री स्वामी हरिदासजी को 'रासलीलानुकरण' का प्रवर्त्तक सिद्ध करना सम्भव नहीं है।

भक्तवर श्री व्यासजी ने श्री स्वामीजी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनके 'रास–रस गान' की प्रशंसा की है। उनके तत्सम्बन्धी पद की कुछ पंक्तियाँ निम्नांकित हैं—

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।
कुंज विहारी सेये बिन, छिन न करी काहू की आस॥
सेवा–सावधान अति जान, सुघर गावत दिन रस–रास॥[१]

इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ० यामदग्निजी कहते हैं–'इस संदर्भ में यह संदेह हो सकता है कि स्वामीजी का यह रास–गायन 'अनुकरणात्मक' रासलीला से सम्बन्धित न होकर 'भावात्मक' क्षेत्र की रासलीला से ही सम्बद्ध है। परन्तु 'व्यास वाणी' के एक अन्य पद से यह भ्रम सहज ही निर्मूल हो जाता है।[२] वह पद इस प्रकार है–

नाँचति नागरि नटवर वेष धरि, सुख–सागरहि बढ़ावति।
सरद सुखद निसि–ससि गो–रंजित, वृंदावन–छवि रुचि उपजावति॥
ताल लये गोपाल लाल संग, ललिता ललित मृदंग बजावति।
हरिवंशी हरिदासी गावति, सुघर प्रवीन रबाब बजावति॥
मिश्रित धुनि सुनि खग–मृग मोहित, जमुना जल न बढ़ावति।
हरषि रोम तन, सोम थकित धर, व्योम दिमान गिरावति॥
लेत तिरप विगलित मालावलि, कुसुमावलि वरषावति।
जय–जय साधु करत हरि सहचर, 'व्यास' चिराग दिखावति॥[३]

डॉ० यामदग्निजी ने यह पद उन लोगों के भ्रम–निर्मूलन के लिए उद्धृत किया है, जो स्वामीजी के 'रास–रस–गायन' को तथाकथित 'अनुकरणात्मक' न मानकर 'भावात्मक' मानने का संदेह कर सकते हैं। किन्तु वस्तुतः डॉ० यामदग्निजी स्वयं भ्रमित हो गये हैं। जहाँ नागरी श्री राधाजी नटवर वेश धारण कर नृत्य करती हैं; श्री गोपाललाल के ताल के संग ललिताजी मृदंग बजाती हैं; हरिवंशी–हरिदासी जैसी सहचरियाँ गाती एवं रबाब बजाती हैं, जिसकी मिश्रित ध्वनि को सुनकर खग–मृग मोहित हो जाते हैं, यमुना का जल स्थिर हो जाता है, चन्द्रदेव थकित हो जाते हैं; आकाशचारी देवगण अपने

१. व्यास–वाणी, पद सं० १२।
२. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ १५८।
३. व्यास–वाणी, पद सं० ६१८।

विमानों से पुष्प–वर्षा करते हैं; हरि–सहचर साधुजन जय–जयकार करते हैं और जहाँ व्यासजी दीपक दिखाते हैं, वह 'अनुकरणात्मक प्रत्यक्ष रासमण्डल का वैभव' कदापि नहीं हो सकता। वह तो 'नित्य रास' के अलौकिक वैभव का दिव्य कथन है। उक्त 'नित्य रास' में ही ललिताजी का स्वरूप बना हुआ बालक नृत्य करता है और समाजी मृदंग बजाता है। 'नित्य रास' में ही सहचरी हरिवंशी–हरिदासी का गायन करना एवं रबाब बजाना तथा व्यास सहचरी का दीपक दिखाना सम्भव हो सकता है। इस सुन्दर पद में व्यासजी ने जिस भावात्मक 'नित्य रास' का सांगोपांग दिव्य कथन किया है, उसे अनुकरणात्मक 'प्रत्यक्ष रास' से सम्बद्ध बतलाकर डॉ० यामदग्निजी ने उसके अलौकिक सौन्दर्य को ही समाप्त कर दिया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वामी हरिदासजी की उपासना नित्य विहारीजी के जिस भावात्मक 'नित्य रास' की है, वह अनुकरणात्मक 'प्रत्यक्ष रास' से बहुत परे की वस्तु है। स्वामीजी ने अपने ध्रुपदों में 'नित्य रास' के जिस रूप का गायन किया है, उसमें श्री श्यामा–कुंजविहारी सर्वथा एकांत में दिव्य क्रीड़ा करते हैं और भीड़ से पृथक् होकर नित्य निकुंज में अलौकिक विहार करते हैं। वहाँ पक्षियों सहित सखियों तक का प्रवेश नहीं है। वे कहते हैं, जो सुख इस प्रकार की एकाकी क्रीड़ा में है, वह 'दुचित' होने में कदापि नहीं है। स्वामीजी के उक्त दिव्य ध्रुपदों की कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) चलि री, भीर तें न्यारेई खैलैं। कुंज–निकुंज मंजु में झेलैं॥
पंछिन सहित सखी न कोई संग, तिहि बन चलि मिलि खेलैं॥
अब कैं बसंत न्यारेई खेलैं, काहू सौं न मिलि खेलैं, तेरी सौं।
(२) दुचित भए कछू न पाईयत, तू काहू सखी सों न मिलि, मेरी सौं॥[1]

जैसा आरम्भ में ही लिखा जा चुका है, जब कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों और उनके अनुगामी भक्तजनों ने कृष्ण–भक्ति के

---

१. केलिमाल, धपद संख्या १०० और १०१।

साधन रूप में 'रागानुकरण' के प्रचलन का उपक्रम किया था, तब उन्होंने विविध पुराणों, विशेष रूप से श्रीमद्‌भागवत पुराण की 'रास–पंचाध्यायी' से प्रेरणा प्राप्त की थी। इसीलिए 'रासानुकरण' के साथ ही साथ 'लीलानुकरण' में रुचि रखने वाले सभी धार्मिक मनीषियों ने 'रास पंचाध्यायी' को सर्वोपरि प्रमाण माना है। किन्तु स्वामी हरिदासजी द्वारा प्रचारित 'नित्य रास' के लिए किसी पूर्ववर्ती रचना की अपेक्षा उनकी 'वाणी' को ही प्रमाण माना गया है। श्री स्वामीजी और उनके अनुगामी रसिकाचार्यों एवं रसिक भक्तों की 'वाणी' हरिदासी सम्प्रदाय में भागवतादि पुराणों से बढ़कर वेद के समकक्ष मानी गई है–'वेद रसिकन की बानी' (श्री भगवत रसिकजी)।

'रासलीलानुकरण' वस्तुतः द्वापर युग में अवतरित श्रीकृष्ण की ब्रज–वृन्दावन लीलाओं का अनुकरण है; जिसमें उनकी प्रधानता अनिवार्य है। किन्तु स्वामी हरिदासजी द्वारा मान्य 'नित्य विहार' के सर्वस्व समस्त अवतारों के अवतारी श्री निकुंज विहारी हैं। स्वामीजी के पट्ट शिष्य और हरिदासी सम्प्रदाय के प्रमुख व्याख्याता श्री विहारिन दास कहते हैं–

श्री कुंजविहारी सर्वस–सार।
अंस–कला सब अवतारिन कौ, अवतारी भरतार॥

इस 'नित्य विहार' के लिए लक्ष्मीपति विष्णु ललचाते हैं। इसमें किसी देव–पितर की तो क्या, मर्यादा पुरुषोत्तम राम और षोडश कलाधारी लीला पुरुषोत्तम कृष्ण की भी गति नहीं है। श्री विहारिनदास का कथन है–

विहारिनि दास विहार कों लछिमीपति ललचाहिं।
एहि देव–पितर लीएँ फिरें, ह्यॉं राम–कृष्ण न समाहिं॥

इस प्रकार स्वामी हरिदासजी द्वारा मान्य 'नित्य विहारी' का 'नित्य रास' उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी धार्मिक मनीषियों की मान्यता से भिन्न एवं विलक्षण है। इसकी भावना इतनी सूक्ष्म है कि

इसे 'रासानुकरण' अथवा 'लीलानुकरण' के स्थूल रूपों से जोड़ना सर्वथा असंगत है।

साम्प्रदायिक क्षेत्र से बाहर जिन तटस्थ विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा की है, उनमें से एक डॉ० चन्द्रप्रकाश सिंह का अभिमत यहाँ दिया जाता है–

''जिन उल्लेखों के आधार पर हरिदासजी को रासलीला का प्रवर्त्तक कहा गया है, वे रासलीला के अनुकरण होने का असंदिग्ध निर्देश नहीं करते। वे भक्तों के समाज के ऐसे आयोजन प्रतीत होते हैं, जिनमें रासलीला का कीर्तन और गान मात्र होता होगा। स्वामीजी को 'रासलीलानुकरण' का प्रवर्त्तक या पथ–प्रदर्शक मानना उनकी सैद्धान्तिक निष्ठा को देखते हुए उचित प्रतीत नहीं होता।''[१]

सारांश यह है कि स्वामी हरिदासजी को प्रत्यक्ष रास के अनुकरणात्मक रूप का प्रवर्त्तक अथवा प्रचलनकर्त्ता बतलाना संगत नहीं है। उनकी निष्ठा 'नित्य रास' के भावात्मक स्वरूप के प्रति थी; जिसे उनके जैसे महान संगीताचार्य ने उत्कृष्ट गान–वाद्य से समृद्ध कर उसे कलात्मक रूप प्रदान किया था। यही रास के लिए उनकी अनुपम देन है।

श्री हित हरिवंशजी–'रास–सर्वस्व' में श्री हित हरिवंशजी का नामोल्लेख दो परिच्छेदों में किया गया है। प्रथम परिच्छेद के 'रास रसिक वर्णन' शीर्षक में और अष्टम् परिच्छेद के 'रासानुकरण' के पाँच अवतारी' शीर्षक में उनका उल्लेख है। इससे 'रास–सर्वस्व'–कार का श्री हितजी सम्बन्धी दृष्टिकोण का पता चलता है। उसने उन्हें 'रास–रसिक' और 'रासानुकरण' का आचार्य तो बतलाया है; किन्तु 'रासलीलानुकरण' का प्रवर्त्तक नहीं माना है।

श्री हित हरिवंशजी का जन्म मथुरा जिला के बाद नामक ग्राम में सं० १५५९ में उस समय हुआ था, जिस समय उनक

१. हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा, पृष्ठ ९०–९२।

माता–पिता ब्रज की यात्रा कर रहे थे। श्री हितजी का आरम्भिक जीवन देववन (जि० सहारनपुर, उ०प्र०) में बीता था। वे विवाहित थे और उनके तीन पुत्र थे। देववन में वे अपनी ३१ वर्ष की आयु तक रहे थे। तत्पश्चात् वे ब्रज के धार्मिक महत्त्व से प्रभावित होकर यहाँ आ गये थे और लीला–स्थल वृन्दावन में निवास करने लगे थे। जब वे ब्रज–वृन्दावन की ओर आ रहे थे, तब मार्ग में एक भक्तजन ने उन्हें श्री राधावल्लभजी का देव–विग्रह प्रदान किया, जिसे उन्होंने वृन्दावन में प्रतिष्ठित किया था। वे सं० १५९० के फाल्गुन मास में वृन्दावन आये थे और अपने अन्तिम काल तक वहाँ रहे थे। उनका देहावसान सं० १६०९ में वृन्दावन में ही हुआ था।[१] अपने १९ वर्षीय ब्रज–वास काल में वे वृन्दावन छोड़कर कभी किसी स्थल पर नहीं गये थे।

श्री हित हरिवंशजी जिस काल में वृन्दावन आये थे, उस समय यह पुरातन धार्मिक स्थल सघन वृक्षावली से आच्छादित और प्रायः निर्जन था। इसके अधिकांश भाग में हिंसक जीवों और चोर–डाकुओं का भय था। वहाँ पर तस्करी वृत्ति के एक प्रभावशाली जमींदार नरवाहन ने अपनी लूट–मार से बड़ा आतंक उत्पन्न कर रखा था। उन सब कारणों से वृन्दावन में निवास करना बड़ा कठिन था। यद्यपि श्री हितजी के वृन्दावन आगमन से पहले कई भक्ति सम्प्रदायों के महानुभाव ब्रज में आकर बस गये थे; तथापि उनके निवास–स्थल एवं धार्मिक गतिविधियों के केन्द्र वृन्दावन में न होकर अन्यत्र थे। निम्बार्क सम्प्रदायी भक्तजन गोवर्धन क्षेत्र के नीमगाँव, राधाकुण्ड एवं मथुरा में, पुष्टिमार्गीय भक्तजन गोवर्धन एवं गोकुल में, गौड़ीय भक्तजन राधाकुण्ड में निवास करते हुए अपने धार्मिक अभियानों का संचालन कर रहे थे। स्वामी हरिदासजी 'निज मत सिद्धान्त' के अनुसार वृन्दावन में विद्यमान थे। वे सर्वस्व त्यागी

१. लेखक कृत 'ब्रज के धर्म–सम्प्रदायों का इतिहास', पृष्ठ ३६४।

विरक्त सन्त थे और वहाँ की एकान्त वन–स्थली में भक्ति–साधना कर रहे थे।

श्री हितहरिवंशजी पहले महानुभाव थे, जो गृहस्थ और ठाकुरसेवी होते हुए भी वृन्दावन में आकर स्थायी रूप से रहे थे। उन्होंने सर्वप्रथम नरवाहन को अपना अनुगत किया। वह अपनी तस्करी वृत्ति को छोड़कर उनका निष्ठावान–सेवक बन गया।[१] उसके सहयोग से वृन्दावन में आवास की कुछ सुविधाएँ सुलभ हो गई थीं। फलतः अन्य भक्तजन भी वृन्दावन में आकर स्थायी रूप से रहने लगे। उससे वृन्दावन के भौतिक निर्माण का शुभारम्भ हुआ, जिसका श्रेय श्री हितहरिवंशजी को है। तत्पश्चात् हरिदासी, गौड़ीय एवं निम्बार्कीय महानुभावों ने भी उसके निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया था।

श्री हितहरिवंशजी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली और उनकी माधुर्यमूलक रसोपासना का भक्ति–सिद्धान्त इतना आकर्षक था कि बहुसंख्यक भावुक भक्तजनों के साथ ही साथ श्री प्रबोधानन्द जैसे प्रबुद्ध संन्यासी और श्री हरिराम व्यास जैसे प्रकाण्ड विद्वान भी उनके अनुगत हो गये थे।

जहाँ तक श्री हितजी की रासानुकरण विषयक देन का सम्बन्ध है, वह उनके द्वारा बनवाए गये उस रजनिर्मित चबूतरे से मानी जाती है, जिसे वृन्दावन के प्रथम 'रास मण्डल' होने का गौरव प्राप्त है। वे श्रीराधा–कृष्ण के युगल विहार एवं रसोपासना के प्रचारक रससिद्ध भक्त–कवि थे। उन्होंने राधा–प्रधान 'श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय' नामक भक्ति मार्ग की स्थापना की थी। वृन्दावन को उन्होंने प्रेमा भक्ति और रसोपासना का केन्द्र बना दिया था। वे उच्च कोटि के उत्कृष्ट भक्त–कवि थे। उनकी दो संस्कृत रचनाएँ और दो ब्रजभाषा रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। संस्कृत रचनाओं के नाम 'राधा–सुधानिधि' और 'यमुनाष्टक' है। ब्रजभाषा रचनाएँ 'हित चौरासी'

१. श्री भगवतमुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' में 'श्री नरवाहन की परचयी' देखिये।

और 'स्फुट वाणी' कहलाती हैं। इनमें से 'हित चौरासी' में ८४ और 'स्फुट वाणी' में २७ पद हैं। 'हित चौरासी' श्री हितहरिवंशजी की सर्वोत्तम रचना है। इसमें श्रीराधा–कृष्ण के नित्य विहार एवं उनकी दिव्य केलि–क्रीड़ाओं का रसपूर्ण कथन हुआ है। इस लघु रचना को 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' में भक्ति–सिद्धान्त का आधार ग्रन्थ माना जाता है। इसके गूढ़ भावों को स्पष्ट करने के लिए अनेक टीका–ग्रन्थों की रचना हुई है।

श्री हितहरिवंशजी और उनके राधावल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। एक ग्रन्थ 'श्री हितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' है, जिसके रचयिता श्री हितजी के वंशज एवं सम्प्रदाय–विशेषज्ञ श्री ललिताचरण गोस्वामी हैं। दूसरा ग्रन्थ 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' है। यह विद्वद्वर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का प्रसिद्धि प्राप्त उच्चकोटि का शोध–प्रबन्ध है।

प्रथम ग्रन्थ में श्री हितहरिवंशजी के भक्ति–सिद्धान्त और उनके द्वारा निरूपित प्रेमोपासना एवं युगल केलि का अधिकारपूर्ण विवेचन है। इसमें हितजी की उपासना को 'नित्य रास' पर केन्द्रित बतलाया गया है।[१] किन्तु रचयिता ने न तो हितजी को 'रासानुकरण' का प्रवर्त्तक कहा है और न 'नित्य रास' के स्वरूप का स्पष्टीकरण ही किया है।

दूसरा ग्रन्थ 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य', जो उच्चकोटि के शोध प्रबन्ध की समस्त विशेषताओं से युक्त है। इसमें डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति–सिद्धान्त और उसके प्रचुर साहित्य का विशद् विवेचन किया है। इसके सप्तम अध्याय का शीर्षक 'रासलीला का स्वरूप और महत्त्व' है। इसके अन्तर्गत श्री हितहरिवंशजी और राधावल्लभ सम्प्रदाय का

१. श्री हितहरिवंश गोस्वामी : 'सम्प्रदाय और साहित्य', पृष्ठ ८९।

रासानुकरण से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

इसके समर्थन में डॉ० स्नातकजी ने श्री हितजी की दो विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(१) रास का स्थल गोलोक के दिव्य वृन्दावन की अपेक्षा इस भूतल के वृन्दावन को बतलाना।[१] इससे उन्होंने स्थूल वृन्दावन को 'नित्य वृन्दावन' का गौरव प्रदान किया है।

(२) वृन्दावन में 'रास मण्डल' का निर्माण कराना। कई विद्वानों के मतानुसार उक्त रासमण्डल वृन्दावन का प्रथम रास मंच है।

इन विशेषताओं के कारण वे श्री हितहरिवंशजी को वृन्दावन में भावात्मक रासानुकरण के साथ–ही–साथ प्रत्यक्ष रासायोजन का भी प्रतिष्ठाता मानते हैं।[२] इस प्रकार जो तथ्य राधावल्लभीय विद्वान आचार्यों की दृष्टि में नहीं आया, उसे डॉ० स्नातक जी ने अपनी शोध–बुद्धि से उजागर किया है। इससे राधावल्लभियों को श्री हितहरिवंशजी और उनके सम्प्रदाय के महत्त्व–संवर्धन का एक नया सूत्र मिल गया।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के सुविज्ञ साधु श्री किशोरीशरण 'अलि' ने उक्त सूत्र को विस्तृत कर उससे 'रासलीलानुकरण' का विशद् ताना–बाना बुना है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने रासलीला विषयक बहुचर्चित ग्रन्थ 'रास–सर्वस्व' का उपयोग नहीं किया था। उन्होंने अपने शोधात्मक विवेचन को अन्य ग्रन्थों तक सीमित रखा है; किन्तु श्री अलिजी ने 'रास–सर्वस्व' का भी अध्ययन कर लिया है।

इस प्रकार सभी आवश्यक सामग्री का उपयोग करते हुए श्री अलिजी ने दो विस्तृत निबन्ध लिखे हैं। इनमें से एक बहुत पहले 'रासलीलानुकरण का उदय और उसकी परम्परा' शीर्षक से 'ब्रज–

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृष्ठ २७२।

२. वही, पृष्ठ २८९।

भारती' (वर्ष १७ सं० २०१६) के कई अंकों में छपा था। दूसरा निबन्ध अब से कुछ समय पहले 'रासलीलानुकरण और उसका प्राकट्य' शीर्षक से श्री हिताश्रम सत्संग भूमि, वृन्दावन की 'रजत जयंती स्मारिका' (श्रावण सं० २०३८) में प्रकाशित हुआ है। दूसरा निबन्ध प्रथम का ही पूरक और उसका परिष्कृत रूप है, जिस पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

श्री 'अलिजी' ने अपने कथन का आरम्भ करते हुए लिखा है—'इस साधक शरीर में भावना द्वारा अपने नित्य और निज स्वरूप में स्थित होकर श्री वृन्दावन के नित्य रास का दर्शन करना सर्व साधारण भक्तों के लिए सर्वदा अशक्य था और इस मानसी भावना का मार्ग प्रशस्त करने और नितान्त अगोचर तत्व के साक्षात्कार को सर्वसुलभ बनाने के लिए रस–भक्ति के उद्भावक महाप्रभु श्री हिताचार्य ने अपने समान मनास्वामी श्रीहरिदासजी एवं व्यासजी के सक्रिय सहयोग से इस रासलीलानुकरण का आरम्भ किया।[१]

'अलिजी' की मान्यता के अनुसार श्री हितहरिवंशजी द्वारा 'नाम–सेवा' और 'रासानुकरण' को आरम्भ किये जाने का वही काल है, जो उनके 'रासमण्डल' के निर्माण का है। उस मण्डल की निर्माण–तिथि सं० १५९१–९२ की कार्तिक कृ० २ मानी गई है। इस तिथि के सम्बन्ध में कोई खास मतभेद अथवा विवाद नहीं है। मतभेद अथवा विवाद की बात है श्री हितहरिवंशजी 'रासलीलानुकरण का प्राकट्यकर्ता' बतलाना; जैसा कि श्री अलिजी ने लिखा है। श्री हितजी 'रासलीलानुकरण' का तो क्या, 'रासानुकरण' के भी प्राकट्यकर्ता नहीं थे। उसका प्राकट्य श्री हितहरिवंशजी के वृन्दावन आगमन से पहले ही हो चुका था। श्री हितजी ने 'रासानुकरण' के भावनात्मक रूप का भी प्राकट्य नहीं; प्रचार किया था। उसके लिए

---

१. 'ब्रज भारती' (मार्गशीर्ष सं० २०१६) में प्रकाशित लेख से।

उन्होंने 'हित चौरासी' की रचना की थी, जिसके सरस पदों में 'भावात्मक रास' का कथन ही किया गया है।

श्री हितजी द्वारा 'रासलीलानुकरण' का प्राकट्य किये जाने के प्रमाण में देवबन्द के तमोली और हितजी के बाल मित्र छबीलदास का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। श्री अलिजी ने उसे मूल रूप में प्रस्तुत करने के बजाय परिवर्तित रूप में लिखा है। उस घटना का मूल एवं सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख श्री भगवतमुदित कृत 'रसिक अनन्यमाल' में मिलता है। जिसकी रचना श्री हितजी द्वारा रासमण्डल निर्मित कराये जाने के १२३ वर्ष पश्चात् सं० १७७५ के लगभग हुई थी। 'रसिक अनन्यमाल' का वह उल्लेख इस प्रकार है–

श्री हरिवंश वृंदावन आये। उन बिछुरन तें बहु दुख पाये॥
रहि न सक्यौ वृंदावन आयौ। श्री हित जू कौ दरशन पायौ॥
आप मिले, बहु आदर दीनौ। जोग जुगल देखन कौ कीनौ॥
जन सँग दै बन माँहि पठायौ। रास–विलास ताहि दरसायौ॥
छक्यौ छबीलदास छवि देख। पर्‌यौ मूर्छित उर जुग पेख॥
उन कर जोरि पगन सिर दीनौ। तनहिं छाँड़ि दंपति रग भीनौ॥[1]

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि जब श्री हितहरिवंशजी देववन से वृन्दावन आ गये, तब छबीलदास उनके वियोग में दुखी होकर वृन्दावन चला आया। उसने श्री हितजी के दर्शन किये। हितजी ने उसका समुचित आदर किया और उसकी इच्छानुसार उसे युगल स्वरूप के दर्शन कराने का भी प्रबन्ध कर दिया। उन्होंने एक भक्तजन के साथ छबीलदास को 'वन' में भेजा, वहाँ उसे 'रास–विलास' होता हुआ दिखला दिया था। उसने युगल स्वरूप की छवि का दर्शन अपने 'उर' में किये। वह रसमग्न अवस्था में मूर्छित होकर गिर पड़ा; और शरीर–त्याग कर दंपती के रग में रँग गया था।

---

१. 'रसिक अनन्यमाल' (संपादक–ललितप्रसाद पुरोहित), पृष्ठ ११।

इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि छबीलदास ने 'वन' में रस–विलास और युगल के दर्शन अपने 'उर' (अन्तःकरण) में किये थे, न कि उसने चैन घाट स्थित 'रासमण्डल' पर प्रत्यक्ष 'रासानु–करण' होते हुए देखा था; जैसा कि श्री अलिजी ने लिखा है।[1]

कालान्तर में किंवदंतियों ने उक्त घटना में कई परिवर्तन कर दिये; जैसा कि समय बीतने पर प्रायः होता है। उन परिवर्तनों को उत्तमदासजी कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' (रचना सं० १७४५ के लगभग) और जयकृष्णजी कृत 'हित कुल शाखा' (रचना सं० १७६०) में देखा जा सकता है। उनके उल्लेख क्रमशः इस प्रकार हैं—

ताहि कही मंडल ह्वै आवहु। तब तुम प्रभु कौ दर्शन पावहु॥
आई दूरि तें धुनि उन सुनी। ताल मृदंग मुरलिया धुनी॥
सखी सहित दंपति मंडल पर। चौंकि चक्यौ लखि गिरयौ तुरत घर॥

—उत्तमदासजी (सं० १७४५)

सेव्य नाम–सेवा सुख मूल। सदाचार संपति अनुकूल।।
कातिक बदी दुतिया कौ रास। मंडल वेष स्वरूप प्रकास।।

—जयकृष्णजी (सं० १७६०)

उपर्युक्त उद्धरणों में से प्रथम में लिखा गया है कि छबीलदास को 'वन' की अपेक्षा 'मण्डल' पर प्रभु के दर्शनार्थ भेजा गया था, जहाँ उसने दूर से ही ताल, मृदंग और मुरली की ध्वनि सुनी थी। फिर 'मण्डल' पर उसने सखियों सहित दंपती के दर्शन किये थे, जिससे वह मूर्छित होकर गिर पड़ा था। दूसरे में 'मण्डल' और रासायोजन की तिथि के साथ–साथ 'वेष स्वरूप' का भी उल्लेख हुआ है।

ये दोनों उद्धरण श्री हितहरिवंशजी के समकालीन न होकर उनसे प्रायः डेढ़ शती पश्चात् के हैं। इस अवधि में जो परिवर्तन हुए

---

१. श्री हिताश्रम सत्संग भूमि, वृन्दावन की 'रजत जयंती स्मारिका' में प्रकाशित श्री अलिजी का लेख 'रासलीलानुकरण और उसका प्राकट्य', पृष्ठ १९८।

हैं, उनसे वास्तविक तथ्य की प्रामाणिकता में संदेह होने लगता है। इनसे भी श्री हितजी द्वारा 'रासानुकरण' आरम्भ किये जाने का स्पष्टतया समर्थन नहीं होता; कुछ आभास मात्र होता है।

हमारा निश्चित मत है कि श्री हितहरिवंश के समय में रासानु–करण का भावनात्मक रूप प्रचलित था, जिसकी अनुभूति रसिक जन गान–वाद्य के साथ करते थे। 'रासानुकरण' अथवा 'लीला–नुकरण' के प्रत्यक्ष रूप बाद में प्रचलित हुए थे। श्री हितजी का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने वृन्दावन के चैनघाट (वर्तमान गोविन्दघाट) पर रासमण्डल बनवाकर रसिक जनों के लिए 'रास–केलि–रस' की भावनात्मक अनुभूति का साधन प्रदान किया था; जैसा कि उत्तमदास कृत 'श्री हरिवंश चरित्र' में कहा गया है–

मंडल चैनघाट पर कीनौ। रास केलि रस रसिकन दीनौ॥

इस पर श्री किशोरी शरण 'अलि' की टिप्पणी है–'भावनात्मक रास की अनुभूति स्वयं की जाती है, दी नहीं जाती। भावनात्मक रास का दर्शन मण्डल पर ही नहीं, कहीं भी प्राप्त किया जा सकता है ऐसी स्थिति में रासमण्डल निर्माण का हेतु ही क्या?'[१]

इस सम्बन्ध में हमारा मत है कि उच्चकोटि के रसिक महानुभाव जहाँ स्वयं रास–दर्शन की अनुभूति करते हैं, वहाँ वे अन्य अधिकारी रसिकों के लिए भी उसे सम्भव बना देते हैं। लोक–हित और प्रचार की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक होता है। श्री हित हरिवंशजी ऐसे ही महानुभाव थे। यहाँ पर हम राधावल्लभ सम्प्रदाय के एक विद्वान गो० श्री देवकीनन्दन लालजी का अभिमत प्रस्तुत करते हैं। वे उक्त रासमण्डल के सम्बन्ध में लिखते हैं–

'परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार महाप्रभु श्री हितहरिवंशजी सेवाकुंज से मध्याह्नोत्तर काल में प्रति–दिन रासमण्डल पर पधारते थे और रास की भावना में लीन हो जाते थे। यहाँ आपको रास प्रत्यक्ष

१. रजत–जयंती स्मारिका, पृष्ठ २०८।

होता था। इस स्थान पर तत्कालीन रसिक जन एकत्र होते थे। श्री महाप्रभुजी स्वयं रसमग्न रहते ही थे, अन्य रसिकजनों को भी रस प्रदान करते थे।'[१]

श्री हितहरिवंशजी की रासानुकरण के लिए जो महत्त्वपूर्ण देन है, उसे देखते हुए यह प्रश्न गौण हो जाता है कि उसके प्रागट्य–कर्ता थे, या नहीं? उनकी रास सम्बन्धी गति–विधियों और 'हित चौरासी' में उनके कथन से रासानुकरण के प्रचार एवं विस्तार में अनुपम योग मिला है। उससे प्रेरणा प्राप्त करने वाले रासानुरागी रसिक भक्तों की संख्या राधावल्लभ सम्प्रदाय में ही अत्यधिक रही है।

श्री नारायण भट्टजी—'रास–सर्वस्व'–कार ने श्री नारायण भट्ट जी का उल्लेख 'लीलानुकरण' प्राकट्य निरूपणम्' नामक तृतीय परिच्छेद में किया है और उन्हें नारदजी का अवतार बतलाया है। वे १२ वर्ष की आयु में ही अपने जन्म–स्थान को छोड़कर ब्रजमण्डल की ओर चल दिये थे और तीन वर्ष तक घूमते–फिरते ब्रज में आकर वहाँ के राधाकुण्ड नामक तीर्थस्थल में निवास करने लगे। वहाँ से वे बरसाना के निकटवर्ती ऊँचा गाँव नामक स्थल में चले गये। सं० १७१४ में उन्हें भगवान कृष्ण से आदेश प्राप्त हुआ कि जिसके लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, उस 'रास–रस रीति' को उजागर करो। लाड़िले ठाकुर की उस आज्ञा से उन्हें हरि के विहार की स्फूर्ति हुई। तब उन्होंने करहला गाँव के दो सनाढ्य ब्राह्मण रामराय तथा कल्याणराय को बुलाकर उन्हें अपना शिष्य किया; और (रासलीलानुकरण से सम्बन्धित) अनेक उपदेश दिये। 'रास–सर्वस्व' के शब्द निम्नांकित हैं–

तब सत्रह सौ चौदह साली। अनुशासन दीन्हौ बनमाली॥
करहु रास–रस–रीति उजागर। जेहि कारण प्रगटेउ गुण आगर॥

---

१. श्री हितहरिवंश महाप्रभु पंचशती स्मृति ग्रन्थ में प्रकाशित लेख–'श्री राधावल्लभीय प्रमुख स्थान', पृष्ठ ६६।

आज्ञा दई लाड़िले ठाकुर। हरि–विहार भौं हिय तब ही फुर॥
तब सनाढ्य द्वय विप्र बुलाई। रामराय कल्याणहु राई।
बासी रहे करहला केरे। किये शिष्य, उपदेश घनेरे॥

इस प्रकार 'रास–सर्वस्व' कार मतानुसार श्री नारायण भट्ट जी ने करहला निवासी रामराय एवं कल्याणराय नामक सनाढ्य ब्राह्मणों द्वारा 'रासलीलानुकरण' का प्रचलन कराया था। 'रास–सर्वस्व' का यह उल्लेख रासधारियों में परम्परा से प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार है। इसमें दिये हुए कुछ तिथि–संवत् तथा घटनाएँ सही नहीं हैं।

श्री नारायण भट्ट जी के जीवन–वृत्तान्त का अन्य स्रोत भट्ट जी के वंशज श्री जानकीप्रसाद द्वारा रचित संस्कृत पुस्तिका 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' है। इसका रचना–काल सं० १७५० से सं० १८०० के बीच का है। इस प्रकार यह 'रास–सर्वस्व' से प्राय: दो शताब्दी पूर्व की कृति है। इसके रचयिता जानकीप्रसादजी श्री नारायण भट्ट जी की ७वीं पीढ़ी में हुए थे और उनका जन्म सं० १७२२ में हुआ था। उन्होंने अपने घराने में प्रचलित परम्परागत अनुश्रुतियों के आधार पर इस पुस्तिका को रचा था। इसमें भट्ट जी से सम्बन्धित जो तिथि–संवत् दिये गये हैं, वे 'रास–सर्वस्व' में उल्लिखित तिथि–संवत् से लगभग एक शताब्दी पूर्व के हैं; जो ऐतिहासिक संगति तथा समकालीन प्रामाणिक उल्लेखों से प्राय: ठीक सिद्ध होते हैं।

'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' के अनुसार भट्ट जी का जन्म १५८८ की वैशाख शु० १४ (नृसिंह चतुर्दशी) को दक्षिण के मदुरापत्तन नामक स्थान में हुआ था। वे भृगुवंशी तैलंग ब्राह्मण थे। उनकी शिक्षा उनके पिताजी के निरीक्षण में जन्म–स्थान में ही हुई थी। वे इतने प्रतिभाशाली थे कि अल्पायु में ही उन्होंने यथेष्ट ज्ञानोपार्जन कर लिया था। वे बाल्यावस्था से ही भगवान कृष्ण के

अनन्य भक्त और ब्रज के अनुरागी थे। ऐसा कहा जाता है कि उनकी प्रथम कृति 'ब्रज–प्रदीपिका' की रचना दक्षिण में ही हुई थी। उस समय उनकी आयु केवल १२ वर्ष की थी। उसके उपरान्त वे ब्रज में निवास करने के लिए घर से चल दिये थे। ढाई वर्ष तक अनेक तीर्थों की यात्रा करते हुए वे सं० १६०२ में ब्रज में पहुँचे थे।

जब श्री भट्ट जी ब्रज में आये थे, तब राधाकुण्ड, वृन्दावन आदि पुण्यस्थलों में अनेक गौड़ीय महानुभाव निवास करते थे, जिनमें सर्वश्री सनातन–रूपादि गोस्वामीगण प्रमुख थे। वे श्री चैतन्य महाप्रभु के आदेशानुसार ब्रज में स्थायी रूप से निवास कर वहाँ के पुरातन किन्तु लुप्तप्राय लीला–स्थलों एवं तीर्थों के उद्धार, कृष्णोपासना के प्रचार और भक्ति–ग्रन्थों की रचना करने में तत्पर थे। नारायण भट्ट जी ने उक्त गौडीय महानुभावों के सत्संग में राधाकुण्ड पर निवास किया था। उन दिनों सनातन गोस्वामी के उपास्य श्री मदनमोहनजी का स्वरूप राधाकुण्ड पर ही विराजमान था और श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रिय पार्षद श्री गदाधर पण्डित के शिष्य कृष्णदास ब्रह्मचारी उनकी सेवा–पूजा करते थे। नारायण भट्ट जी ने उक्त ब्रह्मचारीजी से चैतन्य सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी और वे सर्वश्री सनातन–रूपादि गौडीय महानुभावों के कार्यों में सहयोग देने लगे थे।

भट्ट जी ने प्रायः १२ वर्ष तक राधाकुण्ड पर निवास किया था। उस अवधि में उन्होंने ब्रज के लुप्त–स्थलों एवं तीर्थ–स्थानों का उद्धार करने के साथ–साथ 'ब्रज भक्ति विलास' प्रभृत्ति संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी। 'ब्रज भक्ति विलास' की पूर्ति का काल सं० १६१० है। सं० १६१४ में वे बरसाना के निकटवर्ती ऊँचा गाँव में चले गये; जहाँ उन्होंने गृहस्थ जीवन का आरम्भ किया। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम दामोदर भट्ट है, जिनका जन्म सं० १६१५ में हुआ था।

श्री नारायण भट्ट जी ने ऊँचा गाँव में श्री बलदेवजी की और

बरसाना में श्री लाड़िलीलालजी की सेवा प्रचलित की थी, जो अभी तक उनके वंशजों एवं शिष्यों के अधिकार में है। उनके शिष्यों में नारायणदास श्रोत्रिय प्रमुख थे, जिनके वंशज बरसाने के गोस्वामी हैं और जिन्हें लाड़िलीजी के मन्दिर की सेवा का अधिकार प्राप्त है। ऊँचा गाँव में रहते हुए भट्ट जी ने बहुसंख्यक ग्रन्थों की रचना की थी; और लीलानुकरण के लिए विभिन्न स्थलों में रासमण्डलों का निर्माण कराया था। उन्होंने पूर्णायु प्राप्त की थी। उनका देहावसान १७वीं शती के अन्त में भाद्रपद शु० १२ (वामन द्वादशी) को ऊँचा गाँव में हुआ था। उसी स्थल पर उनकी समाधि बनी हुई है, जहाँ प्रतिवर्ष उनकी स्मृति में भव्य समारोह होता है।

श्री नारायण भट्ट ने ब्रज की गौरव–वृद्धि के जो अनेक कार्य किये थे, उनमें कृष्ण–लीला के लुप्त स्थानों का अनुसन्धान, ब्रज सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना और लीलानुकरण के लिए ब्रज के विविध स्थानों में रासमण्डलों का निर्माण प्रमुख है।

यहाँ पर 'रास–सर्वस्व' और 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' के उल्लेखों की परीक्षा अन्य प्राचीन रचनाओं के तत्सम्बन्धी विवरण के आधार पर करना उचित होगा। मध्यकालीन भक्तों की विशेषताएँ जानने के लिए श्री नाभाजी कृत 'भक्तमाल' अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसके संख्या ८७ के छप्पय की चार पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

गोप्य स्थल मथुरामण्डल, जिते 'वाराह' बखाने।
ते किये नारायण प्रगट, प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने॥
भक्ति–सुधा कौ सिन्धु, सदा सत्संग समाजन।
परम रसज्ञ अनन्य, कृष्ण–लीला कौ भाजन॥

पूर्वोक्त पंक्तियों ने नाभाजी ने भट्ट जी को 'ब्रज के पुराण प्रसिद्ध गोप्य स्थलों के प्राकट्यकर्त्ता' 'अनन्य भक्त', 'सत्संग एवं समाज के आयोजक', परम रसिक और 'कृष्ण–लीलाओं के भण्डार' बतलाया है। भट्ट जी की इन विशेषताओं में उनकी रास विषयक देन

का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है; किन्तु उसकी व्यंजना अवश्य होती है।

नाभाजी कृत 'भक्तमाल' पर प्रियादासजी ने 'भक्ति रस बोधिनी' नामक टीका की है। उसके कवित्त सं० ३५६ की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

भट्ट श्री नारायण जू, भए ब्रज—परायन,
जायें जाही ग्राम, तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
ठौर—ठौर रास के विलास कौ प्रकास किये,
जिये यों रसिक जन कोटि सुख पाये हैं॥

इन पंक्तियों ने प्रियादास में स्पष्ट रूप से भट्ट जी को ब्रज के गाँवों में स्थान—स्थान पर 'रास—विलास' के प्रकाशक बतलाया है। नाभाजी के परवर्ती और प्रियादास के पूर्ववर्ती राधावल्लभीय भक्त—कवि ध्रुवदास ने अपनी 'भक्त—नामावली' के दोहा सं० ३२ में भट्ट जी को 'अति सरस' एवं ब्रजमण्डल में 'स्थान—स्थान पर (रासमण्डलों की) रचना करने वाला' बतलाया है—

भट्ट नारायण अति सरस, ब्रजमण्डल सों हेत।
ढौर—ढौर 'रचना करी', निकट जान संकेत॥

विद्वद्वर डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने सर्वश्री नाभाजी, प्रियादास जी और ध्रुवदासजी के नारायण भट्ट सम्बन्धी उल्लेखों की समीक्षा करते हुए लिखा है—'इन तीनों महानुभावों के संकेतों से यह तो स्पष्ट है कि श्री नारायण भट्ट रासलीला में विशेष अभिरुचि रखते थे और जहाँ—तहाँ रासलीला करवाकर रसिक जनों को तृप्त करते थे। उक्त उल्लेखों के आधार पर हमारी यह धारणा बन गई है कि उस काल में आप रासलीला के सबसे प्रबल प्रचारक रहे होंगे।[१]

श्री नारायण भट्ट जी को 'लीलानुकरण' के कार्य में एक भक्त—कलाकार ब्रजवल्लभ से बड़ा सहयोग मिला था। वह नृत्य—गान में निपुण और 'रासलीलानुकरण' को अत्यन्त सरस बनाने

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, पृष्ठ २८१।

वाला उच्च कोटि का कला–कोविद था। उसने अपने गुणों से श्री नारायण भट्ट को अपने प्रेम के वशीभूत कर लिया था। श्री नाभाजी कृत 'भक्तमाल' (छप्पय सं० ८७) में ब्रजवल्लभजी की विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

नृत्य–गान गुन निपुन, रास में रस बरसावत।
अब लीला ललितादि, ललित दंपतहिं रिझावत॥
श्री नारायण भट्ट प्रभु, परम प्रीति रस–वस किये।
ब्रजवल्लभ वल्लभ परम, दुर्लभ सुख नैननि दिये॥

नाभाजी ने ब्रजवल्लभ जी की कलात्मक विशेषताएँ बतलाने के अतिरिक्त उसका कोई जीवन–परिचय नहीं दिया है। किन्तु 'रास–सर्वस्व' में उसे बादशाह (अकबर) का खास नर्त्तक बतलाया गया है। उसमें लिखा है, ज्ञान प्राप्त होने पर ब्रजवल्लभ ने शाही सेवा से अवकाश ले लिया था और वह ब्रज–वास करने लगा था–

पुनि इक वल्लभ नृतक वर, बादशाह कौ खास।
ज्ञान भए तजि चाकरी, करत रह्यौ ब्रज–वास॥

श्री नारायण भट्ट जी ने उक्त ब्रजवल्लभ के सहयोग से 'रासलीलानुकरण' को नृत्य–गान एवं अभिनय से सम्पन्न किया; और उसके प्रदर्शन के लिये बहुसंख्यक रासमण्डलों का निर्माण कराया था। उनके समय में 'रासलीलानुकरण' सर्वांग रूप में प्रचलित था। वह रास का स्वर्णिम काल था; जिसमें उनका भी योगदान था।

श्री हरिराम व्यास–'रास–सर्वस्व' में रास के प्राकट्यकर्त्ता के रूप में जिन पाँच प्रमुख महानुभावों का उल्लेख किया गया है, उनमें सर्वश्री १. वल्लभाचार्यजी २. स्वामी हरिरामजी, ३. घमण्डदेवजी (निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य उद्धव घमण्डदेव, वृन्दावन में निवास करने वाले भक्तवर घमण्डीजी और करहला निवासी घमण्डी स्वामी), ४. हितहरिवंशजी और ५. नारायण भट्ट जी उनकी रास सम्बन्धी देन की चर्चा की जा चुकी है। उनके

अतिरिक्त जिन महानुभावों का रास से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, उनमें श्री हरिरामजी व्यास अग्रणी हैं। 'रास–सर्वस्व'–कार ने उनका उल्लेख पहले 'प्रत्यक्ष निरूपण' नामक चतुर्थ परिच्छेद में किया है; फिर अष्टम परिच्छेद रासानुकरण के पाँच आचार्यों में उनकी गणना की है। इससे उनकी महत्ता ज्ञात होती है।

दतिया निवासी श्री वासुदेव गोस्वामी ने श्री हरिराम व्यास के जीवन–वृत्तान्त और उनकी समस्त रचनाओं के संकलन सम्बन्धी 'भक्त–कवि व्यासजी' नामक वृहत् ग्रन्थ की रचना की है। उसका सम्पादन एवं प्रकाशन इस लेखक द्वारा सन् १९५२ में किया जा चुका है। उससे ज्ञात होता है कि व्यासजी का जन्म सं० १५६७ में बुन्देलखण्ड की राजधानी ओरछा में एक प्रतिष्ठित सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे ओरछा के राजगुरु, विभिन्न शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान और शास्त्रार्थी पण्डित थे। वे गृहस्थ थे और उनके तीन पुत्र थे तथा एक पुत्री थी। 'भागवत' के प्रसिद्ध वक्ता होने के कारण उन्हें 'व्यास' की उपाधि प्राप्त हुई थी। वे अपने मूल नाम की अपेक्षा 'व्यासजी' के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

संयोग से श्री हितहरिवंश जी के एक शिष्य नवलदास का ओरछा जाना हुआ था। वे वहाँ पर श्री हितजी के एक सरस पद का गायन भक्ति–भाव से कर रहे थे। व्यासजी उस पद की रचना–माधुरी पर ऐसे मुग्ध हुए कि नवलदास के साथ हितजी से भेंट करने को वृन्दावन आ गये। वे हितहरिवंश के पद–गान और उनकी उपासना–पद्धति से बड़े प्रभावित हुए और अपनी विद्वत्ता तथा पाण्डित्य के अभिमान को छोड़कर विनयशील रसिक–भक्त बन गये। उन्हें घर–बार एवं कुल–परिवार से विरक्ति हो गई और उन्होंने अपना शेष जीवन वृन्दावन में निवास कर भक्ति–साधना, रसोपासना तथा अपनी वाणी–रचना का गान करते हुए व्यतीत किया था। वे वृन्दावन के रमणीक स्थल 'किशोर वन' में निवास करते थे; जहाँ

उन्होंने अपने उपास्य ठाकुर युगलकिशोरजी की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी। वे दीर्घजीवी हुए थे। उनका देहावसान सं० १६५५ के लगभग वृन्दावन में उनके निवास–स्थल पर हुआ था। ओरछा–नरेश वीरसिंह ने वहाँ पर उनकी समाधि सं० १६७५ में बनवाई थी।

व्यासजी ने विपुल परिमाण में वाणी–रचना की थी, जो समग्र रूप में उपलब्ध है। इसके 'रस' और 'सिद्धान्त' के पद उपासना तथा भक्ति के साथ–साथ साहित्य एवं संगीत की दृष्टि से भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें संगीत के पारिभाषिक शब्द, वाद्य यन्त्रों के नाम और उनके बोल भी मिलते हैं। ये समस्त पद विभिन्न राग–रागिनियों में निबद्ध हैं और इन्हें विविध सम्प्रदायों के मन्दिरों तथा भक्त जनों में गाया जाता है। इनके अतिरिक्त उनका संगीत–शास्त्र विषयक 'राग माला' नामक ग्रन्थ भी है, जो अप्रकाशित है। इस प्रकार वे अपने समय के उत्कृष्ट भक्त–गायक और संगीत के व्यावहारिक तथा शास्त्रीय दोनों अंगों के अच्छे ज्ञाता थे। ब्रज के धार्मिक संगीतज्ञों में शास्त्रीय ग्रन्थ के रचयिता वे पहले महानुभाव थे।

व्यासजी 'रासानुकरण' के अनन्य प्रेमी एवं प्रचारक थे। उन्होंने रास से सम्बन्धित अनेक सरस पदों की रचना की है। उनकी रसोपासना और रस–भक्ति का साधन ही मानो रास था। जब वे वृन्दावन में स्थायी रूप से रहने लगे, तब उन्होंने भक्ति की अनन्यता एवं रास की नृत्य–गान विषयक रमणीयता की तुलना में भक्ति के अन्य साधन जैसे ध्यान–धारणा तथा अंगन्यास आदि को भी छोड़ दिया था। उन्होंने कहा है–

नैन न मूँदे ध्यान कौं, किये न अंगन्यास।
नाँचि–गाय रासहि मिले, बसि वृन्दावन 'व्यास'॥

व्यासजी अपनी धुन के ऐसे पक्के थे कि जिस बात को वे उचित समझते थे, उसके लिए शास्त्रोक्त विधि–विधान एवं लोकापवाद की तनिक भी चिन्ता नहीं करते थे। उनके जीवन के ऐसे कई प्रसंग

हैं, जिनमें उनकी अनन्यता को देखकर उच्चकोटि के भक्तजन भी चकित रह जाते थे।

ऐसा ही एक प्रसंग वृन्दावन में आयोजित 'लीलानुकरण' से सम्बन्धित है। सन्त–महन्तों के समाज में रासधारियों द्वारा रासलीला का प्रदर्शन किया जा रहा था। श्री राधाजी का स्वरूप बना हुआ बालक तीव्र गति से नृत्य कर रहा था। उसी समय उसके पाँव में बँधा हुआ नूपुर अचानक खुल गया। व्यासजी ने तत्काल अपना यज्ञोपवीत तोड़ कर उससे नूपुर को बाँध दिया, जिससे रास में कोई व्यवधान नहीं हुआ। जब उस पर लोकापवाद होने लगा, तब व्यासजी ने निर्भय होकर कहा कि जिस यज्ञोपवीत का भार मैंने अब तक ढोया है, वह आज सार्थक हुआ है। व्यासजी के जीवन की यह घटना अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाभाजी ने उसका कथन निम्न पंक्तियों में किया है–

नौगुनौ तोरि नूपुर गुह्यौ, महत–सभा मधि रास के।
उत्कर्ष तिलक और दाम कौ, भक्त इष्ट अति व्यास के॥

श्री प्रियादास जी ने उक्त घटना का विस्तृत वर्णन 'भक्ति रस बोधिनी' के कवित्त सं० ३७१ में इस प्रकार किया है–

सरद उज्यारी, रास रच्यौ पिय–प्यारी,
तामैं रंग चढ़्यौ भारी, कैसै कहिकै सुनाइये।
प्रिया अति गति लई, बीजुरी सी कौंधि गई,
चकचौंधी भई, छवि मंडल में छाइये॥
नूपुर सो टूटि पर्‌यौ, मन अरबर्‌यौ भयौ,
तोरि कै जनेऊ बाँध्यौ वाही भाँति भाइये।
सकल समाज में यौं कह्यौ–'आज काम आयौ,
ढोयौ हौ जनम', ताकी बात जिय आइये॥

यह घटना व्यासजी के उत्तर जीवन की है। उस समय रास के प्रति उनकी श्रद्धा बहुत बढ़ गयी थी। वे अत्यन्त दीर्घजीवी हुए थे। उनकी जीवन–अवधि सौ वर्ष के लगभग मानी गई है। उस दीर्घकाल

में उन्होंने 'रासानुकरण' के रूप में उसका आरम्भ देखा, फिर 'लीलानुकरण' के रूप में उसका विकास देखा और अपने अन्तिम समय में उन्होंने उसका कुछ ह्रास होते हुए भी देखा था। उससे व्यासजी बड़े दुःखी रहा करते थे। उस काल की स्थिति का उल्लेख उनकी 'वाणी' के कई दोहों में मिलता है। एक दोहा इस प्रकार है–

'व्यास' जहाँ प्रभु कौ भजन, होते रास–विलास।
तिहिं कामिनि बस ह्वै गये, ऊत–पितर के दास॥

रास का वातावरण और उसका क्रमिक विकास–

सुलतानी शासन के अन्तिम काल सं० १५८४ तक ब्रज की राजनैतिक स्थिति अस्त–व्यस्त एवं संकटग्रस्त थी। सुलतानों ने अपनी असहिष्णुतापूर्ण प्रशासनिक नीति के क्रियान्वयन के लिए ऐसे दमनकारी आदेश जारी कर रखे थे, जिनसे ब्रजमण्डल की धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति बड़ी शोचनीय हो गई थी। सूरी नरेशों के शासनकाल (सं० १५९७–१६११) में उनकी सहिष्णुता एवं कलाप्रियता के कारण यहाँ की स्थिति में कुछ सुधार हुआ था। फिर भी मुगल सम्राट अकबर के राज्यासीन होने से लेकर उसके द्वारा वास्तविक सत्ता ग्रहण करने तक के काल सं० १६२० तक ब्रज की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी।

आश्चर्य की बात है कि उस विषम परिस्थिति में ही रासानुकरण का प्रवर्त्तन और उसका आरम्भिक विकास हुआ था! किन्तु उसमें समय–समय पर अनेक अड़चनें आती रही थीं। रास के अनुकरणात्मक दो रूप प्रमुख हैं। इनमें से एक गान–वाद्य–नृत्यपरक रूप को सामान्यतः 'रासानुकरण' कहा जाता है। दूसरा अभिनय एवं कथोपकथन परक नाट्यात्मक रूप है, जो 'लीलानुकरण' के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों के भी 'मानसी' अर्थात् 'भावात्मक' और 'दैहिक' अर्थात् 'प्रत्यक्ष' नामक दो–दो प्रकार हैं। इन सबका समुच्चय 'रासलीलानुकरण' कहलाता है।

उस काल के प्रतिकूल वातावरण में कुछ धार्मिक मनीषी ब्रज के निरापद एकान्त स्थलों में रास सम्बन्धी चिन्तन–मनन एवं कथा–प्रवचन द्वारा और भक्त–गायक गण रास के पद–गान द्वारा रासानुकरण की भावात्मक अनुभूति स्वयं करते थे तथा रसिक भक्तजनों एवं अधिकारी श्रोताओं को कराते थे। किन्तु 'रासानुकरण' के दैहिक रूप नृत्य और 'लीलानुकरण' के नाट्यात्मक प्रदर्शन के लिए तत्कालीन परिस्थिति अनुकूल नहीं थी। वह स्थिति श्री वल्लभाचार्यजी, श्री चैतन्यदेवजी तथा श्री हितहरिवंशजी के अन्तिम काल तक और स्वामी हरिदासजी के अधिकांश जीवनकाल तक रही थी। उस समय तक 'रासानुकरण' का प्रायः भावात्मक रूप ही प्रचलित था।

सं० १६२० में मुगल सम्राट अकबर ने वास्तविक शासन–सत्ता स्वयं सम्भाली थी। तब वह प्रथम बार मथुरा आया था। उस समय उसने सुलतानी शासन–काल से प्रचलित धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण ब्रज के हिन्दुओं में व्यापक असंतोष देखा था। उसने उक्त प्रतिबन्धों को हटा दिया। उसके कारण ब्रजवासियों को अपनी इच्छानुसार धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम करने की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी। तभी 'रासानुकरण' के दोनों रूपों के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने का वातावरण बना था। किन्तु 'लीलानुकरण' के मार्ग में फिर भी कुछ कठिनाइयाँ थीं। उनका निराकरण बाद में हो सका था।

रासानुकरण के प्रचार–प्रसार की इस पृष्ठभूमि में सर्वश्री वल्लभाचार्यजी, चैतन्यदेवजी, हितहरिवंशजी और स्वामी हरिदास आदि की ओर उनके परिकर की रास सम्बन्धी देन का व्यापक सर्वेक्षण करना उचित होगा।

श्री वल्लभाचार्यजी का नाम इस संदर्भ में सबसे पहले आता है। उन्हें रास के चिन्तन, मनन एवं प्रवचनकर्त्ता तथा गान–वाद्य परक कीर्तन के प्रेरक होने के नाते 'रासानुकरण' के भावात्मक रूप

का प्रवर्त्तक माना जा सकता है। उनका तिरोधान होने के पश्चात् उनके कर्मठ एवं यशस्वी पुत्र श्री विट्ठलनाथजी ने पुष्टि सम्प्रदाय का संचालन–सूत्र सम्भाला था। उन्होंने श्रीनाथजी की सेवा के प्रमुख अंग 'राग' के क्रियान्वयनार्थ 'अष्टछाप' नामक अपने सम्प्रदाय के आठ प्रधान कीर्तनकारों की एक मण्डली का गठन किया था, जिसके नेता भक्त–गायक एवं महाकवि सूरदास थे। अष्टछापी कीर्तनकार रास सम्बन्धी पदों के गायन द्वारा जहाँ रास के भावात्मक रूप का विस्तार करते थे, वहाँ रासानुकरण के लिए भी उन्होंने अनुकूल वातावरण बना दिया था। उससे सम्बन्धित कई प्रसंग वार्त्ता साहित्य में मिलते हैं।

पहला प्रसंग 'निज वार्ता' का है। उससे ज्ञात होता है कि जब श्री विट्ठलनाथजी प्रयाग के निकटवर्ती अड़ैल नामक स्थान में निवास करते थे, तब उन्होंने एक ब्राह्मण के बालक को मुकुट शृंगार धारण कराकर उसके द्वारा 'रासानुकरण' कराया था। उससे उन्हें रासानुभूति का आनन्द प्राप्त हुआ था। उस प्रसंग का उल्लेख श्री द्वारकादास पारीख ने किया है।[१] वह घटना सं० १६२० से कुछ पहले की है। उसके पश्चात् श्री विट्ठलनाथजी ने अड़ैल की अपेक्षा ब्रज में स्थायी रूप से निवास करने का आयोजन किया था।

दूसरा प्रसंग 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अन्तर्गत 'चतुर्भुजदासजी वार्ता' का है। उस वार्ता के प्रसंग ५ से ज्ञात होता है कि एक बार आन्यौर में रासधारियों की मण्डली आई थी। उसके स्वामी ने श्री विट्ठलनाथजी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथजी से आन्यौर में रास करने की अनुमति माँगी। उसके लिए गोकुलनाथजी ने अपने बड़े भाई श्री गिरिधरजी से आज्ञा माँगते हुए उनसे भी उसमें सम्मिलित होने की प्रार्थना की थी। गिरिधरजी ने उत्तर दिया कि वे पूज्य पिताजी की स्वीकृति बिना न तो वहाँ रास करने की

१. 'श्री वल्लभीय सुधा' (वर्ष ७, अंक २–माघ सं० २०१२), पृष्ठ १८।

अनुमति दे सकते हैं और न स्वयं उनमें सम्मिलित हो सकते हैं। इस पर गोकुलनाथजी ने चन्द्रसरोवर पर रास कराया था। वार्ता में लिखा है कि उस रास में स्वयं श्रीनाथजी गिरिधरजी को लेकर उपस्थित हुए थे। जब उसका समाचार गोसाईं विट्ठलनाथजी को मिला, तब उन्होंने कहा कि इस प्रकार के आयोजन से श्रीनाथजी को श्रमित करना उचित नहीं है। वे अपनी इच्छानुसार ही रास करते हैं। इस वार्ता में यह भी लिखा है कि उस समय तक गोसाईं विट्ठलनाथजी के अन्तिम पुत्र घनश्यामजी का जन्म नहीं हुआ था।[१] इससे सिद्ध होता है कि वह घटना सं० १६२८ से कुछ पहले की है।

तीसरा प्रसंग 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अन्तर्गत 'कृष्ण भट्ट जी वार्ता' का है। उस वार्ता के प्रसंग ८ से ज्ञात होता है कि कृष्ण भट्ट ने अपने निवास-स्थान उज्जैन में वहाँ के वैष्णव भक्तों की इच्छानुसार रासधारियों से 'रासलीलानुकरण' का अभिनय कराया था। उससे वैष्णव भक्तों को अत्यन्त आनन्द की अनुभूति हुई थी।[२] वह घटना सं० १६३० के लगभग की है।

उपर्युक्त प्रसंगों से यह सिद्ध होता है कि सं० १६२० के पश्चात् रासानुकरण के भावात्मक रूप के साथ-ही-साथ उसके नाट्य परक अभिनयात्मक रूप का भी कुछ प्रवचन हो गया था। पुष्टि सम्प्रदाय के अष्टछापी कीर्तनकार सर्वश्री सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास आदि ने रास के जिन पदों का गायन श्रीनाथजी के समक्ष किया था, उनमें गान-वाद्य के साथ ही साथ नृत्य-नाट्य के तत्त्व भी विद्यमान हैं। अष्टछाप के अन्य कीर्तनकार नन्ददास ने ऐसी रचनाएँ की थीं जो 'लीलानुकरण' के लिए उपयुक्त थीं। इन सब बातों से पुष्टि सम्प्रदाय में रासानुकरण के साथ ही साथ लीलानुकरण का भी वातावरण बन गया था। तभी पुष्टि

---

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खण्ड, पृष्ठ ३४६।

२. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४८।

सम्प्रदायी घमण्डी स्वामी ने अपने करहला ग्राम में रास मण्डली का गठन कर उसके द्वारा 'लीलानुकरण' के अभिनयात्मक प्रदर्शन का शुभारम्भ किया, जो अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ था। कालान्तर में करहला की अन्य पुष्टिमार्गीय रास मण्डलियों ने विभिन्न स्थानों में जाकर अपने प्रदर्शन किये थे। रास मण्डलियों की उस परम्परा की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। यही कारण है कि आज भी ब्रज में रासधारियों की जितनी मण्डलियाँ हैं, उनमें अधिकांश वल्लभ सम्प्रदाय की अनुयायी हैं। इससे सिद्ध होता है कि 'रासलीलानुकरण' के लिए श्री वल्लभाचार्यजी और उनके सम्प्रदाय की देन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

कृष्णोपासक भक्ति सम्प्रदायों में श्री चैतन्यदेव के गौड़ीय सम्प्रदाय ने उपासना–भक्ति के साधन रूप नृत्य एवं नाट्य कलाओं की उन्नति में प्रचुर योग दिया था। श्री चैतन्यजी अपने जीवन के आरम्भिक काल से अन्तिम काल तक इन कलाओं की उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे थे। उन्होंने अपने अनुगामी भक्तजनों को भी इसके लिए प्रेरित किया था। वृन्दावनदास कृत बंगला ग्रन्थ 'चैतन्य भागवत' से ज्ञात होता है कि जब चैतन्यजी अपने जन्म–स्थान नवद्वीप (नदिया) में थे, तब एक विशिष्ट अवसर पर उन्होंने नृत्य–नाट्य का भव्य आयोजन किया था। उस समय उन्होंने अपनी भक्त–मण्डली में घोषणा की थी–'आजि नृत्य करिवाड़ अंकेर विधाने'– आज का नृत्य मैं नाट्य के विधान से करूँगा। (मध्य खण्ड, १८वाँ अध्याय)। तत्पश्चात् उन्होंने स्वयं आद्या शक्ति महालक्ष्मी का वेश धारण किया और नित्यानन्द को अपनी वृद्धा सखी बनाया। गदाधर रुक्मिणी बने, श्रीवास ने नारद का रूप सजाया, अद्वैत ने विदूषक का स्वांग रचा और हरिदास वैकुण्ठ के प्रहरी हुए। फिर उन सबने मिलकर ऐसा मोहक अभिनय किया, जिसे देखकर सभी प्रेक्षकगण प्रेमाश्रु बहाने लगे थे। वह आयोजन सं० १५६५ के लगभग हुआ था।

श्री कृष्णदास कविराज कृत 'श्री चैतन्य चरितामृत' के

अंत्यलीला' खण्ड में श्री चैतन्यदेव से सम्बन्धित उस समय की घटनाओं का उल्लेख हुआ है, जब वे अपने अन्तिम काल में जगन्नाथपुरी (ओड़िसा) में निवास करते थे। उस समय उनकी भक्त–मण्डली में राय रामानन्द कृत 'जगन्नाथ वल्लभ' नाटक का अभिनय हुआ करता था। सरल संस्कृत में रचित यह एकांकी नाटक श्री चैतन्यजी को अत्यन्त प्रिय था। इसका अभिनय गौडीय भक्तों एवं देव–दासियों द्वारा किया जाता था। कविराज महोदय ने लिखा है, उस काल में श्री चैतन्यजी कभी प्रेमावेश में नृत्य–गान करते और कभी भावावेश में 'रासलीलानुकरण' करने लगते थे।[१] इससे ज्ञात होता है कि अपने अन्तिम काल में वे 'रासलीलानुकरण' की भावना में लीन रहा करते थे।

ब्रज में निवास करने वाले श्री चैतन्यदेवजी के गौडीय भक्तों में श्री रूप गोस्वामी (विद्यमानता सं० १५५०–१६१२) का नाम प्रसिद्ध है। वे चैतन्यजी के आदेश के अनुसार बंगाल से ब्रज–वृन्दावन में स्थायी रूप से निवास करने आये थे। वे परम भक्त, अनुपम विद्वान् और संस्कृत के रससिद्ध कवि एवं प्रसिद्ध नाटककार थे। उनके रचे हुए संस्कृत नाटक १. विदग्ध माधव, २. ललित माधव और ३. दान केलि कौमुदी हैं। 'विदग्ध माधव' नाटक की रचना सं० १५९० में ब्रज के लीला–स्थल गोकुल में हुई थी। इसमें ७ अंक हैं। 'ललित माधव' नाटक ब्रज के भद्रवन में सं० १५९४ में रचा गया था। इसमें १० अंक हैं। 'दान केलि कौमुदी' भाण नामक एकांकी उपरूपक है। इसकी रचना सं० १६०६ में हुई थी। इसके विषय में प्रसिद्ध है, जब 'ललित माधव' नाटक से गौडीय भक्त रघुनाथदास गोस्वामी कृष्ण–विरह में अत्यन्त विह्वल हो गये थे, तब रसांतर द्वारा उन्हें स्वस्थ करने के लिए हास्य रस के इस उपरूपक की रचना की

---

१. कभु प्रेमावेशे करेन गान नर्त्तन।
कभु भावावेशे रासलीलानुकरण॥ (अष्टादश परिच्छेद)

गई थी। रूप गोस्वामी के नाटक भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र और कृष्णोपासक धर्माचार्यों के रस–शास्त्र के सिद्धान्तानुसार हैं। इनका अभिनय होता था या नहीं, इस विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

श्री रूप गोस्वामी के सहकारियों में श्री रघुनाथदास गोस्वामी (सं० १५६०–सं० १६२९) और श्री जीव गोस्वामी (सं० १५६८–सं० १६५३) भी थे। रघुनाथ गोस्वामी कृत 'मुक्ता चरित' और श्री जीव गोस्वामी कृत 'गोपाल चम्पू' रास–भावना से ओत–प्रोत नाट्य रचनाएँ हैं। ब्रज–वास करने वाले इन महानुभावों के अतिरिक्त अन्य गौडीय विद्वानों की संस्कृत नाट्य रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। इनमें कवि कर्णपूर कृत 'चैतन्य चन्द्रोदय नाटक' (रचनाकाल सं० १६२९), गोविन्द कविराज कृत 'संगीत माधव नाटक', द्वारकानाथ ठाकुर कृत 'गोविन्द वल्लभ नाटक' और कृष्ण कवि कृत 'मुक्ता चरित्र नाटक' उल्लेखनीय हैं।

ब्रज के चैतन्य सम्प्रदायी महानुभावों में 'रासलीलानुकरंण' के प्रवचनकर्त्ता के रूप में श्री नारायण भट्ट जी का नाम प्रसिद्ध है। उन्होंने ब्रज में निवास करने वाले गौडीय गोस्वामियों के सत्संग में रहकर अपनी उपासना–भक्ति और कलात्मक अभिरुचि को समृद्ध किया था। गौडीय गोस्वामियों ने अपने भक्ति–सिद्धान्त के ग्रन्थों के साथ ही साथ अनेक नाटकों की भी रचना की थी। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर श्री नारायण भट्ट जी ने जहाँ 'प्रेमांकुर' नाटक को रचा था, वहाँ उन्होंने 'रासलीलानुकरण' के अभिनयात्मक रूप को सुव्यवस्थित करने में भी योग दिया था। उसके लिए उन्होंने 'लीलानुकरण' के प्रदर्शनार्थ ब्रज के विविध स्थानों में रास मण्डलों को निर्मित कराया था।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्री हितहरिवंशजी ने वृन्दावन में जिस रासमण्डल का निर्माण कराया था, उसका उल्लेख राधा–वल्लभीय ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता है। 'भक्तमाल' कार श्री नाभाजी एवं प्रियादासजी आदि भक्तजनों ने हितजी की

उक्त देन का कथन नहीं किया है। किन्तु उन्होंने श्री नारायण भट्ट जी को ब्रजमण्डल के विविध स्थानों में बहुसंख्यक रासमण्डलों का निर्माता बतलाया है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि वृन्दावन के एक रासमण्डल के अतिरिक्त ब्रज में जितने पुराने रासमण्डल हैं, वे सब श्री नारायण भट्ट जी द्वारा निर्मित हैं। इनका प्रासंगिक उल्लेख भट्ट जी कृत 'ब्रज भक्ति विलास' में किया गया है।

मध्यकालीन ब्रजमण्डल का व्यापक सर्वेक्षण जगतनन्द नामक एक वल्लभ सम्प्रदायी भक्त कवि ने किया है। श्री रतनलाल गोस्वामी ने उसका उल्लेख 'जगतानन्ददास' के नाम से किया है। उनके लिखे अनुसार वह महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी का समकालीन और उनका शिष्य था।[१] किन्तु उसका वास्तविक नाम 'जगतनन्द' था और वह वल्लभाचार्यजी का समकालीन न होकर, उनसे प्रायः डेढ़ शताब्दी पश्चात् हुआ था। उसके द्वारा रचित 'श्री वल्लभ वंशावली' (रचना १७८१) के अतिरिक्त 'ब्रज वस्तु वर्णन' और 'ब्रज ग्राम वर्णन' भी हैं। इन दोनों ग्रन्थों को उसने ब्रज मण्डल का व्यापक सर्वेक्षण करने के अनन्तर रचा था। जगतनन्द की विद्यमानता का काल सं० १७३० से सं० १७९० के लगभग है।

'ब्रज वस्तु वंर्णन' में उस काल के ३३ रासमण्डलों का उल्लेख किया गया है। उनमें से ५ रासमण्डल वृन्दावन में, २ करहला में, ३ ऊँचे गाँव में, २ कामवन में, २ दानगढ़ में और शेष बरसाना–नन्दगाँव के निकटवर्ती स्थानों में थे। जगतनन्द ने लिखा है–

वृंदावन में पाँच हैं, क्रीड़त ब्रज के ईस।
ब्रज में मण्डल रास वे, 'जगतनन्द' तेंतीस॥
इन्हें पुरातन जानियै, नूतन भए अनेक॥

इससे ज्ञात होता है कि श्री हितहरिवंशजी द्वारा निर्मित रासमण्डल के अतिरिक्त वृन्दावन में चार रासमण्डल और भी थे।

---

१. भक्त–कवि श्रीजगतानन्ददास (ब्रजभारती, वर्ष १५, अंक ४, पृष्ठ ४५)।

अन्य समस्त रासमण्डल करहला, ऊँचा गाँव, बरसाना, नन्दगाँव के चहुँओर स्थित थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्हीं स्थानों में 'रासलीलानुकरण' का प्रारम्भिक प्रचलन तथा उसका प्रचार–प्रसार हुआ था। उसका बहुत कुछ श्रेय श्री नारायण भट्ट जी को है। उन प्राचीन रासमण्डलों में से थोड़े ही इस समय अक्षुण्ण रूप में विद्यमान हैं; शेष जीर्ण–शीर्ण अवस्था में उपलब्ध हैं।

श्री जानकीप्रसाद भट्ट कृत 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' में लिखा है–'श्री नारायण भट्ट जी ने अपने उपास्य ठाकुर श्री लाड़िलीलालजी का पाटोत्सव सं० १६२६ की आषाढ़ शु० २ (रथ यात्रा) को किया था। उसी अवसर पर उन्होंने ब्राह्मणों के सुन्दर बालकों को श्रीकृष्ण, श्रीराधा तथा गोप–गोपियों का वेश धारण करा कर उनसे 'लीलानुकरण' का अभिनयात्मक प्रदर्शन कराया था।'[१] बाबा कृष्णदास का मत है–'श्री नारायण भट्ट जी की अन्तिम रचना 'प्रेमांकुर नाटक' है। उसमें श्रीकृष्ण जन्म लीला, दान लीला, मार्गरोधिनी लीला, गोपी–गारी लीला, सांझी लीला, दधि लुंठन, भांड ध्वंस लीला, श्री राधाकृष्ण के वन विहार की लीला, हास्य–परिहास लीला प्रभृति सविस्तार वर्णित है। बरसाना में भाद्रपद शुक्ला सप्तमी से त्रयोदशी पर्यन्त जो 'बूढ़ी लीला' होती है, उसमें श्री भट्ट जी कृत 'प्रेमांकुर' में वर्णित उपर्युक्त लीलाओं का ही प्रदर्शन किया जाता है।..........ब्रज के रासधारी गण 'रासलीलानुकरण' के आरम्भ और अन्त में 'श्री लाड़िलीलालजी की जय' बोलते हैं। श्री लाड़िलीलालजी नारायण भट्ट जी के ठाकुर हैं।[२]

श्री नारायण भट्ट जी को 'लीलानुकरण' के कार्य में अपने स्नेही भक्त ब्रजवल्लभ जैसे उच्चकोटि के कलाकार का सहयोग प्राप्त हुआ था। उसके द्वारा भट्ट जी ने 'लीलानुकरण' को नाट्या–त्मक रूप में सुव्यवस्थित कराया और उसके अभिनयात्मक प्रदर्शन

---

१. 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्, (पृष्ठ ४९, श्लोक १२८ से १३६)
२. 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट', (पृष्ठ २८ एवं ४८)।

के लिए उन्होंने बहुसंख्यक रासमण्डलों को निर्मित किया। इस प्रकार श्री नारायण भट्ट ने गान–वाद्यपरक 'रासानुकरण' को नाट्यात्मक 'लीलानुकरण' के रूप में प्रचारित किया। यह रासलीला के लिए भट्ट जी की अनुपम देन है।

श्री नारायण भट्ट जी के अन्तिम काल १७वीं शती के उत्तरार्ध में 'रासलीलानुकरण' का इतना व्यापक प्रचार हो गया था कि ब्रजमण्डल से अन्यत्र निवास करने वाले रसिक भक्त अपने–अपने स्थानों में रासाभिनय का आयोजन कराकर आनन्दित होते थे और विद्वान रचनाकार अपने ग्रन्थों द्वारा उसका कथन करते थे। ऐसे मनीषियों में मित्र मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। वह ओरछा के राजा वीरसिंह देव का राजकवि और संस्कृत भाषा का प्रकाण्ड विद्वान था। उसका रचा हुआ एक ग्रन्थ 'आनन्द–कन्द चम्पू' है, जो संस्कृत भाषा में है। उसके षष्ठ उल्लास (अध्याय) में रासानुकरण का कथन किया गया है। उसकी रचना–शैली जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' से मिलती हुई है। यह १७वीं शती के उत्तरार्ध की रचना है। प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी ने उसके कतिपय श्लोक उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये हैं, जिनमें से एक इस प्रकार है–

पश्यन्कामपि सस्मितं मधुमुधा, वाचा विसिंचन्पराम्।
आकर्षन्नपरां पटैः स्तनपटे, कांचिन्नरवेनोल्लिखन्।
चुम्बन्कामपि नाम कामपि समालिंगन्स तुंगस्तनीं।
रासोल्लासवशीकृतो दिविषदां चिक्रीड चूड़ामणिः॥१६०॥

कवि का कथन है कि उस रास में श्रीकृष्ण अनेक रूप धारण कर दो–दो गोपियों के बीच में अपने एक–एक रूप से मण्डलीबद्ध नृत्य कर रहे थे–

प्रति गोपीद्वयमध्यस्थित माधव रासमण्डलं रजे।
कनकसरोजावलितं जगत इवैन्दीवरं दाम॥२६८॥[1]

१. 'संस्कृत साहित्य और रासलीला' शीर्षक लेख (रासलीला : एक परिचय, पृ. ३२)

श्री हितहरिवंशजी ने श्रीराधाकृष्ण के युगल विहार एवं प्रेमोपासना के साथ–साथ रासानुकरण के उस भावात्मक रूप का वृन्दावन में प्रचार किया था, जिसे उनसे पहले श्री वल्लभाचार्यजी गोवर्धन स्थित श्रीनाथजी के मन्दिर में कीर्तन की व्यवस्था द्वारा प्रसारित कर चुके थे। श्री हितजी की रासानुकरण के लिए विशिष्ट देन वह रजनिर्मित मंच है, जिसे वृन्दावन का प्रथम 'रासमण्डल' होने का महत्त्व प्राप्त है। उस पर बैठकर वे रासानुकरण के भावात्मक रूप की अनुभूति करते थे और रास सम्बन्धी सरस पदों के गायन द्वारा अन्य रसिकजनों को उसका रसास्वादन कराते थे। श्री हितहरिवंशजी की विद्यमानता के काल में रासानुकरण का वही भावात्मक रूप वृन्दावन में प्रचलित रहा है।

श्री हितहरिवंशजी का निधन सं० १६०९ में हो गया था। उस समय स्वामी हरिदासजी, हरिराम व्यासजी प्रभृति महानुभाव विद्यमान थे। उनके अन्तिम काल में 'रासानुकरण' के गान–वाद्य–नृत्यपरक रूप के साथ ही 'लीलानुकरण' के नाट्यपरक अभिनयात्मक रूप का भी प्रचलन होने लगा था। तब श्री हितजी के वंशज तत्कालीन गोस्वामियों ने उसे भी अपना लिया। यद्यपि राधावल्लभीय भक्ति–सिद्धान्त की मूल भावना से 'लीलानुकरण' के अभिनयात्मक रूप की संगति नहीं होती है, तथापि युग की माँग और राधावल्लभीय भक्तजनों की उसके प्रति अभिरुचि देखकर उसे मान्यता देना आवश्यक हो गया था।

इस सम्बन्ध में पहल श्री हितजी के प्रपौत्र श्री दामोदर वरजी (सं० १६३४–सं० १७१४) ने की थी, जिन्हें श्री हितहरिवंश का ही अवतार माना जाता है।[१] 'उन्होंने कामवन निवासी मोहनलाल

१. हित मारग उपदेस को, व्याप–सुवन पुनि बपु धर्‌यौ।
रस–रासि थापि लीला–रहसि, अभिलाषा पूरन कर्‌यौ॥

नामक अपने शिष्य द्वारा एक 'रासमण्डली' बनवाई थी, जो उनके स्थान पर प्रतिदिन लीलानुकरण किया करती थी। वृन्दावनदासजी के ग्रन्थों में इसका विशद् वर्णन किया गया है।'[१] वह मण्डली राधा-वल्लभीय मान्यता के अनुसार वृन्दावन-लीलाओं का ही अभिनय करती होगी, न कि ब्रज-लीलाओं का। किन्तु कालान्तर में राधा-वल्लभीयों का ब्रज-लीलाओं के प्रति भी अनुकूल दृष्टिकोण हो गया था और चाचा वृन्दावनदासजी (विद्यमानता सं० १७६५ से सं० १८५० के लगभग) ने बड़े उल्लासपूर्वक ब्रज-लीलाओं का कथन किया था। उनके द्वारा रची हुई बहुसंख्यक 'छद्म लीलाएँ' तो अपना अनुपम महत्त्व रखती हैं।

इस प्रकार श्रीहितहरिवंशजी से लेकर चाचा वृन्दावनदास तक 'रासलीलानुकरण' के विविध रूपों को अपनाने और उन्हें समृद्ध करने से राधावल्लभ सम्प्रदाय की रासलीला विषयक देन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उस काल के जितने रासानुरागी रसिक भक्तों का उल्लेख 'भक्तमाल' आदि ग्रन्थों में मिलता है, वे अधिकतर राधा-वल्लभीय हैं। इससे भी श्री हितहरिवंशजी और उनके सम्प्रदाय की रासानुकरण विषयक देन की महत्ता ज्ञात होती है।

श्री स्वामी हरिदासजी के भक्ति-सिद्धान्त, उपासना पद्धति एवं सम्प्रदाय में श्री श्यामा-कुंज बिहारीजी के दिव्य 'नित्यविहार' की मान्यता है। यह नित्य विहार 'रासानुकरण' तथा 'लीलानुकरण' के दैहिक अर्थात् स्थूल रूपों से परे की वस्तु है; किन्तु इसे 'नित्य रास' के मानसी अर्थात् भावात्मक रूप के सन्निकट माना जा सकता है। यह नित्य रास श्री श्यामा-कुंजविहारीजी की एकान्त दिव्य 'केलि' है, जिसमें अन्तरंगा सहचरियों के अतिरिक्त अन्य किसी की भी गति नहीं है। इसी दिव्य केलि का कथन श्री स्वामीजी कृत

---

१. श्री किशोरीशरणजी 'अलि' का लेख-'लीलानुकरण और उसका प्राकट्य' (रजत जयंती-स्मारिका, पृष्ठ २००)।

'केलिमाल' में किया गया है। इस सरस रचना में स्वामीजी की भावात्मक अनुभूति की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। यह स्वामीजी के भक्ति–सिद्धान्त के साथ–ही–साथ उनके द्वारा मान्य 'नित्य विहार' और 'नित्य रास' का भी आकर ग्रन्थ है।

श्रीमद्‌भागवत की 'रास पंचाध्यायी' में जिस रास का कथन हुआ है, वह ब्रज का रास है; 'नित्य रास' के मानने वाले श्री स्वामी हरिदासजी और उनके अनुयायियों की उक्त रास के प्रति कोई रुचि नहीं रही है। हरिदासी सम्प्रदाय के एक परवर्ती आचार्य श्री ललित किशोरी देवजी ने इस प्रकार के रास को देखने में भी अपनी अनिच्छा व्यक्त की है। वे कहते हैं–

रोम–रोम में रम रही, ललित प्रिये हरिदास।
उन बल सोवत चैन सों, निरखैं नाँहीं रास॥

अब प्रश्न होता है कि 'नित्य रास' के मानने वाले स्वामी हरिदासजी के सम्प्रदाय में रासानुकरण के स्थूल रूप की किसी अंश में गुंजायश है या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर हमें श्री हरिदास सेवा संस्थान, वृन्दावन के अध्यक्ष विद्वद्वर श्री गोविन्दशरणजी शास्त्री ने अपने दिनांक २४.१२.८२ के पत्र में विस्तार से दिया था। उसका कुछ अंश इस प्रकार है–

''आपने स्वामी हरिदासजी के नित्य विहार–उपासक सम्प्रदाय में रासानुकरण के स्थूल रूप की अनुकूलता पर मेरे विचार जानने चाहे हैं। रासानुकरण की परम्परा के मूल रूप को देखते हुए इसमें कोई विरोधाभास प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः अव्यक्त जब भी व्यक्त होगा, उसे स्थूल का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ेगा। परन्तु उपासक की भावना उस स्थूल को 'व्यक्त' तो मानती है, 'स्थूल' नहीं। श्री स्वामी हरिदासजी के उपास्य श्री बाँकेविहारीजी भी नित्य विहारी के व्यक्त स्वरूप हैं। स्वामीजी के दिव्य संगीत की स्वर–लहरी के साथ तानपूरा भी था, अन्य वाद्य भी थे, ये सब उपकरण सामान्य दृष्टि

से स्थूल कहे जायेंगे। क्योंकि ये व्यक्त हैं, पर भावना से ये दिव्य हैं। इसी प्रकार स्वामी हरिदासजी ने नित्य दिव्य रास को संगीत के साथ ही रासानुकरण के माध्यम से अवश्य प्रकाशित किया था। उनके द्वारा रास के जिन स्वरूपों का शृंगार किया गया होगा, वे भी अव्यक्त के व्यक्त रूप होंगे। जब दिव्य को भूमि पर प्रकट होना है, तब 'रूप' तो लेना ही होगा। किन्तु यह स्थूलता भी दिव्यता का प्रतीक है।''

'रास–सर्वस्व' के उल्लेखानुसार रासानुकरण के प्रवर्तन की प्रेरणा सर्वप्रथम श्रीस्वामी हरिदासजी के मन में स्फुरित हुई थी, जिसे उनकी इच्छानुसार महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी ने मूर्त्त रूप दिया था। यह उल्लेख हमारे मतानुसार अप्रामाणिक है। यद्यपि रासानुकरण के प्रवर्त्तक होने का श्रेय सभी सम्प्रदायों ने अपने–अपने महानुभावों को दिया है; तथापि रास से स्वामीजी का सम्बन्ध सभी ने माना है। 'निज मत सिद्धान्त' के अनुसार स्वामीजी का जन्म–संवत् १५३७ है। इस प्रकार वे श्री वल्लभाचार्यजी (जन्म संवत् १५३५) के अतिरिक्त रास से सम्बन्धित सभी महानुभावों के पूर्ववर्ती थे। इससे भी उनकी रास सम्बन्धी देन सर्वाधिक प्राचीन सिद्ध होती है।

श्री वल्लभाचार्यजी का तिरोधान सं० १५८७ में और श्री हितहरिवंशजी का निधन सं० १६०९ में हुआ था; किन्तु स्वामी हरिदासजी उन दोनों के पश्चात् सं० १६३२ तक (निज मत सिद्धान्त के अनुसार) इस भूतल पर विद्यमान रहे थे। श्री वल्लभाचार्यजी के समय में गोवर्धन स्थित श्रीनाथजी के मन्दिर में, श्रीमद्भागवत की 'रास पंचाध्यायी' का प्रवचन होता था और सूरदासादि भक्त–गायकों द्वारा रास के पदों से श्रीनाथजी का कीर्तन किया जाता था। श्री हितहरिवंशजी के समय में उनके द्वारा वृन्दावन में निर्मित 'रासमण्डल' पर वहाँ के संगीतज्ञ महानुभावों द्वारा रास सम्बन्धी पदों के गायन से नित्य रास के भावात्मक रूप की रसानुभूति

की जाती थी। श्री स्वामी हरिदासजी के समय में रास के गायन–वादन के साथ नृत्य भी होने लगा था। उस काल में श्री प्रिया–प्रियतम (श्रीराधाकृष्ण) के स्वरूपों को मंच पर आसीन कर उनके समक्ष महानुभावों द्वारा पद–गान किया जाता था। उसके साथ प्रासंगिक रूप में स्वरूपों का नृत्य भी होता था। स्वामी हरिदासजी के सम्प्रदाय में तब तक रासानुकरण का इतना ही विकास हुआ जान पड़ता है। स्वामीजी के निधन के केवल ८ दिन पश्चात् वृन्दावन में जो रासानुकरण का भव्य समारोह हुआ था और जिसमें वहाँ के महानुभावों के आग्रह से स्वामी हरिदासजी के वरिष्ठ शिष्य श्री विट्ठल विपुलजी को भी उपस्थित होना पड़ा था, उसका विस्तृत विवरण श्री प्रियादासजी कृत भक्तमाल की 'रसबोधिनी टीका' में दिया गया है। उसमें लिखा है, युगल स्वरूप के विविध नृत्य–भेदों को देखकर और उसके गायन को सुनकर श्री विट्ठल विपुलजी को अपने तन की भी सुधि नहीं रही और वे भाव–तन पाकर दिव्य लीला में प्रविष्ट हो गये–

''जुगल सरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद,
गान–तान कान सुनि रही न सँभार है।
मिलि गये वाही ठौर, पायौ भाव–तन,
और कहैं रस–सागर ताकौ यहै विचार है॥''

रास के उक्त समारोह को कुछ विद्वानों ने 'लीलानुकरण' समझा है। किन्तु प्रियादासजी ने उसमें प्रिया–प्रियतम के स्वरूपों द्वारा नृत्य–गान होने का ही कथन किया है। 'लीलानुकरण' के प्रमुख तत्त्व अभिनय एवं नाट्यात्मक कथोपकथन हैं, जिनका उल्लेख प्रियादास ने नहीं किया है।

वैसे उस काल में 'लीलानुकरण' का अभिनयात्मक रूप भी प्रचलित हो गया था, जिसका उल्लेख गत पृष्ठों में श्री नारायण भट्ट जी के प्रसंग में किया जा चुका है। किन्तु स्वामी हरिदासजी का

उससे सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। उनके सम्प्रदाय में 'लीलानुकरण' का प्रचलन उनके निधनोपरान्त हुआ जान पड़ता है। स्वामी हरिदासजी अपने समय के यशस्वी संगीताचार्य और महान गायक थे। उन्होंने 'नित्य रास' के भावात्मक स्वरूप को अपने दिव्य संगीत से समृद्ध किया था। वही रासानुकरण के लिए उनकी सरस देन है।

'लीलानुकरण' का प्रचलन श्री नारायण भट्ट जी के काल में हुआ था, जिसमें उनकी प्रमुख भूमिका रही थी। उसके लिए उन्होंने ब्रजमण्डल के विविध स्थानों में रासमण्डलों का निर्माण कराया था, जहाँ 'लीलानुकरण' के भव्य कार्यक्रम समारोहपूर्वक होते थे। उन्हें कलात्मक रूप प्रदान करने के लिये भट्ट जी ने उस काल के विख्यात नर्त्तक ब्रजवल्लभ का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया था। श्री नारायण भट्ट जी चैतन्य सम्प्रदायी थे। उस सम्प्रदाय में नृत्य–नाट्य की दीर्घकालीन परम्परा रही है, जिसका उल्लेख श्री चैतन्यदेवजी के आरम्भिक काल से ही मिलता है। उनके अन्तिम काल में उसे और भी समुन्नत रूप प्राप्त हुआ था। उसका प्रभाव श्री नारायण भट्ट जी सहित ब्रज–वृन्दावन के सभी चैतन्य सम्प्रदायी भक्तजनों पर पड़ा था। फलतः 'रासलीलानुकरण' अपने समग्र रूप में प्रचलित हो गया था।

रास के क्रमिक विकास का यह सर्वेक्षण निम्बार्क सम्प्रदाय के उल्लेख बिना अधूरा रहेगा। अतएव उसका भी संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया जाता है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, निम्बार्क सम्प्रदाय में आचार्य उद्धव घमण्डदेवजी को रासानुकरण के प्रवर्त्तन एवं प्रचलन का श्रेय दिया जाता है। किन्तु वस्तुतः यह ठीक नहीं है। यदि उन्हें वृन्दावन में वंशीवट के समीप रहने वाले घमण्डीजी से अभिन्न माना जा सके, तब भी वे 'रासानुकरण' अथवा 'लीलानुकरण' के प्रवर्त्तक अथवा प्रचलनकर्त्ता सिद्ध नहीं होते हैं।

श्री ध्रुवदास ने उक्त घमण्डीजी को वंशीवट के समीप रहने के अतिरिक्त उन्हें भक्तिरस में निमग्न और श्री श्यामा–श्याम के

गायक बतलाया है।[1] इन विशेषताओं के कारण वे 'रासलीलानुकरण' की भावात्मक अनुभूति करने वाले भक्तजन ज्ञात होते हैं। किन्तु निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्ति–सिद्धान्त में 'रासलीलानुकरण' भी मान्य है; और उसके आचार्यों एवं भक्तजनों की उसके प्रति गहरी आस्था रही है। इसलिए उसके प्रचलन एवं विकास में निम्बार्क सम्प्रदाय का भी समुचित योग मानना होगा। इस समय ब्रजमण्डल में जितनी रासमण्डलियाँ हैं, उनमें वल्लभ सम्प्रदायी मण्डलियों के पश्चात् निम्बार्क सम्प्रदायी रास–मण्डलियाँ ही अधिक हैं।

रासलीलानुकरण के अनुरागी महानुभाव–

ब्रज–वृन्दावन के समस्त भक्ति–सम्प्रदायों से सम्बन्धित रसिक महानुभावों एवं भावुक भक्तजनों के लिए 'रासलीलानुकरण' का इतना आकर्षण रहा है कि वे अपने साम्प्रदायिक भेद–भावों को भुलाकर उसके समान रूप से अनुरागी रहे हैं। उन्होंने उसे अपनी धर्मोपासना की संसिद्धि और भजनानन्द की प्राप्ति का प्रमुख साधन माना है। ऐसे अनेक रसिक भक्तों का उल्लेख साम्प्रदायिक ग्रन्थों एवं भक्तमाल आदि में मिलता है।

राधावल्लभीय भक्त–कवि चाचा वृन्दावनदासजी ने ब्रज–वृन्दावन की रस–भक्ति और नित्य विहार के प्रचारकों में जिन चार महानुभावों को प्रमुखता दी है, वे हैं–१. व्यास–नन्द श्री हितहरिवंशजी, २. सुमोखन शुक्ल कुल–चन्द्र श्री हरिराम व्यासजी, ३. आशुधीर–सुत आनन्दमूर्ति स्वामी हरिदासजी और ४. भक्ति–स्तम्भ श्री प्रबोधानन्दजी।[2] चाचाजी के मतानुसार वे चारों महानुभाव ब्रज–वृन्दावन में 'नित्य विहार' की रसोपासना के प्रमुख प्रचारक थे।

---

१. घमण्डी रस में घुमड़ि रह्यौ, वृन्दावन निज धाम।
वंशीवट तट वास किय, गाये श्यामा–श्याम॥

२. सबके जु मुकुट–मणि व्यास–नन्द। पुनि सुकल सुमोखन कुल–सुचंद॥
सुत आसुधीर मूरति आनन्द। धनि भक्ति–थंभ परबोधानंद॥
इन मिलि जु भक्ति कीनी प्रचार। ब्रज–वृन्दावन नित–प्रति बिहार॥

किन्तु वे रासानुरागी रसिक भक्तों के भी शिरमौर थे। उनमें से श्री हितहरिवंश जी, श्री हरिराम व्यासजी और श्री स्वामी हरिदासजी के रासानुराग का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ पर पहले श्री प्रबोधानन्दजी का और फिर अन्य रासानुरागी महानुभावों का काल–क्रमानुसार संक्षिप्त वृत्तान्त लिखा जाता है–

श्री प्रबोधानन्दजी–वे संस्कृत के विद्वान और विख्यात संन्यासी भक्त–कवि थे। वे चैतन्य मत के अनुयायी थे; किन्तु वृन्दावन में निवास करने पर उनका आकर्षण हितहरिवंशजी द्वारा प्रचारित रस–भक्ति की ओर अधिक हो गया था। उनके रचे हुए ग्रन्थों में 'संगीत माधव' और 'वृन्दावन महिमामृत शतक' अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका एक ग्रन्थ 'आश्चर्य रास प्रबन्ध' भी है। उनकी प्रेमोन्मादक रचनाओं में राधा–कृष्ण की विविध केलि–क्रीड़ाओं के साथ–ही–साथ 'रास लीलानुकरण' का भी अत्यन्त माधुर्यपूर्ण कथन हुआ है।

श्री विट्ठलविपुलजी–वे स्वामी हरिदासजी के वरिष्ठ शिष्य थे। स्वामीजी का निधन होने पर वे उनके वियोग में इतने दुःखी हुए कि उन्होंने सब जगह आना–जाना ही बन्द कर दिया था। एक बार वृन्दावन में रास के अवसर पर सब रसिक भक्त एकत्र थे। वहाँ पर विट्ठल विपुलजी को उपस्थित न देखकर उन्हें आग्रहपूर्वक बुलाया गया। वे वहाँ गये और रासरस में इतने तल्लीन हो गये कि उसी स्थान पर अपना शरीर त्याग दिया था।

नरवाहनजी–वे हितहरिवंशजी के प्रभाव के कारण डाकू से रसिक भक्त हुए थे। उनकी रास विषयक अनन्यता को देखकर हितजी ने उनके नाम से रास के दो सुन्दर पद रचे थे, जो 'नरवाहन' की छाप से हितजी की वाणी में मिलते हैं। उन पदों की टेक इस प्रकार है–

१. मंजुल कल कुंज देस, राधा–हरि विसद वेस, राका नभ कुमुद बधु, सरद–यामिनी।

२. चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख–निधान, रास रच्यौ स्याम, तट कालिंद–नंदिनी॥

विट्ठलदासजी–वे हितहरिवंशजी के परम भक्त और उनकी रास–भावना के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान थे। 'रसिक अनन्यमाल' में उन्हें जूनागढ़ के सूबेदार का प्रधान बतलाया है। इसके साथ ही रास के प्रति उनकी श्रद्धा–भावना का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है–

'श्री मुरलीधर रस–विलास। रोम–रोम रमि रह्यौ प्रकास॥'

जयमलजी–वे राजस्थान में मारवाड़ के एक प्रभावशाली ठिकाणेदार थे। परम वीर होने के साथ–ही–साथ वे कृष्णोपासक रसिक–भक्त भी थे। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' (छप्पय सं० ११७) में कहा गया है कि जयमलजी की भक्ति–भावना के कारण उनकी राजधानी मेड़ता छोटी मथुरा के समान जान पड़ती थी–**'लघु मथुरा मेड़ता, भक्त अति जैमल पोषें।'** 'रसिक अनन्य माल' में उनकी रुचि कथा–कीर्तन, हरि–स्मरण के साथ ही साथ रास–विलास महोत्सव के प्रति भी बतलाई गयी है–

'कथा–कीरतन सुमिरन भाव। रास–विलास महोत्सव चाव॥'

बालकृष्ण-तुलाराम–वे राधावल्लभ सम्प्रदायी भक्तजन थे। चाचा वृन्दावनदास कृत 'रसिक अनन्य परिचावली' (छप्पय सं० १९८) में बालकृष्णजी को शमशेर नगर निवासी और गो० हरिलालजी का शिष्य बतलाया गया है। वे रासानुकरण के अत्यन्त प्रेमी एवं प्रचारक थे।

तुलाराम का उपनाम 'बाबरी सखी' था। वे गो० कमलनयन जी के शिष्य थे। चाचा वृन्दावनदास ने लिखा है कि स्वामी तुलाराम फाग के रंग में रँगे हुए प्रेमी भक्त गायक थे। उनकी तानें श्रोताओं के हृदय को बींध देती थीं; जिससे वे मन्त्र–मुग्ध से हो जाते थे–

स्वामी तुलाराम उर फाग फूल। अनुराग रँगे हिय के दुकूल॥
तेहि राग तान देहिं मन कों सूल। मनु वसीकरन यह मन्त्र मूल॥

भक्तवर राजा नागरीदास कृत 'पद प्रसंग माला' से ज्ञात होता है कि स्वामी तुलाराम (बाबरी सखी) की 'रास–मण्डली' भी थी। उनकी मण्डली ने एक बार रूपनगर जाकर वहाँ जन्माष्टमी के अवसर पर रासानुकरण का प्रदर्शन किया था।

सुलखान—चाचा वृन्दावनदास कृत 'रसिक अनन्य परिचयावली' में रासलीला के प्रति अत्यन्त रुचि रखने वाले राधावल्लभ सम्प्रदायी एक भक्त सुलखान का उल्लेख हुआ है। उन्हें भौगाँव का निवासी और नरवाहनजी का वंशज बतलाया गया है। उनका उपस्थिति काल १७वीं शताब्दी का अन्तिम दशक जाना पड़ता है।

नवल सखी—वह ब्रज के करहला गाँव का निवासी एक सनाढ्य ब्राह्मण था। उसका मूल नाम नवलकिशोर था; किन्तु गो० ब्रजलालजी से राधावल्लभ सम्प्रदाय की दीक्षा लेने के उपरान्त वह नवल सखी के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। उसे रास–नृत्य से बड़ा प्रेम था और वह श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में भक्तिपूर्ण नृत्य किया करता था। उसका निवास वृन्दावन में सेवाकुंज के समीप था। अपने अन्तिम दिनों में वह बरसाना चला गया था। वहाँ उसका निवास श्री नागरीदासजी की मोरकुटी और गह्वर वन की लता–कुंजों में रहा था। उसकी विद्यमानता का काल १८वीं शती है।

कृष्णदास—नाभाजी ने बतलाया है, वह खरगू सुनार का पुत्र था; किन्तु नृत्य–गान कुशल एक भजनानन्दी भक्त के रूप में उसकी प्रसिद्धि थी। जब वह तान, स्वर, ताल एवं सहित अंग–विक्षेप तथा भ्रू–भंगिमा द्वारा अपनी कला का प्रदर्शन करता था, तब उसकी उपमा ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती थी। वह 'संगीत रत्नाकर' और 'रागमाला' आदि ग्रन्थों के अनुसार नृत्य–गान करता हुआ

श्रीराधाकृष्ण को रिझाता था। (भक्तमाल, छप्पय सं० १८०)। कृष्णदास नामक बहुसंख्यक भक्तजन हुए हैं। उक्त कृष्णदास का जीवन–वृत्तान्त एवं काल अनिश्चित है।

मुरारिदास—नाभाजी के कथनानुसार वह मारवाड़ राज्य के बिलोंदा गाँव का निवासी नर्तक भक्त था। उसने एक धार्मिक महोत्सव किया था, जिसमें अनेक सन्त सम्मिलित हुए थे। उस अवसर पर उसने अपने पैरों में घुँघरू बाँधकर 'देशीय' पद्धति से नृत्य करते हुए राम–चरित्र का प्रदर्शन किया था। वह ऐसा भाव–विभोर हुआ कि उसने अपने प्राण ही त्याग दिये। इसका उल्लेख 'भक्तमाल' के छप्पय सं० १२८ में किया गया है।

अलि भगवान—प्रियादासजी ने लिखा है कि अलि भगवान एक रामोपासक भक्त थे। एक बार वे वृन्दावन गये थे; वहाँ पर रासमण्डल पर रास होता हुआ देखकर वे उसके प्रति इतने अनुरक्त हुए कि अपने ठाकुरजी को भी 'रासबिहारीजी' कहने लगे थे।[1]

प्रयागदास—नाभाजी ने उन्हें रामोपासक भक्त बतलाया है। एक बार रासलीला देखते हुए वे इतने आनन्दित हुए कि अपना शरीर छोड़कर रास–रस में लीन हो गये थे।[2]

भगवानदास तँवर—'भक्तमाल' में उनकी साधु–सेवा की बड़ी प्रशंसा की गई है। उसमें लिखा है कि भगवानदास प्रतिवर्ष मथुरा जाकर वहाँ बड़ा महोत्सव करते थे। वे रास–विलास और हरि–कीर्तन कराते थे तथा साधु–सन्तों का भण्डारा करते थे।[3]

राजा रामरयन—'भक्तमाल' में उनकी रास के प्रति अपूर्व निष्ठा का उल्लेख किया गया है। एक बार वे रासलीला देखकर इतने प्रसन्न हुए कि कृष्ण के स्वरूप को उन्होंने अपनी पुत्री ही अर्पित कर

---

१. नाभाजी कृत 'भक्तमाल', छप्पय सं० ९४, 'भक्तरस बोधिनी', कवित्त सं० ५७५।
२. वही, छप्पय सं० १६६।
३. भक्तमाल, छप्पय सं० १५४ और प्रियादासजी का कवित्त सं० ५७५।

दी थी। उक्त घटना का उल्लेख प्रियादासजी ने किया है।[1]

श्रीनाथ भट्ट—वे चैतन्य मत के अनुयायी भक्तजन थे। नाभाजी ने उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य की प्रशंसा करते हुए उन्हें रास–रस के उपासक भक्तराज भी बतलाया है—

'रस–रास उपासक भक्तराज, नाथ भट्ट निर्मल वैन।[2]

गिरिधर ग्वाल—नाभाजी ने उनकी भक्ति–भावना और नृत्य–गान के प्रति अभिरुचि का कथन किया है। 'भक्तमाल' में बतलाया गया है कि एक बार उन्होंने अपने मालपुरा गाँव में रास का आयोजन किया, जिसमें प्रसन्नतापूर्वक अपना सर्वस्व दान कर दिया था।[3]

खड्गसेन जी—'रसिक अनन्य माल' के अनुसार वे भानुगढ़ निवासी कायस्थ थे और माधोसिंह के प्रधान थे। कथा–कीर्तन, हरि–गान और साधु–सेवा के साथ ही साथ उनकी अभिरुचि रास–विलास के प्रति अधिक थी। 'भक्तमाल' में उन्हें रास–लीला के आनन्द में अपने प्राण न्यौछावर करने वाला बतलाया गया है।[4]

माधवजी सिंधिया—वे वीर पुरुष होने के साथ ही साथ भक्तजन भी थे। श्री सहचरिशरणजी कृत 'ललित प्रकाश' से ज्ञात होता है कि वे 'टटिया स्थान' के महन्त श्री ललितमोहिनीजी (सं० १८२३–१८५८) तथा ठाकुर रसिकविहारीजी के महन्त गोवर्धनजी के प्रति श्रद्धा रखते थे। वे कृष्ण–भक्त और रास–प्रेमी थे। वृन्दावन में वे प्रायः रास कराया करते थे। उनके भक्ति काव्य की रचना 'माधव–विलास' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है।

रूपराम कटारा—वह बरसाना का धनाढ्य ब्राह्मण और जाट राजा सूरजमल का पुरोहित था। भक्तवर नागरीदास कृत

---

१. वही, छप्पय सं० ११९ और प्रियादासजी का कवित्त सं० ४८९।
२. भक्तमाल, छप्पय सं० १५९।
३. भक्तमाल, छप्पय सं० १९४।
४. भक्तमाल, छप्पय सं० १६१, भक्तरस बोधिनी, कवित्त सं० ५९२।

'सुजनानन्द' नामक एक काव्य–कृति (रचना सं० १८१०) में बतलाया गया है, जब रूपराम राजा सूरजमल के साथ दिल्ली–अभियान में विजयी होकर लौटा था, तब उसके उपलक्ष्य में उसने बरसाना में रासलीला का आयोजन किया था। उसमें नन्दगाँव से नन्द–यशोदाजी और उनके साथ कृष्ण–बलराम एवं ग्वाल–बालों के बरसाना आने और उनका वृषभानुजी द्वारा स्वागत–सत्कार किये जाने की लीला का अद्‌भुत अभिनय किया गया था।

ललितकिशोरीजी–(सं० १८८२–१९४२) उनका मूल नाम शाह कुंदनलाल था। वे लखनऊ के एक धनाढ्य जौहरी थे। बचपन से ही वे धार्मिक एवं कलात्मक अभिरुचि के थे। अतः वे ब्रज में निवास करने को बड़े उत्सुक रहते थे। सं० १९१३ में वे अपने व्यापारिक एवं कौटुम्बिक दायित्वों से मुक्त होकर परिवार सहित ब्रज में आ गये और वृन्दावन में स्थायी रूप से रहने लगे। उनकी भक्ति–भावना, कलाभिरुचि और काव्य–प्रतिभा अनुपम थी। उन्होंने वृन्दावन में 'ललित निकुंज' (शाहजी का मन्दिर) नामक जो दर्शनीय देवालय बनवाया था, उसका उल्लेख विगत पृष्ठों में किया जा चुका है। उन्हें रास से भी बड़ा प्रेम था। वे अपने मन्दिर में प्रायः रास का प्रदर्शन कराते थे और उसे बड़े भक्ति–भाव से देखते थे। उन्होंने रास सम्बन्धी अनेक सुन्दर पदों की रचना की थी, जिनका गायन रासलीला में किया जाता रहा है।

नारायण स्वामीजी–(सं० १८८५–सं० १९५७) वे पंजाब के सारस्वत ब्राह्मण थे। यद्यपि वे विवाहित थे, तथापि गार्हस्थिक कार्यों से उदासीन रहते थे। सं० १९१६ में वे घर–वार से विरक्त होकर ब्रज में निवास करने के लिए वृन्दावन आ गये थे। वहाँ पर अपने जीवन–निर्वाह के लिए उन्होंने लालाबाबू मन्दिर के कार्यालय में नौकरी कर ली थी। वे दिन में मन्दिर की व्यवस्था तथा देख–भाल का कार्य करते थे और रात में सन्त–महात्माओं के सत्संग और

रासलीला के प्रदर्शन का आनन्द लेते थे। बाद में वे संन्यासी हो गये और उन्होंने नौकरी छोड़ दी। संन्यासी होने पर भी उनका मन श्रीराधाकृष्ण के रास–विलास में अधिक रमता था और वे उसी के आनन्द में निमग्न रहते थे। उन्होंने रासलीला और माधुर्य भक्ति के बहुसंख्यक पदों की रचना की थी, जो विभिन्न राग–रागिनियों में निबद्ध हैं। वे वृन्दावन में प्राय: टिकारी वाले मन्दिर की रासमण्डली के साथ रहते थे और रासधारियों द्वारा अपनी रचनाओं का गायन एवं अभिनय कराते थे। वे स्वयं भी उनके गायन, नृत्य एवं अभिनय में योग देते थे। उनकी रचनाएँ भक्तजनों में बड़ी लोकप्रिय हुई थीं। प्रत्येक रासमण्डली को अपने प्रदर्शन की सफलता के लिए उनकी रचनाओं का गायन और उनके द्वारा नृत्य एवं अभिनय कराना अनिवार्य हो गया था। उनकी समस्त रचनाओं का संकलन 'ब्रज–विहार' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में नारायण स्वामीजी की अन्य कृतियों के साथ उनके द्वारा कथित रासलीला सम्बन्धी ४४ रचनाएँ भी हैं। ब्रज के रासधारीगण रासलीला के प्रदर्शन में ब्रजवासीदास और चाचा वृन्दावनदास की रचनाओं के साथ–साथ नारायण स्वामी की इन रचनाओं का भी उपयोग करते रहे हैं।

ग्वारिया बाबा–(सं० १९००–सं० १९९५) उनके आरम्भिक जीवन, यहाँ तक कि उनके मूल नाम की भी ठीक जानकारी किसी को नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि उनका जन्म सं० १९०० के लगभग दतिया राज्य के किसी ब्राह्मण कुल में हुआ था। दतिया का राजा भवानी सिंह उनका बड़ा सम्मान करता था। अपने आरम्भिक जीवन में ही वे संगीत के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों में निष्णात हो गये थे। वे श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे; अत: ब्रज में आकर रहने लगे थे। वे अधिकतर वृन्दावन में रहे थे और वहाँ पर ही उनका निधन हुआ था। वे श्रीकृष्ण की सख्य भाव से भक्ति करते थे और

अपने को 'ब्रजराज कुमार का ग्वारिया सखा' कहा करते थे। उनका विचित्र वेश भी एक ग्रामीण ग्वाला के समान था। उसके कारण वे अपने मूल नाम की अपेक्षा 'ग्वारिया बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे।

'रासानुकरण' से उन्हें बड़ा अनुराग था। वे प्रायः रास–मण्डलियों के साथ रहते थे और अपने अपार संगीत–ज्ञान का लाभ उन्हें दिया करते थे। उन्होंने रासलीलानुकरण में प्रयुक्त गान– वाद्य को समृद्ध एवं कलात्मक बनाने में बड़ा योग दिया था। रास–मण्डलियों के 'स्वामियों' और 'स्वरूपों' को संगीत की शिक्षा देना उनका नित्य–नियमित कार्य था। उसे वे निःस्वार्थ भाव से पूरी लगन के साथ किया करते थे। रासानुकरण के संगीत पक्ष को उनकी अनुपम देन है।

बाबा श्यामदास—उनका निश्चित समय और आरम्भिक जीवन–वृत्तान्त ज्ञात नहीं है। अनुमानतः वे १९वीं शती के उत्तरार्द्ध से लेकर २०वीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। ऐसा कहा जाता है कि अपने आरम्भिक जीवन में उन्होंने सलेमाबाद की निम्बार्कीय गद्दी के पीठाधीश श्री निम्बार्कशरणजी (आचार्यत्व काल सं० १८७०–सं० १८९२) से मन्त्र–दीक्षा ली थी और उसी गद्दी के वे प्रबन्धा–धिकारी थे। कुछ समय बाद ही वे विरक्त भाव से ब्रजवास करने को चले आये थे। ब्रज में आकर उन्होंने एकान्त वनों में भजन–ध्यान किया था। अपने अन्तिम काल में वे गोवर्धन स्थित कुसुम सरोवर के निकटवर्ती वन की एक कुटी में भजन–ध्यान किया करते थे। वह कुटी उनके नाम पर 'श्याम कुटी' कहलाती है।

बाबा श्यामदास भजनानन्दी तपस्वी महात्मा होने के साथ ही साथ 'रासानुकरण' के बड़े अनुरागी और उसके प्रचार–प्रसार में सचेष्ट थे। उन्हीं की प्रेरणा से 'रास–सर्वस्व' कार राधाकृष्ण के पिता करहला निवासी बिहारीलाल ने रासमण्डली का गठन कर ब्रज की लुप्तप्राय रासलीला के व्यापक प्रचलन में योग दिया था। उनका

देहावसान 'श्याम कुटी' में हुआ था, जहाँ उनकी समाधि और चरण–चिह्न हैं।[१]

डॉ० वसंत यामदग्नि ने लिखा है–'बाबा श्यामदास प्राचीन वाणियों का संकलन कर उन्हें रासधारियों को लीलाभिनय के लिए देते थे। सूरसागर के आधार पर 'सनेह लीला' का कथा–प्रबन्ध रच कर उन्होंने स्वामी बिहारीलाल को दिया था, जो अपनी मण्डली द्वारा उसे प्रदर्शित करते थे। बाबा श्यामदासजी की परम्परा में खेरिया गाँव के दामोदरदास हुए, जिनके शिष्य बोहरे ब्रजलालजी ने रासमंचीय लीलाओं के अनुकरणात्मक रूप में अनेक नवीन प्रयोग निम्बार्कीय भाव–साधना को दृष्टि–पथ पर रखकर किये थे। अतः रासमंच के विकास एवं विस्तार में बाबा श्यामदास का प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष अनेक विध योगदान रहा है।'[२]

बोहरे ब्रजलाल–(सं० १९२९–१९९७)–उनका जन्म अलीगढ़ जिलान्तर्गत फौजुआ नामक गाँव के एक पालीवाल ब्राह्मण परिवार में सं० १९२९ को हुआ था। वे आरम्भ से ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे; अतः वृन्दावन में 'कुंज' बनवाकर रहने लगे थे। उनकी निष्ठा निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रति थी और 'रासलीलानुकरण' से उन्हें बड़ा अनुराग था। उनके समय में जो रासमण्डलियाँ थीं, उनके द्वारा किये गये 'लीलानुकरण' के प्रदर्शनों से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। फलतः उन्होंने स्वयं एक रासमण्डली का गठन किया, जिसके 'स्वामी' खेरिया गाँव के श्री दामोदरदासजी थे।

बोहरेजी की रासमण्डली निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बन्धित थी। उसके द्वारा जिन लीलाओं का प्रदर्शन किया जाता था, उनमें वृन्दावनी सन्त–महात्माओं की 'वाणी' के साथ–साथ निम्बार्कीय भक्त कवियों की रचनाओं का गायन होता था। श्री हरिव्यासदेवजी

---

१. लेखक कृत 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास', द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २९०।

२. डॉ० यामदग्नि कृत 'रासलीला तथा रासानुकरण विकास', पृष्ठ ३१३।

कृत 'महावाणी' उनका प्रमुख प्रेरणा स्त्रोत था; जिसके आधार पर वे 'अष्टयाम लीला' का आयोजन करते थे। उन्होंने स्वयं कुछ नवीन लीलाओं की रचना भी की थी और नये-नये प्रयोग किये थे। उनकी मण्डली के भावपूर्ण प्रदर्शनों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। बोहरेजी की मण्डली सेवा-भावी थी; किन्तु उससे प्रेरणा प्राप्त कर निम्बार्क सम्प्रदायी अनेक व्यवसायी मण्डलियों का भी गठन हुआ था। इस समय जो बहुसंख्यक निम्बार्कीय रासमण्डलियाँ हैं, उसका श्रेय बोहरे ब्रजलालजी के अथक प्रयास को है।

बोहरे जी द्वारा रचित लीलाओं में उनकी नाम-छाप 'कृष्ण-जीवनी' है। वे 'लीलानुकरण' की सुव्यवस्था के लिए बड़े सचेष्ट रहते थे और अपने नियन्त्रण में उसे बड़े भक्ति-भाव के साथ सम्पन्न कराते थे। वर्तमान युग के रासानुरागियों में बोहरे ब्रजलालजी का नाम प्रसिद्ध है। उनका देहावसान होने पर उनके पुत्र मुरलीधर ने रासमण्डली का संचालन किया था।

हरिबाबा—(सं० १९४१-२०२६)-वे वृन्दावन निवासी एक भजनानन्दी महात्मा थे। 'रासलीलानुकरण' के प्रति उनकी अनुपम निष्ठा थी। उनकी भक्ति-साधना का प्रमुख अंग ही 'लीला-नुकरण' का दर्शन कराना था। जहाँ 'लीलानुकरण' का प्रदर्शन होता था, वे वहाँ पहुँच जाते थे और आरम्भ से अन्त तक रास-मंच के पास चँवर लेकर खड़े रहा करते थे। जब तक राधाकृष्ण के स्वरूप मंच पर आसीन रहते थे, वे उन पर चँवर ढुलाया करते थे। उनकी जीवनचर्या का वह आवश्यक कर्म था, जिसका पालन उन्होंने नियमित रूप से किया था।

सामान्यतया 'लीलानुकरणों' में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का प्रदर्शन होता है। इधर कुछ समय से अवतारी पुरुषों के चरित्र भी प्रदर्शित किये जाते रहे हैं। इसके सम्बन्ध में हरिबाबा ने पहल की थी। श्री चैतन्यदेव को उनके सम्प्रदाय राधाकृष्ण के युगल स्वरूप

का अवतार माना जाता है। श्री चैतन्यजी के जीवन–काल में ही उनके बंगाली भक्त उन्हें अवतारी पुरुष मानने लगे थे। बंगाल के अनेक स्थानों में मन्दिर बनाकर उनकी मूर्तियाँ स्थापित की गयी थीं और उनकी सेवा–पूजा की जाती थी।

हरिबाबा की प्रेरणा से श्री चैतन्य महाप्रभु के पावन चरित्र का प्रदर्शन 'श्री गौरांग लीला' के रूप में किया जाने लगा। इससे 'लीलानुकरण' के एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ। स्वामी हरिगोविन्दजी की रासमण्डली ने 'श्रीगौरांग लीला' के प्रदर्शन में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। उसका अनुकरण अन्य रासमण्डलियों के स्वामी भी करने लगे थे। वे 'श्री गौरांग लीला' के साथ–साथ 'श्री हरिदास लीला' भी प्रदर्शित करते हैं।

रासलीला का आध्यात्मिक आधार–

परब्रह्म कृष्ण की रसमयी चिरंतन क्रीड़ा–रास का मूल तत्त्व 'रस' है और परब्रह्म कृष्ण स्वयं रसरूप हैं–'रसो वै सः' (उपनिषद्)। 'लीला' का अभिप्राय है, परब्रह्म की शाश्वत क्रीड़ा ; इस प्रकार 'रासलीला' परब्रह्म कृष्ण की रसमयी चिरंतन दिव्य क्रीड़ा है। तत्त्वतः रासलीला का आधार आध्यात्मिक है। इसे लौकिक काम–क्रीड़ा समझना बहुत बड़ी भूल है।

भक्ति युग में जब कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यों और उनके अनुगामी रसिक भक्तों ने अपने भजनानन्द की प्राप्ति के साथ ही साथ सात्त्विक वृत्ति के धार्मिक व्यक्तियों को सरस मनो–विनोद प्रदान करने के लिए रासलीला की लुप्तप्राय प्राचीन परम्परा को पुनः प्रचलित किया था, तब उन्होंने रासलीला के आध्यात्मिक अभिप्राय को ही स्वीकार किया। उसी को उन्होंने अपने–अपने सम्प्रदायों में मान्यता दी थी। इस सम्बन्ध में उन सबका दृष्टिकोण प्रायः समान था।

धार्मिक मनीषियों की मान्यता–कृष्णोपासक विविध सम्प्रदायों के आचार्यों और भक्त महानुभावों ने अपनी उपासना–

भक्ति के अनुसार रास की विविध प्रकार से व्याख्या की है, जिसमें मूलतः उसे अध्यात्म पर आधारित माना है। उन्होंने अपनी–अपनी मान्यता के अनुसार उसे ज्ञान, योग, भक्ति और अध्यात्म के उच्चतम धरातल पर आसीन कर उसका विशद् गुणानुवाद किया है।

पुष्टि सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी ने भागवत की 'रास–पंचाध्यायी' पर 'सुबोधिनी' नामक टीका की रचना की है। इसमें 'रास–क्रीड़ा' को ब्रज–गोपिकाओं के लिए 'भगवान का परम अनुग्रहैकलभ्य स्वरूपात्मक भजनानन्द का दान' बतलाया गया है, जो ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठतर है। उस दान को प्राप्त करने वाली गोपिकाओं की दो श्रेणियाँ मानी गयी हैं, जिन्हें श्रुतिरूपा (परोढ़ा) और ऋषिरूपा (कुमारिका) कहा गया है। तीसरे वर्ग की गोपिकाएँ 'अंतर्गृहगता' हैं। श्री आचार्यजी के मतानुसार उनका रास–क्रीड़ा में प्रत्यक्ष प्रवेश नहीं हुआ था; क्योंकि उनकी भगवान् में जार–बुद्धि थी। पूर्वोक्त श्रुतिरूपा गोपिकाओं की भगवान् में जार–बुद्धि नहीं थी। उनका परब्रह्म पुरुषोत्तम कृष्ण में माहात्म्य–ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ अनुराग था। वे उन्हें यशोदा पुत्र न मानकर समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा के दृष्टा परब्रह्म मानती थीं–

न खलु गोपिकानंदनो भवान्, अखिलदेहिनामंतरात्म दृक्।

–सुबोधिनी, १०–२८–४

वे गोपिकाएँ भगवान् से कहती हैं–'हमने वासनारहित मन आदि ११ इन्द्रियों के विषयों को सर्वथा परित्याग कर दिया है, तब आपके पास आई हैं; जहाँ श्रुतियों की भी पहुँच नहीं है। यदि हममें कोई विषय–वासना शेष होती तो आपके चरणों तक पहुँचना भी सम्भव नहीं था। इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अन्तःसाक्ष्य और श्री वल्लभाचार्यजी कृत 'सुबोधिनी' के प्रमाण से रासलीला का आध्यात्मिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसकी स्पष्ट घोषणा रास–क्रीड़ा की फलश्रुति में इस प्रकार की गयी है–

विक्रीड़ितं ब्रजवधूभिरिदं च विष्णो:, श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयाद्य वर्णयेत्।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं, हृद्रोगमा: वपहिनोत्यचिरेण धीर:॥

—श्रीमद्‌भागवत, सुबोधिनी, १०–३०–४०

अर्थात्—गोपिकाओं के साथ सर्वव्यापक भगवान् की इस विशिष्ट क्रीड़ा (रासलीला) को जो सुने या कथन करे, उसको पराभक्ति प्राप्त हो जाती है और उसका हृदय–रोग (काम) दूर हो जाता है। वह धीर पुरुष स्वल्प काल में ही विवेकशील होता है।[१]

ब्रज भाषा के महाकवि सूरदासजी श्री वल्लभाचार्यजी के शिष्य और बड़े समर्थ भक्त–कवि थे। उन्होंने कृष्ण–लीला के सरस प्रसंगों के साथ रास का भी विविध भाँति से कथन किया है। उनकी एक रचना 'सारावली' में गोलोक स्थित दिव्य वृन्दावन के 'नित्य रास' का वर्णन है; जो आध्यात्मिकता से पूर्ण है। उस दिव्य वृन्दावन में कालिन्दी का रत्नजटित तट है और जहाँ विहार होता रहता है। 'सारावली' का तत्सम्बन्धी उल्लेख इस प्रकार है—

अविगत, आदि, अनंत, अनूपम, अलख पुरुष अविनासी।
पूरन ब्रह्म, प्रगट पुरुषोत्तम, नित निज लोक विलासी॥
जहाँ वृन्दावन आदि अजर, जहाँ कुंज–लता विस्तार।
तहाँ बिहरत प्रिया–प्रीतम दोऊ, निगम भृंग गुंजार॥
रतन जटित कालिंदी कौ तट, अति पुनीत जहाँ नीर।
सारस–हंस–चकोर–मोर खग कूजत, कोकिल–कीर॥
जहाँ गोवर्धन परवत मनिमै, सघन कंदरा सार।
गोपिन मंडल मध्य विराजत, निसि–दिन करत बिहार॥

सूरदासजी ने श्रीनाथजी का कीर्तन करते हुए रास सम्बन्धी बहुसंख्यक पदों का गायन किया था, जिनमें से प्राय: २५० पद अब भी उपलब्ध हैं। फिर भी रास की आध्यात्मिकता के कारण उन्होंने उसके समुचित कथन में अपने को असमर्थ बतलाया है। वे कहते हैं—

---

१. 'रस निकुंज' (वर्ष २ अंक १,२,३) में प्रकाशित डॉ० विश्वनाथ शुक्ल के लेख 'श्री वल्लभाचार्य और रास' पर आधारित।

रास–रस रीति नहि वरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वैसौ मन लहौं,
कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै॥

वृन्दावन के जिन सम्प्रदायाचार्यों ने अपनी माधुर्य भक्ति के साधन रूप में रासानुकरण को मान्यता दी है, उनमें स्वामी हरिदासजी और हितहरिवंशजी के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। स्वामी हरिदासजी की उपासना 'नित्य विहार' की है, जिसका मूल तत्त्व 'नित्य रास' है। उनकी तत्सम्बन्धी मान्यता आध्यात्मिकता पर आधारित है।

हरिदासी सम्प्रदाय के एक भक्त–कवि भगवत रसिकजी ने भक्ति–साधना की संसिद्धि के लिए साधक द्वारा कई अवस्थाओं का क्रमशः पालन करना आवश्यक बतलाया है। उनमें से चौथी अवस्था विरक्त होकर वृन्दावन–वास की और पाँचवीं देहानुसन्धान–विस्मृति की होने पर ही छठी अवस्था 'रास की भावना' सम्भव मानी गयी है, जैसा उन्होंने कहा है—**चौथैं होय बिरक्त, बसै बनराज जसीलौ। पाँचैं भूलै देह निज, छठी भावना रास की।**' यह कथन आध्यात्मिकता से ओत–प्रोत है।

श्री हितहरिवंशजी 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' में अन्य कई सम्प्रदायों की भाँति गोलोक स्थित सूक्ष्म एवं भावनाजन्य वृन्दावन की मान्यता नहीं है; वरन् उसमें इस भूतल पर स्थित वृन्दावन को ही 'नित्य विहार' का आधार माना गया है। इसी वृन्दावन में श्रीराधा–कृष्ण का अहिर्निश रास–विहार होता है, जिसके कारण इसे भौतिक होते हुए भी 'नित्य वृन्दावन' का महत्त्व प्राप्त है। श्री हितहरिवंशजी और उनके सम्प्रदाय के महात्माओं की रचनाओं में इसी भौतिक किन्तु 'नित्य वृन्दावन' में होने वाले रास का कथन हुआ है, जिसमें आध्यात्मिकता का अभाव नहीं है।

सगुणोपासक रसिक भक्तों के साथ–साथ निर्गुणिका विरक्त संन्यासियों का भी रास के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही रहा है।

इसे श्री प्रबोधानन्दजी आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है।

रासलीलानुकरण का राम-भक्तों पर प्रभाव–

रासलीलानुकरण में प्रदर्शित की जाने वाली श्रीकृष्ण की सरस लीलाएँ इतनी आकर्षक एवं आनन्ददायक सिद्ध हुई थीं कि उनसे कृष्णोपासक रसिक भक्तों के साथ–ही–साथ रामोपासक मर्यादा मार्गीय भक्तजन भी प्रचुरता से प्रभावित हुए थे। ऐसे कतिपय भक्तों का उल्लेख भक्तमाल आदि ग्रन्थों में मिलता है। उनमें से दो अलि भगवान् और प्रयागदास के संक्षिप्त विवरण 'रासलीलानुकरण' के अनुरागी 'महानुभाव' शीर्षक के अन्तर्गत लिखे जा चुके हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि एक ऐसा समय आया था, जब उक्त सम्प्रदाय की भक्ति–भावना में रसिक भावना का समावेश हो गया था, जिसने रामोपासना का रूप ही बदल दिया था। उस ऐतिहासिक घटना–क्रम पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

रामोपासना में रसिक भावना का समावेश—ऐसा समझा जाता है कि मर्यादा मार्गीय दास्य भाव की रामोपासना में राग मार्गीय माधुर्य भाव की रसिक भावना का समावेश रामानन्दी सम्प्रदाय में स्वामी अग्रदास (विद्यमानता १७वीं शती का मध्यकाल) ने किया था। अग्रदासजी के गुरु स्वामी कृष्णदास पयहारी का ब्रजमण्डल से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। उन्होंने अपने शिष्य–समुदाय के साथ ब्रज में आयोजित कृष्ण रास को अवश्य देखा होगा। उसी समय स्वामी अग्रदास कृष्ण–रास से प्रभावित होकर माधुर्य भाव के समर्थक हो गये होंगे। कालान्तर में उन्होंने रामानन्दी सम्प्रदाय में माधुर्य भक्ति से ओत–प्रोत रसिक भावना को मान्यता प्रदान की थी। वे 'सखी भाव' से सीता–राम की उपासना करते थे और 'अग्रअलि' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। 'भक्तमाल' के रचयिता श्री नाभाजी उन्हीं स्वामी अग्रदासजी के शिष्य थे।

नाभाजी कृत 'भक्तमाल' ऐसे कई रामभक्तों का उल्लेख

हुआ है, जो माधुर्य भाव से भगवान् राम की उपासना करते थे। उनमें से एक मानदास थे। उनके विषय में नाभा जी ने कहा है—'मानदास ने अपनी रचनाओं में करुण—वीर रसों के साथ ही साथ श्रृंगार के अन्तर्गत 'उज्ज्वल रस' का भी गायन किया था। उन्होंने रामायण और हनुमन्नाष्टक की रहस्यपूर्ण उक्तियों की व्याख्या भाषा कविता द्वारा की थी और श्री रामचंद्रजी की गोपनीय श्रृंगारिक लीलाओं का जन—साधारण में प्रचार किया था॥'[१]

मानदास जैसे राम—भक्तों को 'उज्ज्वल रस' के कथन की प्रेरणा ब्रज—वृन्दावन में निवास करने वाले रसोपासक एवं रासलीलानुरागी भक्तजनों से मिली होगी। १८वीं शती में उस प्रकार की भावना का रामानन्दी भक्तों में पर्याप्त प्रचार था। उस काल के एक ग्रन्थ 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में ऐसे कई राम—भक्तों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने रसोपासना के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए समय—समय पर ब्रज—वृन्दावन की यात्रा की थी और वहाँ के तत्कालीन रसिक भक्तों के सत्संग से वे लाभान्वित हुए थे। कुछ रसोपासक राम—भक्तों ने वृन्दावन में ही स्थायी निवास कर माधुर्य भक्ति की साधना की थी और रासलीला का आनन्द प्राप्त किया था।

१९वीं शती में उस स्थिति में परिवर्तन हो गया था। तब रामोपासक रसिक भक्तों ने वृन्दावन की अपेक्षा अयोध्या में निवास करना उचित समझा था। वहाँ पर वे ब्रज—निकुंजों में सम्पन्न श्रीकृष्ण की केलि—क्रीड़ा और उनके रास—विलास का चिन्तन छोड़कर प्रमोद वन में आयोजित श्रीराम की श्रृंगारिक लीलाओं का ध्यान करने लगते थे। ऐसे साधकों में रामदास वृन्दावनी, सन्तदास वृन्दावनी और बंगाली सन्त गोपालदास मुख्य थे।[२]

---

१. करुना वीर सिंगार आदि उज्जल रस गायौ॥
रामायन नाटक की, रहसि—उक्ति भाषा धरी।
गोप्य केलि रघुनाथ की, मानदास परगट करी॥ (भक्तमाल, छप्पय सं० १३०)

२. राम—भक्ति में रसिक सम्प्रदाय (डॉ० भगवती प्रसाद सिंह) पृष्ठ १३७, १७१।

रसिक भावना में विकार—१९वीं शती में ही रसिक भावना के कुछ राम–भक्तों द्वारा एक विचित्र प्रकार का आन्दोलन चलाया गया था। उसके द्वारा यह प्रचारित किया गया कि रासलीला तो वास्तव में भगवान् राम ने की थी। रामावतार में ९९ रासलीलाएँ सम्पन्न हो गयी थीं। शेष १ लीला की पूर्ति के लिए श्रीराम को श्रीकृष्ण के रूप में अवतार धारण करना पड़ा था। उस आन्दोलन को जानकी घाट (अयोध्या) निवासी और 'रामचरित मानस' के टीकाकार रामचरणदासजी ने चलाया था। उन्होंने श्रीराम की पति भाव से उपासना करने के लिए 'स्वसुखी' नामक एक नई शाखा की स्थापना की और अपने मत की पुष्टि करने के लिए कई ग्रन्थों की रचना की थी। उनके ग्रन्थों में 'महारामायण', 'महारासोत्सव' और 'कोशल खण्ड' प्रमुख हैं।

हिन्दी साहित्य के वरिष्ठ साहित्यकारों ने रामचरणदासजी के ग्रन्थों में वर्णित, विशेष रूप से 'कोशल खण्ड' में कथित उनकी मान्यताओं के प्रति क्षोभ व्यक्त किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'कोशल खण्ड' में राम की रासलीला और विहार आदि के अनेक अश्लील वृत्त कल्पित किये गये हैं। इस प्रकार विलास–क्रीड़ा में कृष्ण से कहीं अधिक राम को बढ़ाने की होड़ लगाई थी। गोलोक में जो नित्य रासलीला होती है, उससे कहीं बढ़कर साकेत में हुआ करती है। वहाँ की नर्तकियों की नामावली में रम्भा, उर्वशी आदि के साथ–साथ राधा और चन्द्रावली भी गिना दी गयी हैं। बाबा रामचरणदास की इस शृंगारी उपासना में चिरान–छपरा के जीवारामजी ने थोड़ा हेर–फेर किया था। उन्होंने 'पति–पत्नी भाव' के स्थान पर 'सखी भाव' रखा; और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। इसी 'सखी भाव' की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण किला (अयोध्या) के युगलानन्द शरण ने किया। उन्होंने चित्रकूट की भावना वृन्दावन के रूप में की, और वहाँ के कुंज ब्रज के क्रीड़ा–कुंज माने

गये। इस रसिक पंथ का आजकल अयोध्या में बहुत जोर है और वहाँ के बहुत से मन्दिरों में भक्तगण अब राम की 'तिरछी चितवन' और 'बाँकी अदा' के गीत गाने लगे हैं। भगवान् राम के दिव्य पुनीत चरित्र के कितने घोर पतन की कल्पना इन लोगों के द्वारा हुई है, यह दिखाने के लिए इतना बहुत है। लोक–पावन आदर्श का ऐसा वीभत्स विपर्यय देखकर चित्त क्षुब्ध हो जाता है।[१]

रामोपासक उन तथाकथित रसिकों की यह अशोभनीय प्रवृत्ति निःसंदेह खेदजनक है। किन्तु इसे कृष्ण–रास से प्रभावित मानना अथवा माधुर्य भक्ति या रसोपासना की देन समझना वस्तु–स्थिति के सर्वथा प्रतिकूल होगा।

[ब्रज की 'रास लीला' का प्रथम खण्ड 'इतिहास' समाप्त]

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १३२–१३३।

द्वितीय खण्ड

कला

रासलीलानुकरण का मंचीय स्वरूप—

विविध कलाओं का समुच्चय—रासलीलानुकरण ब्रज के गान–वाद्यपरक नृत्य एवं नाट्य का सम्मिलित रूप है। इसकी मूल भावना धर्माश्रित है, जो कलात्मकता से समृद्ध है। इसे खुले रंगमंच पर 'नित्य रास' और 'रास लीला' संज्ञक दो भागों में प्रदर्शित किया जाता है। 'नित्य रास' भगवान् श्रीकृष्ण के शाश्वत दिव्य नृत्य का अनुकरणात्मक रूप है और 'रासलीला' किंवा 'लीला' भगवान् श्रीकृष्ण की ब्रज–वृन्दावन में की हुई सरस लीलाओं की अनुकृति है। 'नित्य रास' में गान–वाद्य परक 'नृत्य' तत्त्व की और 'लीला' में संवादात्मक 'नाट्य' तत्त्व की प्रधानता रहती है। इस प्रकार रासलीलानुकरण अपने मंचीय रूप में गान, वाद्य, नृत्य, नाट्य के साथ ही साथ काव्य, चित्र आदि सभी ललित कलाओं का मनोरम समुच्चय है।

रासलीलानुकरण अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के कारण कला–कोविद धार्मिक मनीषियों के साथ–ही–साथ कलाभिरुचि एवं सात्त्विक प्रकृति वाले विशिष्ट दर्शकों को भी प्रिय है। उन सबको इससे अतीव आनन्द प्राप्त होता रहा है। यह उल्लेखनीय है कि जहाँ विविध कलाओं ने रासलीलानुकरण को कलात्मक रूप प्रदान किया है, वहाँ ये कलाएँ भी इससे अनुप्राणित होकर समृद्ध हुई हैं। 'रास' और 'कला' का यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बड़ा महत्त्वपूर्ण है। ब्रज संस्कृति को इससे जो गौरव प्राप्त हुआ है, वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इस खण्ड में रासलीलानुकरण की 'कला' पर प्रकाश

डाला जा रहा है।

रूप-विधान की समस्या और उसका समाधान— कृष्णोपासक धर्माचार्यों और उनके अनुगामी भक्त महानुभावों ने जब रासलीलानुकरण के प्रचलन का उपक्रम किया, तब उसके रूप-विधान की समस्या उत्पन्न हुई, जिसका समाधान करना उनका प्रथम कर्त्तव्य था। उसके लिए भरत मुनि कृत 'नाट्य शास्त्र' उन्हें आकर ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध था। उसके अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के बहुसंख्यक काव्य-नाटकादि, जैनियों की 'रास' अथवा 'रासो' संज्ञक रचनाएँ और मध्यकालीन भक्त-कवियों के स्फुट उल्लेख पर्याप्त संख्या में उनके समक्ष प्रस्तुत थे। किन्तु उनसे उन्हें पूर्णतया सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने 'गर्ग संहिता' तथा जयदेव-विद्यापति के काव्यग्रन्थों में वर्णित 'वसंत रास' की विधि को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने 'रासलीलानुकरण' के लिए अपना आदर्श श्रीमद्भागवत की 'रासपंचाध्यायी' में वर्णित 'शरद रास' को रखा और उसके प्रदर्शन की विधि का मूलाधार भरत मुनि कृत 'नाट्य शास्त्र'को बनाया। कुछ बातें उन्होंने जैनियों की 'रास' अथवा 'रासो' संज्ञक रचनाओं से भी ग्रहण कीं; किन्तु उनका वैष्णवीकरण कर दिया। इस प्रकार 'रासलीलानुकरण' के रूप-विधान की समस्या का समाधान कर लिया गया।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, रासलीलानुकरण का प्रदर्शन दो भागों में किया जाता है, जिन्हें 'नित्य रास' और 'रासलीला' किंवा 'लीला' कहते हैं। यहाँ पर पहले 'नित्य रास' के और फिर 'लीला' के मंचीय स्वरूप का उल्लेख किया जावेगा, जो मुख्यतया 'कला' से सम्बन्धित होगा।

१. नित्य रास

प्रारम्भिक (१७वीं शती का) स्वरूप—

'नृत्य तत्त्व की प्रधानता—भक्ति युग के आरम्भ में जब

धार्मिक भावना की संपुष्टि और कृष्णोपासना की संसिद्धि के लिए 'रासानुकरण' का प्रचलन हुआ, तब उसका शुभारम्भ भगवान् श्रीकृष्ण के 'नित्य रास' के अनुकरण से किया गया था। उसमें 'नृत्य' तत्त्व की प्रधानता थी, जो संगीत (गान–वाद्य) से संपुष्ट थी। उस 'नृत्य' का यथार्थ स्वरूप क्या था और महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी से लेकर श्री नारायण भट्ट जी के काल तक उसमें क्या–क्या परिवर्तन एवं परिवर्द्धन हुए, उनका प्रामाणिक विवरण जानने का कोई विश्वसनीय साधन इस समय उपलब्ध नहीं है।

उस समय जिन कलाकारों एवं रासमण्डलियों ने उक्त संगीतात्मक नृत्य का प्रदर्शन किया था, उन्होंने उसका कोई लिखित प्रारूप नहीं रखा, वरन् उसकी विधि को मौखिक रूप में सुरक्षित रखने का ही प्रयास किया था। फिर उसमें काल–क्रमानुसार क्रमशः परिवर्तन भी होता रहा था। इसलिए प्रारम्भिक स्वरूप से भली–भाँति परिचित होना इस समय सम्भव नहीं है।

'गोविन्द-लीलामृत' का उल्लेख—उस काल की निराशा–जनक परिस्थिति में आशा का एकमात्र साधन 'गोविन्द–लीलामृत' ग्रन्थ है, जिसकी रचना चैतन्य सम्प्रदाय के विख्यात कवि कृष्णदास कविराज द्वारा हुई है। उन्होंने इसे गौडीय महानुभाव श्री रूपगोस्वामी कृत लघु ग्रन्थ 'स्मरण मंगल स्तोत्र' के बृहद् भाष्य के रूप में रचा है। इससे नित्य रास के नृत्य के साथ ही साथ लीलानुकरण के प्रारम्भिक रूप का भी परिचय प्राप्त होता है।

'स्मरण मंगल स्तोत्र' में केवल ११ श्लोक हैं, किन्तु इसके भाष्य रूप में रचित 'गोविन्द–लीलामृत' में प्रायः २५०० श्लोक हैं, जिन्हें २३ अध्यायों में कथित किया गया है। इस विशद् काव्य ग्रन्थ में चैतन्य सम्प्रदाय के इष्टदेव श्रीराधा–गोविन्द की अष्टकालीन दैनन्दिनी लीलाओं का विस्तारपूर्वक सरस वर्णन है। इस ग्रन्थ के अन्तिम २२वें और २३वें अध्यायों में रास के नृत्य एवं गायन का विस्तृत कथन किया गया है।

इस ग्रन्थ में कविराज महोदय ने यद्यपि श्रीराधा–गोविन्द के दिव्य रास का कथन किया है, जो भावात्मक होने के साथ ही साथ प्राय: कवि–कल्पनाजन्य है, तथापि इससे तत्कालीन रासानुकरण के रूप विधान का भी परिचय मिलता है। कारण यह है कि जिस काल में सर्व श्री रूप गोस्वामी और कृष्णदास कविराज ब्रज में विद्यमान थे, उसी समय यहाँ पर रासलीलानुकरण के आयोजन की रूप–रेखा निश्चित की जा रही थी। उक्त दोनों महानुभावों ने उसमें सक्रिय योग दिया था और उसके संगीत एवं नृत्य का रसास्वादन किया था। इसलिए उनके कथन में तत्कालीन 'नित्य रास' एवं 'रास लीला' के रूप–विधान और उससे सम्बन्धित संगीत–पद्धति एवं नृत्य–शैली के तत्त्वों का समावेश मिलता है।

श्रीरामनारायण अग्रवाल ने 'गोविन्द लीलामृत' के आधार पर एक लेख लिखा है और अपने रास विषयक ग्रन्थ में उसका उल्लेख किया है।[१] हम उनके आधार पर 'नित्य रास' के प्रारम्भिक स्वरूप पर प्रकाश डाल रहे हैं।

'गोविन्द लीलामृत' में रास विषयक कथन करने से पहले ब्रज की प्राकृतिक शोभा और श्रीकृष्ण के वन–विहार का सरस वर्णन है। इससे पाठकों एवं दर्शकों की मन:स्थिति रास के वातावरण के अनुकूल हो जाती है। श्रीकृष्ण के वन–भ्रमण प्रसंग में आकाश के चन्द्रमा और भू–तल की लता–बेलादि को लक्ष्य करके जो शब्द, स्वर, ताल, लय, ग्राम, मूर्च्छना सहित गायन किया गया है, उसे सखियों ने थोड़ा परिवर्तन कर इस प्रकार गाया है कि वह रासानुकरण में भाग लेने वाले प्रिया–प्रियतम पर घटित हो जाता है। ऐसे काव्य–संगीतात्मक के अनेक उदाहरण कृष्णदास कविराज के ग्रन्थ में नृत्य–गान के प्रासंगिक संदर्भ में मिलते हैं। इस कथन में कविराज

१. बा. वृन्दावनदास अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित लेख–'ब्रज का रास रंगमंच और उसका भारतीय ललित कलाओं पर प्रभाव'; तथा 'ब्रज का रास–रंगमंच' नामक ग्रन्थ, पृष्ठ ३६५–३६९।

महोदय ने अपने संगीत–ज्ञान का सूक्ष्म परिचय दिया है। उन्होंने रासायोजन में गाये जाने वाले प्रमुख रागों और उनकी संगति के लिए विविध वाद्यों का नामोल्लेख करने के अनन्तर नृत्य की बहुसंख्यक तालों एवं विभिन्न मुद्राओं का भी कथन किया है।

इस ग्रन्थ के २३वें अध्याय में नृत्य–गान का जो सांगोपांग कथन है, उसकी यह विशेषता है कि वह ब्रज के वर्तमान रास–रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाने वाले 'नित्य रास' के क्रम से बहुत कुछ मिलता हुआ है। वर्तमान रास–मंच से सम्बन्धित तीन प्रमुख वर्ग हैं, जिन्हें स्वरूप (अभिनेता) समाजी (संचालक) और सामाजिक (दर्शक) के नामों से जाना जाता है। कविराज महोदय के कथन में इन तीनों वर्गों का उल्लेख मिलता है। इसी अध्याय के श्लोक ४–५–६ में रास के नृत्य का जो विवरण दिया गया है, वह वर्तमान 'नित्य रास' के नृत्य से मिलता हुआ है। इसके समर्थन में अग्रवाल जी ने श्रीकृष्ण, राधाजी और सखियों के नृत्य सम्बन्धी उन 'प्रमूलों' को उद्धृत किया है, जो वर्तमान रासानुकरण के परमूलों से प्रायः मिलते हुए हैं।

कृष्णदास कविराज की विद्यमानता का काल सं० १५७० से सं० १६४५ तक है और उनके ग्रन्थ 'गोविन्द लीलामृत' का रचनाकाल सं० १६२० के लगभग है। इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत भाषा में हुई है और इसे ब्रज के दिवंगत गौडीय सन्त बाबा कृष्णदास ने प्रकाशित किया है। इसका अध्ययन करने से 'नित्य रास' के प्रारम्भिक स्वरूप की भव्य झाँकी नेत्रों के सम्मुख आ जाती है।

परवर्ती (१९वीं शती का) स्वरूप–

'नित्य रास' का जो स्वरूप १९वीं शती में प्रचलित था, वह पूर्वोल्लिखित प्रारम्भिक रूप की अपेक्षा विकसित एवं व्यवस्थित था। उसे रासधारीगण ब्रजमण्डल के साथ ही साथ बाहर के स्थानों में भी प्रदर्शित करने लगे थे। उस काल के उन्नत स्वरूप का परिचय कतिपय विदेशी दर्शकों के उल्लेखों से मिलता है। उन दर्शकों में से

सर्वश्री जेम्स टाड, टामस डुंएट ब्रोटन और फ्रेडरिक ग्राउस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अमेरिका के शोधक विद्वान प्रो० नारविन हेइन ने उक्त विदेशी दर्शकों के उल्लेखों का संकलन अपने लेख 'रासलीला के विदेशी दर्शक' में किया है, जो स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ' (पृष्ठ ७१३–७१७) में प्रकाशित हुआ है। प्रो० हेइन ने फ्रेडरिक ग्राउस का उल्लेख अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है। उनकी रासलीलानुकरण सम्बन्धी प्रतिक्रिया उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मथुरा–ए–डिस्ट्रक्ट मेमोअर' में मिलती है। यहाँ प्रो० हेइन के लेख और श्री ग्राउस के ग्रन्थ पर आधारित 'रासलीला–नुकरण' के परवर्ती स्वरूप पर प्रकाश डाला जा रहा है।

जेम्स टाड का उल्लेख–अंग्रेजी शासन के प्रतिनिधि के रूप में टाड साहब दौलतराव सिन्धिया के दरबार में दस वर्ष तक रहे थे। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक कृति 'दि एनल्स एण्ड एंटिक्विटीज ऑफ राजस्थान' में लिखा है–"रासधारी वर्ग रास प्रदर्शन के लिए प्रत्येक वर्ष जन्माष्टमी के अवसर पर मथुरा से आया करता था तथा दरबार में जन्माष्टमी के दिन गोपी तथा कृष्ण–कन्हैया के प्रसंग का दृश्य उपस्थित करता था। यह निश्चित रूप से रास लीला थी।"[१] उन्होंने उसके सम्बन्ध में लिखा है– "उन पात्रों के, जो कृष्ण तथा उनके सखाओं और सखियों का अभिनय करते हैं, भावगीत अत्यन्त प्रभावपूर्ण होते हैं। उनके कथोपकथन अत्यन्त हृदयस्पर्शी होते हैं। इन गायक अभिनेताओं की करुणार्द्र स्वरलहरियों में जब भक्त–हृदयों का आनन्द–रस सम्मिलित हो जाता है, तो मुरली के स्वर में यह राग अत्यन्त आह्लादकारी प्रतीत होता है।.......रासधारियों के संगीत और नृत्य दोनों ही साधारण कलाकारों से उत्कृष्ट थे। उनके हाव–भाव आकर्षक थे और उनका

१. रासलीला के विदेशी दर्शक (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ), पृष्ठ ७१३–७१५।

स्वर स्वाभाविकता का अतिक्रमण नहीं करता था। उनका परिधान रुचिपूर्ण और समुचित था– विशेष रूप से कन्हैया, जिनके सिर पर सूर्यकान्त मणि थी और गले में रत्नों की माला थी, अत्यन्त भव्य लग रहे थे। वे समस्त वस्त्र जो कन्हैया और अन्य पात्र पहने हुए थे, महाराज के भण्डार से प्रदत्त थे। नृत्य के उपरान्त कृष्ण की प्रमुखतम लीलाओं का प्रदर्शन हुआ और यह प्रदर्शन इतना सफल और संयत हुआ कि इतने छोटे बालकों में वैसी कला आश्चर्य की वस्तु जान पड़ी। रासधारियों के साथ जितने वादक थे और बालक थे– सभी ब्राह्मण थे और यह अत्यन्त आनन्द का विषय था कि रास समाप्त होने के उपरान्त उनमें से प्रत्येक राजा के सम्मुख विनत होने के स्थान पर एक–एक करके महाराज के सामने आया और अपने छोटे–छोटे हाथ उठाकर राजा को आशीर्वाद देने लगा। महाराज आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए उनमें सम्मुख विनत हुए।''[१]

टामस डूएट ब्रोटन का विवेचन–ब्रोटन साहब दौलतराव सिंधिया के शिविर में ब्रिटिश रेजीडेंसी के प्रधान अंग–रक्षक थे। उन्होंने उस काल की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करते हुए कुछ पत्र लिखे थे जो 'लैटर्स रिटन इन ए मरहठा कंप ड्यूरिंग दी ईयर १८०९' नामक पुस्तिका में संकलित हैं। उसमें ३० अगस्त सन् १८०९ के पत्र में उस रासोत्सव का उल्लेख हुआ है, जिसे उन्होंने सिंधिया दरबार में देखा था। रास के मंच के सम्बन्ध में उनका कथन है–''जिस शामियानों में हमें बिठाया गया था, वह १५० फीट लम्बा था। वह तीन भागों में विभाजित था। बाँसों और बल्लियों पर रंगीन कागज चढ़ाकर एक बाढ़ खड़ी कर दी गयी थी, जिनमें दीपक जल रहे थे। सामने दो फीट ऊँचा रंगमंच था। उसके स्तम्भ और शिविकाएँ भलीप्रकार चित्रवेष्ठित थीं; इसे सिंहासन कहते हैं। इसके मध्य में फूलडोल था। फूलडोल में पुष्प, हीरक रत्न और बहुमूल्य

१. रासलीला के विदेशी दर्शक (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ), पृष्ठ ७१३।

मणियाँ सुसज्जित थीं। पुष्प–गुच्छ, पुष्पमालाएँ फूलडोल में विहँसते हुए बाल–गोविन्द को ढकेल रही थीं। पण्डितों, ब्राह्मणों का समुदाय अर्चना कर रहा था। कुछ व्यक्ति पंखा खींच रहे थे। शामियाने का मध्य भाग नर्तकों के लिए छोड़ दिया गया था। शेष दोनों ओर का स्थल दर्शकों से परिपूर्ण था।''[१]

श्री ब्रोटन ने रास करने वाले बालकों, गायकों और वादकों तथा उनकी रास–पद्धति के सम्बन्ध में लिखा है–''वे प्रायः किशोर होते हैं, ब्राह्मण होते हैं। वे मथुरा में रास सम्बन्धी शिक्षा पाते हैं, जहाँ एक बड़ा भू–भाग उनकी आजीविका का साधन है। इस ऋतु में वे देश के विभिन्न भागों के हिन्दू राजाओं के दरबारों में रास करने के लिए निकल पड़ते हैं। गायकों के अतिरिक्त चार अभिनेता भी हैं और सब सुन्दर बदन हैं।''[२]......''एक या दो नृत्य होने के उपरान्त रासधारी जो सामने की ओर एक ऊँचे मंच पर बैठे थे और जिनके चारों ओर चोबदारों, चौरीवर्दारों तथा अन्य सेवकों का समूह था– आगे–आगे उनमें जो तरुण किशोर था, वह कन्हैया के स्वरूप में था। सबसे छोटा किशोर कन्हैया की प्रेयसी राधिका बना था। रास 'बैलेट' (समूह नृत्य) के समान हुआ। इसमें प्रेम की भावना और चांचल्य का प्रादुर्भाव था; किन्तु सब कुछ रोचक और दिव्य था। गोपियों के साथ–गोकुल की बालाओं के साथ–भाषा में, जो ब्रज–प्रान्त में बोली जाती है–गायन हुआ।''[३]

श्री ब्रोटन ने उक्त रासोत्सव का शाब्दिक वृत्तान्त ही नहीं लिखा, बल्कि उसका एक तैल–चित्र भी बनाया था जो अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। उस चित्र में उस काल के रासोत्सव की बड़ी भव्य झाँकी दिखलाई देती है। उसमें दिखलाया गया है– शामियाने के मध्य में कृष्ण और गोपियाँ नृत्य कर रही हैं, उनके वस्त्र

---

१. रासलीला के विदेशी दर्शक (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ), पृष्ठ ७१४।
२. रासलीला के विदेशी दर्शक (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ), पृष्ठ ७१४।
३. रासलीला के विदेशी दर्शक (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ), पृष्ठ ७१४।

वैसे ही हैं, जैसे आज भी ब्रज की रासलीला में प्रचलित हैं। उनके बायीं ओर संगीत–समाज सुशोभित है। उसमें कुछ वादक ऐसे वाद्य बजाते हुए दिखलाई देते हैं, जिनका प्रचलन अब नहीं रहा है। दायीं ओर महाराजा अपने सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके शरीर–रक्षक खड़े हैं और विशेष अतिथि बैठे हुए हैं।''[१]

फ्रेडरिक ग्राउस का कथन—रासलीला के तीसरे विदेशी दर्शक श्री एफ०एस० ग्राउस थे, जो सन् १८७२ से १८७७ तक मथुरा के जिलाधीश भी रहे थे। उससे पहले वे कुछ समय तक ज्वाइंट मजिस्ट्रेट भी रह चुके थे। वहाँ के संस्मरणों से सम्बन्धित उन्होंने अपना जो विख्यात ग्रन्थ लिखा था, उसमें उन्होंने रास और रासधारियों के सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं— ''रासलीला एक अलिखित धार्मिक रूपक है, जिसमें श्रीकृष्ण के जीवन की सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं, जो मध्यकालीन यूरोप के चमत्कारिक नाटकों से बहुत कुछ मिलती हैं। उन प्रदर्शनों का आयोजन मथुरा जिला के करहला और पिसाया गाँवों में रहने वाले ब्राह्मणों के एक वर्ग द्वारा किया जाता है, जो 'रासधारी' कहलाते हैं। उनकी जीविका का आधार रासलीला के अतिरिक्त और दूसरा नहीं है।''[२]

श्री ग्राउस ने रासलीला के प्रदर्शन से सम्बन्धित कुछ भ्रमात्मक कथन भी किया है। उन्होंने लिखा है—''रासमण्डली का स्वामी और उसके साथी गायक और वादकगण रास के प्रदर्शन में सामूहिक रूप से भाग लेते हुए स्वयं वार्ता भी करते हैं, जबकि राधा और कृष्ण के स्वरूप बनने वाले बालक केवल मूक अभिनय ही करते हैं।''[३] कहने की आवश्यकता नहीं है कि श्री ग्राउस का उक्त कथन ठीक नहीं है। रासमण्डली का स्वामी और उसके साथीगण अधिकतर

---

१. रासलीला के विदेशी दर्शक (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ), पृष्ठ ७१४।
२. मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ० सं०), पृष्ठ ७९।
३. मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृ० सं०), पृष्ठ ७९।

गायन–वादन ही करते हैं, जबकि स्वरूप बनने वाले बालक स्वयं ही कथोपकथन, वार्ता और अभिनय करते हैं। जैसा पहले लिखा जा चुका है, उनकी भूल का कारण कदाचित् यह है कि उन्होंने केवल एक बार ब्रज के संकेत नामक स्थान पर कुछ समय के लिए विवाह–लीला का रास देखा था। उस समय प्रसंगवश राधाकृष्ण के स्वरूपों की बजाय रासमण्डली वाले ही वार्ता कर रहे होंगे। इस प्रकार की भूल टाड और ब्रोटन ने नहीं की है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि राधा–कृष्ण के स्वरूप स्वयं कथोपकथन से परिपूर्ण अभिनय करते थे।

नारविन हेइन की समीक्षा—उक्त तीनों विदेशी दर्शकों के उल्लेखों की समीक्षा करते हुए प्रो० नारविन हेइन ने लिखा है— ''इन तीनों लेखकों के कथनों का मूल्य इस बात में नहीं है कि वे किसी सत्य का उद्घाटन करते हैं, वरन् वे हमारे ध्यान को मथुरा प्रान्त की इस अपूर्व नाट्य कला की ओर आकर्षित करते हैं, जो परम्परा से वहाँ चली आ रही है और कला की दृष्टि से जिसका अत्यन्त मूल्य है। वे लेखक परम विद्वान् और प्रतिभाशाली मनुष्य थे। उनका कथन प्रभावपूर्ण है। उन तीनों ने रास लीला की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। जिन लीलाओं को उन्होंने देखा, वे उन्हें सांगोपांग अच्छी लगीं। वस्त्र परिधान के विषय में वे लिखते हैं, 'वे अत्यन्त आकर्षक, रंग–बिरंगे और सुन्दर थे। मण्डली का प्रत्येक पात्र अपना अभिनय सफलता से और प्रवाह–पूर्ण रीति से करता था।' रासधारियों के संगीत पर तो हमारे लेखक मुग्ध थे। हम जानते हैं कि विदेशियों के लिए किसी देश का सुन्दर–से–सुन्दर और भावपूर्ण संगीत भी कोई अर्थ नहीं रखता। वह उसका आनन्द उपलब्ध नहीं कर सकते और न अपने शब्दों में उसके स्वाद को व्यक्त कर सकते हैं। विदेशी संगीत सदैव प्रशंसा और श्रद्धा से वंचित रहता है, किन्तु रासलीला को इसका गर्व है। इन लेखकों ने उसके संगीत की प्रशंसा में कहा है कि 'रासधारियों' का स्वर कोमल

है, मजा हुआ है और आकर्षक है।' मुझे यह और कहने का साहस है कि इन लेखकों ने ऐसा लिखकर कोई अतिशयोक्ति अथवा भूल नहीं की है। नहीं, इससे भी अधिक यह कहना आवश्यक है—''बालक अभिनेताओं के कथोपकथन अत्यन्त शुद्ध और पूर्ण होते थे, वे भाव के शुद्ध वाहक थे। जिस स्वाभाविक उत्साह से वे बालक अभिनय करते थे—वार्तालाप करते थे, उसमें उन बालकों के शिक्षकों का धैर्य और प्रतिभा परिलक्षित होती थी। अन्त में यह भी कह देना अनुचित नहीं है कि यद्यपि ये लीलाएँ अतीव भक्तिपूर्ण है तथा इनमें आनन्द और प्रमोद का पर्याप्त अवकाश है।' अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दू जाति की कला और कलात्मक जीवन दोनों निम्न स्तर पर थे। विद्वद्वर्ग भी अपने प्राचीन साहित्य को भूल गया था। सामान्य जीवन में प्राचीन कलाओं का कोई सूत्र तत्सम्बन्धित नहीं था। जन-रुचि कुण्ठित हो गयी थी; किन्तु ऐसे समय में भी रासलीला ने जनता में सम्मान और श्रद्धा प्राप्त की थी।''[१]

आधुनिक (२०वीं-२१वीं शतियों का) स्वरूप–

'नित्य रास' का आधुनिक स्वरूप पूर्वोल्लिखित परवर्ती स्वरूप से अधिक भिन्न नहीं है। इसमें जो कुछ भिन्नता दिखलाई देती है, वह इसकी भक्ति-भावना और इसके कलात्मक स्तर से सम्बन्धित है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'नित्य रास' का आधुनिक स्वरूप न तो पहली जैसी प्रगाढ़ भक्ति-भावना से समन्वित है और न इसका कलात्मक स्तर ही पहले जैसा उच्चकोटि का है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'नित्य रास' का आधुनिक स्वरूप समस्त रासमण्डलियों में भी एक-सा नहीं है। यह भिन्न-भिन्न रासमण्डलियों के संचालकों (स्वामियों) की साम्प्रदायिक मान्यता, उनकी कलात्मक योग्यता और व्यक्तिगत रुचि पर भी निर्भर है। जैसे वल्लभ सम्प्रदायी रासमण्डलियों में कृष्ण के स्वरूप का मुकुट

---

१. रासलीला के विदेशी दर्शक (पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ), पृष्ठ ७१६।

दाहिनी ओर झुका रहता है और उनके द्वारा जो पद गाये जाते हैं, वे प्रायः सूरदास, नन्ददासादि पुष्टिमार्गीय भक्त–कवियों के होते हैं। वृन्दावनी भक्ति सम्प्रदायों से सम्बन्धित रासमण्डलियों में कृष्ण के मुकुट का झुकाव बायीं ओर होता है और उनके द्वारा गाये जाने वाले पद अधिकतर स्वामी हरिदास, हितहरिवंश और हरिराम व्यास आदि के होते हैं। जिन रासमण्डलियों का कोई विशेष साम्प्रदायिक आग्रह नहीं होता है, वे प्रायः कृष्ण के स्वरूप का मुकुट सीधा रखती हैं और सभी भक्त–कवियों के पदों को गाती हैं।

'नित्य रास' के स्वरूप का लिखित प्रारूप–'नित्य रास' के स्वरूप का कोई परम्परागत लिखित प्रारूप उपलब्ध नहीं है। इसका परिज्ञान प्रत्येक रासमण्डली को अपने घराने की मौखिक परम्परा से ही प्राप्त होता रहा है। इसे लिखित रूप में प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयास सम्भवतः मथुरा के एक रास–प्रेमी सज्जन श्री सूर्यप्रकाश शर्मा ने किया था। उन्होंने इसे सुप्रसिद्ध रासधारी स्व० लक्ष्मण स्वामी की सहायता से लिखा था और जिसका प्रकाशन 'ब्रज की रास–परिपाटी' शीर्षक से 'ब्रज–भारती' (वर्ष १४ अंक २, भाद्रपद सं० २०१३) में हुआ था। उसी को परिष्कृत रूप में 'आकाशवाणी' के कलाकार श्री गोकुलचंद रासधारी ने प्रस्तुत किया था, जो 'नित्य रास' शीर्षक से 'ब्रज–भारती' (वर्ष १६, अंक ३, मार्गशीर्ष सं० २०१५) के अंक में और 'रासलीला एक परिचय' नामक ग्रन्थ में एक साथ प्रकाशित हुआ। कालान्तर में हमने पूर्वोक्त विवरण में कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धन कर अपने ग्रन्थ 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' (सं० २०२३) के 'ब्रज की रासलीला' नामक अध्याय में प्रकाशित किया था। 'नित्य रास' का वह विवरण कुछ सामान्य परिवर्तनों के साथ कई ग्रन्थों एवं पत्र–पत्रिकाओं में समय–समय पर छपता रहा था।

इसी अवधि में रास सम्बन्धी दो शोध–प्रबन्ध और एक ग्रन्थ भी प्रकाति हो गये; जिनसे इस विषय का विस्तृत एवं गम्भीर अध्ययन हो सका है। इनमें से प्रथम शोध प्रबन्ध येल विश्वविद्यालय, अमरीका के प्रो० नारविन हेइन का है, जिसे उन्होंने कई वर्षों तक भारत में शोध कार्य करने के अनन्तर लिखा है। इसका नाम 'दि मिरेकिल प्लेज ऑफ मथुरा' (मथुरा के चमत्कारिक नाटक) है। इसके प्रथम भाग में कत्थक और रामलीला का वर्णन है और दूसरे भाग में 'मथुरा की रासलीला' शीर्षक से केवल रास का विशद् एवं शोधात्मक विवेचन किया गया है। रास के उद्‌भव और विकास का विस्तृत वृत्तान्त जानने के लिए यह शोध प्रबन्ध अत्यन्त उपयोगी है।

दूसरा शोध–प्रब़न्ध डॉ० वसंत यामदग्नि का है, जिसका नाम 'रासलीला तथा रासानुकरण विकास' है। इसे नई दिल्ली की संगीत–नाटक अकादमी' ने सं० २०३७ में प्रकाशित किया है। डॉ० यामदग्नि एक अध्ययनशील शोधक विद्वान हैं। इन्होंने कई वर्षों तक रासानुकरण का परिश्रमपूर्वक अनुसन्धान किया और कई रास–मण्डलियों के स्वामियों से विचार–विमर्श करने के उपरान्त अपना शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत किया है।

इस विषय का एकमात्र विशद् ग्रन्थ श्री रामनारायण अग्रवाल का है, जिसका नाम 'ब्रज का रास रंगमंच' है। इसे दिल्ली के 'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' ने सं० २०३८ में प्रकाशित किया है। श्री अग्रवाल बचपन से ही रासलीलानुकरण के प्रति आकर्षित और उससे सम्बन्धित रहे हैं। उन्होंने सर्वश्री लक्ष्मण स्वामीजी, लाड़िली–शरणजी, वेदरामजी, हरिगोविन्दजी और रामस्वरूपजी जैसे विख्यात रासधारियों के निकट सम्पर्क में रहकर रास सम्बन्धी विशेषज्ञता अर्जित की है। फलतः यह ग्रन्थ एक अधिकारी विद्वान की रचना है। डॉ० यामदग्नि और श्री अग्रवाल दोनों ने कदाचित् एक–दूसरे की कृतियों को नहीं देखा है। अतएव इन दोनों ने स्वतन्त्र रूप से

अपने–अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

'नित्य रास' के प्रदर्शक की पद्धति–रास सम्बन्धी परिकर के चार अंग हैं, जिन्हें १. स्वरूप, २. स्वामी, ३. समाजी और ४. सामाजिक कहा जाता है। इनमें से श्रीकृष्ण, राधाजी और सखियों का अभिनय करने वाले प्रशिक्षित बालक 'स्वरूप' कहलाते हैं। रास–मण्डली के संचालकों को 'स्वामी' कहते हैं। वे 'स्वरूपों' के प्रायः अभिभावक एवं प्रशिक्षक होते हैं और रासानुकरण में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं। गायकों एवं वाद्य–वादकों को 'समाजी' और दर्शकों को 'सामाजिक' कहा जाता है। 'नित्य रास' का आरम्भ होने से पहले ही ये सभी व्यक्ति अपने–अपने स्थानों को ग्रहण कर लेते हैं।

रास–स्थल के एक सिरे पर छोटा–सा मंच होता है, जिस पर बीच में सिंहासन और उसके दोनों ओर कुछ मूढ़े रखे होते हैं। सिंहासन पर श्रीकृष्ण तथा राधिकाजी के स्वरूप विराजते हैं। सखियाँ या तो मूढ़ों पर बैठती हैं या छत्र–चँवर लिए हुए कृष्ण–राधा के दोनो ओर खड़ी रहती हैं। मंच के नीचे सुविधानुसार 'स्वामीजी' और उनके सहकारी गायक एवं वादकगण वाद्य यन्त्रों को लेकर बैठ जाते हैं। उनके वाद्य सारंगी, हारमोनियम, पखावज, करताल, झाँझ, मजीरा आदि होते हैं। मंच के आगे खुला स्थान छोड़ दिया जाता है, जिस पर स्वरूप नृत्यादि करते हैं। मंच के तीनों ओर दर्शकों का समुदाय होता है। वे या तो खड़े रहते हैं या बैठ जाते हैं। वहाँ का समस्त वातावरण शान्त तथा भक्ति–भावना से परिपूर्ण होता है।

रास मंच पर आगे की ओर एक छोटा पर्दा टाँग दिया जाता है, जिसके पीछे सजे हुए स्वरूप आकर अपने–अपने आसनों पर बैठने लगते हैं। उधर समाजीगण अपने वाद्यों की संगति से समाज–गान आरम्भ कर देते हैं। उससे दर्शकों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट होता है और वहाँ का वातावरण भी रास के अनुकूल हो जाता है। तभी मंच पर टँगा हुआ पर्दा हटा दिया जाता है। उससे वहाँ

विराजे हुए स्वरूपों की झाँकी खुल जाती है। समस्त उपस्थित जन–समुदाय श्रीराधा–कृष्ण का जय–जयकार करने लगता है।

मण्डली के स्वामीजी अपने स्थान से मंच के समीप आते हैं और श्रीकृष्ण–राधिकाजी के चरण–स्पर्श कर साष्टांग दण्डवत प्रणाम करते हैं। फिर वे अपने स्थान पर जाकर सारंगी अथवा हारमोनियम के स्वरों के साथ मंगलाचरण–गायन में प्रवृत्त हो जाते हैं। वे संस्कृत के वंदनात्मक श्लोक एवं ब्रजभाषा के छन्दों द्वारा मंगलाचरण करते हैं। उसके उपरान्त निम्नलिखित शब्दों द्वारा नमस्कार करते हैं–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु:, गुरुर्देव महेश्वर:।
गुरु: साक्षात् परब्रह्म:, तस्मै श्री गुरुवे नम:॥
श्री ब्रजराज कुमार वर गाइये। भक्तन कौ मन–भावतौ गाइये।
ब्रज की जीवन–निधि गाइये। श्री लाड़िली–लाल वर गाइये॥

उसके उपरान्त शेष समाजी एवं वाद्य–वादक बारी–बारी से दोहे एवं पदों का गायन करते हुए वंदना करते हैं। फिर सब वाद्य–वृन्द के साथ सामूहिक रूप से सर्वश्री सूरदास, नन्ददास एवं स्वामी हरिदास आदि के किसी ध्रुपद को गाते हैं। गायन की समाप्ति से कुछ पहले ही गोपियाँ (सखियाँ) खड़ी हो जाती हैं और प्रमुख गोपी हाथ में थाली तथा उसमें जलता हुआ चौमुखा दीपक रखकर आरती करती हैं। शेष सखियों द्वारा आरती गाई जाती है और समाजीगण गान–वाद्य के साथ आरती के बोलों को दुहराते हैं। पहले पाँच आरतियों का गायन होता था; किन्तु अब प्राय: एक का ही होता है, जिसके बोल इस प्रकार हैं–

आरती कुंजबिहारी की। कि गिरिधिर कृष्ण मुरारी की॥
गले में वैजंती माला। बजावैं मुरली मधुर बाला॥
श्रवन में कुंडल झलकाला। नंद के नंदहि नँदलाला॥
कि गिरधर कृष्ण मुरारी की॥

आरती के पश्चात् सब सखियाँ बारी–बारी से युगल स्वरूप

के चरण–स्पर्श करती हैं। फिर एक सखी उनसे रासमण्डल में पधारने की प्रार्थना करती हुई कहती है–

'हे प्रिया–प्रियतम जू! आपके नित्य रास–विहार कौ समय ह्वै गयौ है, सो आप कृपा करिकै रासमण्डल में पधारो।'

इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं–'अच्छौ, सखी!' फिर वे राधाजी से रासमण्डल पर चलने के लिए कहते हैं। तब राधाजी उत्तर देती हैं–'अच्छौ, प्यारे! और साथ ही इस प्रकार गायन करती है–

प्यारे! रास–विलास कौ, मोहि बड़ौ उत्साह।
चलो चलैं सब सखिन संग, नव निकुंज के माँह॥

इसके उपरान्त श्रीराधा–कृष्ण के स्वरूप परस्पर गलबहियाँ डाले रासमण्डल पर नृत्य करने को उद्यत होते हैं। साथ में सखियाँ भी उठ खड़ी होती हैं। श्री जी (राधा) और ठाकुरजी (कृष्ण) एक साथ रहते हैं और सखियाँ इधर–उधर। रासमण्डली के स्वामीजी अपने परिकर के साथ गान–वाद्य आरम्भ करते हैं और उसी की ताल पर स्वरूपों का नृत्य भी आरम्भ हो जाता है। पहले श्री जी, ठाकुरजी तथा सखीगण कुछ नहीं गाते; केवल नृत्य करते हैं। वे मण्डलाकार और हाथों को फैलाये हुए पग–ताल देते जाते हैं। उस समय समाजी पद गाते हैं। एक पद इस प्रकार है–

नाँचत रास में रास–बिहारी, नँचवत हैं ब्रज की सब नारी।
तादीम–तादीम तत–तत थेई–थेई, थुँगन थुँगन देत गति न्यारी॥

इस गीत को पहले विलम्बित लय में गाते हैं; फिर दुगन में। दुगन ताल होते ही श्री ठाकुरजी, श्री जी तथा सखीवृन्द एकदम पैरों की ताल को बढ़ाकर चक्कर खाना आरम्भ कर देते हैं। चार या पाँच चक्कर खाकर सब नियमानुसार (श्री जी के सामने ठाकुरजी, बीच–बीच में सखियाँ) घुटनों के बल बैठ जाते हैं और वाद्यों की ताल के अनुसार हाथों को कई प्रकार से नँचा–नँचाकर भाव–प्रदर्शन करते हैं। साथ–साथ मुख, कमर आदि अंगों से भी भाव–नाट्य

करते हैं, फिर सब एक पंक्ति में खड़े हो जाते हैं। श्री ठाकुरजी के बाँयीं ओर, श्री जी तथा दोनों ओर सखियाँ रहती हैं। इसके पश्चात् निम्नलिखित तालों पर ठाकुरजी, श्री जी तथा सखी अलग–अलग नाचते हैं। पहले ठाकुरजी, फिर श्री जी और अन्त में एक–एक या दो–दो सखियाँ। सबसे पहले पुराने गीत को ही, तिगुनी ताल दुगन के स्थान पर अब चौगुनी कर देते हैं, स्वामीजी इस प्रकार गाते हैं–

''ततता थेई, ततता थेई, ततता थेई।''

इसके बोलते ही श्री ठाकुरजी पग–ताल देते हुए पंक्ति से निकल पड़ते हैं और लगभग चार–पाँच डग आगे फिरकर श्रीजी की ओर मुँह करके खड़े होते हैं। वे वाद्य पर पग–ताल देते, कूदते और फुदकते हैं। हाथों से वे स्वामीजी द्वारा गाये जाने वाले निम्नलिखित गीत पर नृत्य करते हैं। श्रीकृष्ण के नृत्य का परमूल (बोल) निम्नांकित है–

तिटक तिटक धिलांग, धिकतक, तोदीम धिलांग, तकतो।
ता धिलांग, धिग धिलांग, धिकतक, तोदीम तोदीम, धेताम धेताम॥
धिलांग धिलांग धिलंग, तक गदगिन थेई।
ततता थेई, ततता थेई ततता थेई॥

समाजी द्वारा जैसे ही परमूल की अन्तिम पंक्ति का उच्चारण होता है, श्रीकृष्ण उछलकर हाथों को पृथ्वी पर टेकते हैं और एक लम्बी छलांग भरते हैं। इसके साथ ही विविध 'करणों' द्वारा कलात्मक देह–भंगिमाओं को प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण अनेक प्रकार की भाव–भंगिमाओं को दिखाते हुए अपने स्थान पर लौट जाते हैं।

श्रीकृष्ण के उपरान्त राधिकाजी नृत्य करती हैं। उनका परमूल इस प्रकार है–

तात् त्रंग, थुन थुन तो, धिकतू त्रंग, थुन थुन तो।
ता थुन थुन, धिक थुन थुन, धिक तक, थुंग थुंग तक॥

थुंग थुंग तक, थुंग थुंग तक गदगिन थेई।
तततता थेई, तततता थेई, तततता थेई॥

श्रीकृष्ण और राधाजी के नृत्यों के कई–कई परमूल हैं, जिन्हें रासमण्डलियों के स्वामीजी समय और सुविधा के अनुसार उच्चरित करते हैं। राधाजी नृत्य करने के अनन्तर अपने स्थान पर चली जाती हैं। उसके उपरान्त सखियाँ एक–एक करके पग–ताल देती हुई नृत्य करती हैं और उसी प्रकार ४–५ डग चलकर–घूमकर श्रीजी तथा ठाकुरजी की ओर मुँह करके नीचे वाले गीत पर हाथों के भाव के साथ कुदक–कुदककर नृत्य करने लगती हैं। उनके नृत्य का परमूल यह है–

तत्तुक दम, धिरकिट तक, तिरकिट, नगं नगं, तू तू त्रान तो।
तत्तुक दम, धिरकिट तक, तिरकिट, नगं नगं, तू तू त्रान तो॥
ता त्रिंग, ता ता त्रिंग, तत्थुंग थुंग तत्थुंग थुंग, थुंग तक, गदगिन थेई।
तततता थेई, तततता थेई, तततता थेई॥

श्रीराधा–कृष्ण के पृथक्–पृथक् वृत्तों की तरह सखियाँ भी विभिन्न पिंडीबंधों के सामूहिक रूप में अथवा एक–एक दो–दो आदि जोड़ों के क्रम से रास–नृत्त का प्रदर्शन करती हैं। सखियों के नृत्त का प्रदर्शन हो जाने पर समाजी द्वारा 'तततता थेई' के बोलते ही श्रीकृष्ण पुनः अपनी पंक्ति से निकल पड़ते हैं और पूर्ववत् तब तक मण्डलाकार नृत्त करते रहते हैं जब तक निम्नलिखित परमूल नहीं बोला जाता–

तद्दी तद्दी तद्दी तद्दी, धिकतक तद्दी त्रांग तो।
तद्दी तद्दी तद्दी तद्दी, धिकतक तद्दी त्रांग तो॥
त्रांन त्रांन त्रांन, तत्ता, ततक थेई॥

समाजी द्वारा उपर्युक्त परमूल के 'तद्दी' शब्द के बोलते ही श्रीकृष्ण विभिन्न नृत्त–चारियों में अपने स्थान से पीछे हटते हैं और उसी क्रम में 'त्रांग त्रांग त्रांग' के बोलों पर पद–प्रसारण करते हुए

तीन बार कुदककर खड़े हो जाते हैं और पुनः मण्डली नृत्त आरम्भ हो जाता है।

"अनेक प्रकार के हस्तबन्ध एवं पद–संचालन के भेदों से युक्त रास मंच के इन सामूहिक नृत्यों के उपरान्त श्रीकृष्ण अपने नृत्य–कौशल की अभिव्यक्ति करने के लिए अनेक प्रकार के प्रभावो–त्पादक चित्रात्मक नृत्यों का प्रदर्शन भी करते हैं।"[१]

इसके उपरान्त श्रीराधा–कृष्ण और सखीवृन्द को विश्राम देने के लिए 'नित्य रास' का प्रथम भाग पूरा होता है। उस समय स्वामीजी तथा रास के वाद्य–वादक बारी–बारी से ब्रजभाषा भक्ति–साहित्य के पद, दोहे, सवैया, कवित्त आदि बोलते हैं। थोड़े विश्राम के पश्चात् द्वितीय भाग का आरम्भ हो जाता है; जिसमें नृत्य के साथ संगीत एवं प्रवचनादि होते हैं।

द्वितीय भाग के आरम्भ में जैसे ही मण्डली के स्वामीजी 'त त त ता थेई' बोलते हैं, वैसे ही सभी स्वरूप सिंहासन से नीचे आ जाते हैं और तब रास का सामूहिक गायन तथा उसके साथ नृत्य आरम्भ होता है। रास का वाद्य–वृन्द स्वरूपों की संगति करता है और कभी–कभी समाजी लोग स्वरूपों के गीत के साथ–साथ स्वयं भी गाते हैं। उसी समय कभी–कभी डण्डों पर भी नृत्य एवं गायन होता है। कभी वेणी गूँथने का नृत्य होता है, कभी श्रीकृष्ण और श्रीराधाजी नाचते हैं, कभी सखियाँ भी मिलकर नाचती हैं। इनके न्यारे–न्यारे गीत हैं।

उस अवसर पर श्रीकृष्ण जो कई नृत्य करते हैं, उनमें 'मयूर नृत्य' अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है। उसे श्रीकृष्ण राधाजी की प्रसन्नता के लिए करते हैं। तदुपरान्त श्रीराधा–कृष्ण का युगल नृत्य होता है और सखियाँ भी गायन करती हैं। वे जिन पदों को गाती हैं; उनमें से कुछ की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

(श्री ठाकुरजी के नृत्य के समय)

नाँचै छबीलौ ब्रजराज छूम छन न न न न न न।
ता ता थेई, ता ता थेई, चरन चपल आली॥ नाँचै छबीलौ०॥

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २१०–२१२।

(श्री राधिकाजी के नृत्य के समय)

नाँचै छबीली राधिका, छूम छन न न न न न न।
ता ता थेई, ता ता थेई, चरन चपल आली॥ नाँचै छबीली०॥

आगे का यह भाग दोनों ही नृत्यों के आरम्भिक बोलों के साथ क्रमशः दुहराया गया है–

सजनी रजनी सरद, सरद ऋतु आज सुफल आली॥ नाँचै०॥

इसी प्रकार निम्न गीत सभी स्वरूप सामूहिक रूप से डण्डा बजाकर गाते व गोलाकार नृत्य करते हैं–

ए घनस्याम सुंदर स्याम हमारौ प्यारौ री।
प्रानन–प्यारो, छल–बल वारौ, नैनन की सेनन सों चितवा चुराय लियौ, जादू मोपै डारौ री।
मोर–मुकुट माथे पै सोहै। कुंडल हलन चलन मन मोहै॥
धा किट, धुम किट, तकिट तका। तक धुम किट, धुम किट तक धा॥
लेत अलापन प्यारौ री॥

अन्त में अब एक सामूहिक नृत्य का पद और देखें। ऐसे गीतों में सभी–ठाकुरजी, श्रीजी तथा सखीवृन्द पंक्ति में खड़े होकर गाते हैं। पंक्ति में ही पग–ताल देते हुए तथा हाथों से भाव दर्शाते हुए कुछ दूर ४–५ कदम आगे आते हैं और पग–ताल देते हुए ही पीछे हटकर फिर वहीं जाकर खड़े हो जाते हैं। गीत इस प्रकार है–

(हाँजी) रच्यौ रास–रंग, (हाँजी) रच्यौ रास–रंग,
स्याम सबहिन सुख दीनों।
मुरली धुनि कर प्रकास, खग–मृग सुन रस उदास,
युवतिन तज गेह–बास बनहि गबन कीनों॥
मोहे सुर, असुर, नाग, मुनि–जन मन गये जाग,
सिव सारद नारदादि, थकित भये ग्यानी।
अमरागन, अमर–नारि, आई, लोकन बिसारि,
ओक लोक त्याग कहत धन्य–धन्य बानी॥

थकित भयौ गति समीर, चंद्रमा भयौ अधीर,
तारागन लज्जित भये, मारग नहिं पावैं।
उलटि जमुना बहत धार, सुंदर तन सज सिंगार,
'सूरज' प्रभु संग नारि, कौतुक उपजावैं॥

होजी[1]

नृत्य और संगीत के इस क्रम के साथ 'श्री लाड़िली–लाल की जय!' की सामूहिक ध्वनि होती है और 'नित्य रास' सम्पन्न होता है। उसके उपरान्त कुछ विश्राम करने के अनन्तर 'रासलीलानुकरण' के दूसरे भाग 'लीला' का शुभारम्भ होता है। उसमें श्रीकृष्ण की किसी विशिष्ट लीला का अभिनयात्मक प्रदर्शन किया जाता है।

'नित्य रास' की कलात्मकता–

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'नित्य रास' में गान–वाद्य परक 'नृत्य' तत्त्व की प्रधानता है। इस प्रकार यह संगीत का कलात्मकता रूप है। कारण यह है कि शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार संगीत का अभिप्राय गान, वाद्य एवं नृत्य इन तीनों कलाओं के समुच्चय से है–***'गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते'*** (संगीत रत्नाकर)। किन्तु सामान्यतया संगीत से गान–वाद्य कलाओं का ही बोध होता है और नृत्य को एक पृथक् कला माना जाता है। चूँकि 'नित्य रास' में 'नृत्य' तत्त्व की प्रधानता है; अतएव हम पहले इसकी नृत्य–शैली पर और फिर गान–वाद्य पद्धति पर प्रकाश डालेंगे।

'नित्य रास' की नृत्य-शैली–यह नृत्य–शैली शास्त्रोक्त है; क्योंकि यह भरत मुनि कृत 'नाट्य शास्त्र' (अध्याय १०) के अनुसार है। डॉ० वसंत यामदग्नि ने इसे 'नृत्य' की अपेक्षा 'नृत्त' माना है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'नृत्त' और 'नृत्य' में भेद होता है। 'नृत्य' में ताल, लय और भाव सहित अंगों का संचालन किया जाता है, जबकि 'नृत्त' में ताल–लयाश्रित गात्रविक्षेप मात्र

१. रासलीला : एक परिचय, पृष्ठ ६७–७१।

होता है। उसमें भावाभिव्यक्ति नहीं की जाती। 'नित्य रास' में ताल–लय के साथ भावाभिव्यक्ति भी होती है; इसलिए यह 'नृत्य' है, 'नृत्त' नहीं। इसीलिए हम डॉ० यामदग्नि के कथन से सहमत नहीं हैं। डॉ० यामदग्नि ने अपने मत के समर्थन में जो विस्तृत उल्लेख किया है, उसे संक्षिप्त रूप में हम यहाँ पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत करते हैं–

'नित्य रास' के 'नृत्त' में 'स्थानक', 'चारी', 'करण', 'अंगहार' एवं 'रोचक' आदि क्रियाओं तथा 'पिंडी' आदि विविध नृत्ताकृतियों का विशद् रूप में अनुकरण किया जाता है। 'स्थानक' से अभिप्राय नृत्तकार के खड़े होने की स्वाभाविक भंगिमा से है (नाट्य शास्त्र, १०/४८–४९)। 'चारी' का तात्पर्य नृत्तकार के पद, जंघा, उरु एवं कटि द्वारा एक साथ की गई चेष्टाकृति की अभिव्यंजना से है। चारियों को 'भौमिचारी' तथा 'आकाशचारी' नामक दो वर्गों में विभक्त किया गया है और इनके कई–कई उपवर्ग भी होते हैं। भौमिचारियों के कई प्रयोगों के अतिरिक्त रास नृत्त में 'भ्रमरी' तथा 'सूची' आदि आकाशचारियों के प्रयोग भी दृष्टव्य हैं। इन भ्रामरियों को देखकर ही विद्वान रासनृत्त को विशुद्ध शास्त्रीय कोटि का 'नृत्त' मानते हैं।

'हस्त तथा पाद द्वारा एक साथ सामंजस्य से किये गये संचालन को नाट्यशास्त्र में 'करण' कहा गया है। (४–३०)। रासनृत्त की अभिनव दृश्यावली के प्रस्तुतीकरण में 'करणों' की अत्यधिक महत्ता है। 'अंगहारों' में विविध अंग–प्रत्यंगों की अभिनय–क्रियाएँ एक साथ तथा पर्यायशः सम्पन्न होती हैं। (४/२८–२९)। अंगों के विविध संचालन की क्रिया नाट्य शास्त्र में 'रेचक' संज्ञा प्राप्त है। इन नृत्त–मुद्राओं के आधार पर रास–नृत्त के प्राचीन रूप का यत्किंचित अनुमान लगाया जा सकता है।'[1]

आधुनिक काल में प्रशिक्षण एवं अभ्यास की न्यूनता ने रास

---

१. 'रासलीला तथा रासानुकरण विकास' पृष्ठ २०४।

नृत्य के पाद–संचालन की क्रियाओं के वैविध्य को समाप्तप्राय कर दिया है। परन्तु ब्रज–भाषा साहित्य की रचनाओं में इस नृत्यपरक अद्‌भुत गतियों के कथन प्रचुरता से मिलते हैं। यहाँ कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं–

१. **नागरी नागर निर्तत रास में, नई–नई गति कीने।**
हस्तक भेद विभेद परायन, पायन बरजति बीने॥
उघटत ता घिंता धिंतां, धेतक तत तत कीने।
'श्रीहरिप्रिया' निरखि तन–मन–धन, न्यौछावरि कर दीने॥

–श्री हरिव्यास देव कृत 'महावाणी' (उत्साह सुख; पद १२७)

२. **चरन चाल हस्त–भैद मिलावत आछी जाति,**
भाँति सों लेत नैनन ही में मान।

–परमानन्द दास (परमानन्द सागर, पद ७७९)

३. **उरप–तिरप लाग–डाट तत तत तत थेई तथेई थेई,**
उघटत सब्दावलि गति भेद कोउ न बाँचै।

–चतुर्भुजदास पद संग्रह, पद सं० ३६

४. **जो गति नहिं देखि सुनी, उपजै नव नव भाई।**
नर्त्त जु मूर्त्तवत ही, सोई रही लुभाई॥[1]

–ध्रुवदास (बयालीस लीला, सभा मण्डल लीला, १८३)

'नित्य रास' की यह नृत्य शैली जहाँ एक ओर 'हल्लीसक' एवं ताल–दण्ड–मण्डल समन्वित 'रासक' नामक प्राचीन नृत्त भेदों से अनुप्राणित है, वहीं दूसरी ओर उस परम्परा की पूर्ववती कड़ी से आबद्ध है, जिससे कालान्तर में 'कत्थक' नामक नृत्य का विकास हुआ था। इस समय रास–नृत्य की जो अनेक मुद्राएँ कत्थक नृत्य से मिलती हुई ज्ञात होती हैं, उसका यह अवान्तर कारण है।

रास नृत्य और कत्थक नृत्य की कुछ समानताओं कें कारण कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि नित्य रास की वर्तमान नृत्य–शैली

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २०५ की पाद–टिप्पणी।

पर आधारित है। यह भ्रमात्मक मान्यता है और साथ ही उलटी धारा बहाने के समान हास्यास्पद भी है। रास नृत्य का विकास ब्रज की प्राचीन नृत्य–परम्परा से हुआ है। कालान्तर में उसी से कत्थक नृत्य का उद्भव हुआ, जो उसके 'कथक नटवरी नृत्य' नाम से भी प्रमाणित होता है।

श्री रामनारायण अग्रवाल ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है। उन्होंने लिखा है–'आजकल के विद्वान ऊपरी दृष्टि से देखकर ही रास नृत्य को कत्थक का ही एक रूप समझ लेते हैं, जो उचित नहीं है। रास नृत्य ब्रज की प्राचीन नृत्य परम्परा से जुड़े हुए हैं, जो उसे कत्थक से अलग करती है। उदाहरण के लिए, रास में होने वाला 'घुटनों का नाच' भरत नाट्यम् की 'भ्रमरी' के अधिक निकट है।' उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ वयोवृद्ध रासधारियों से पूछताछ की थी। उक्त रासधारियों ने उन्हें बतलाया कि रास नृत्य कत्थक नृत्य से सर्वथा अलग है। रास के परमूलों और कत्थक के परमूलों में केवल शब्दों का ही नहीं, दोनों की नृत्य पद्धति का भी अन्तर है। रास के परमूलों में मात्राओं की समानता नहीं है; वह घट–बढ़ जाती है। इसलिए रास के परमूलों पर नृत्य करना कत्थक नृत्य के जानकार के वश से बाहर की बात है। रास की कुछ मुद्राओं को कत्थकों ने अपने ढंग से सजा–सँभारकर अपने नृत्य में जोड़ लिया है। इसालिए रास का नृत्य में कत्थक नृत्य जैसा प्रतीत होता है। वस्तुतः रास नृत्य कत्थक नृत्य से कहीं अधिक प्राचीन है।'[१]

कत्थक नृत्य की ख्यातिनामा नृत्यांगना उमा शर्मा जी ने रास नृत्य और कत्थक नृत्य में दो मुख्य अन्तर बतलाये हैं। पहला अन्तर यह है कि रास नृत्य के समय कभी–कभी 'संवाद' भी होते हैं, जो कत्थक नृत्य में नहीं होते। दूसरा अन्तर यह है कि रास के

---

१. ब्रज का रास रंगमंच, पृष्ठ २०१–२४२।

सब पात्र स्वयं गाते हैं, जबकि कत्थक के बहुत से कलाकार स्वयं नहीं होते।[1]

'नित्य रास' की गान-वाद्य पद्धति–इस पद्धति का प्रारम्भिक रूप क्या था, इसे निश्चयपूर्वक कहना बड़ा कठिन है। कारण यह है कि पहले स्वरांकन प्रणाली का प्रचलन नहीं था। अतएव 'नित्य रास' के गान–वाद्य का मूल स्वरूप स्थिर नहीं रह सका। इस समय इसकी जो पद्धति प्रचलित है, वह पूर्वापेक्षा पर्याप्त परिवर्तित और कुछ सीमा तक विकृत भी है। फिर भी इसके साहित्यिक उल्लेखों के आधार पर इसके मूल रूप का अनुमान किया जा सकता है। रास सम्बन्धी रचनाओं में उरप, तिरप, सुलप, लाग, डाट, ध्रुवा, छन्द, जाति, ग्राम और राग आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। इनके आधार पर 'नित्य रास' की गान–वाद्य पद्धति का कुछ परिचय देने की चेष्टा की जाती है।

यह निश्चित है कि 'नित्य रास' के गान–वाद्य की मूल पद्धति 'ध्रुपद'–'धमार' की है। कालान्तर में उसमें 'ठुमरी' और 'रसिया' की गायिकीओं का भी समावेश हो गया। संगीत की इन पद्धतियों में गाने के लिए ब्रज के भक्त–कवियों की रचनाओं का उपयोग सदा से होता रहा है। पहले उन्हें शुद्ध रूप में गाया जाता था; किन्तु अब वैसा नहीं होता। इसका कारण समुचित प्रशिक्षण का न होना है।

ब्रज के भक्त कवियों के रास सम्बन्धी बहुसंख्यक पदों का बृहत् संकलन विभिन्न भक्ति–सम्प्रदायों की कीर्तन–पोथियों में मिलता है। इन पदों के साथ उनके रागों का भी उल्लेख हुआ है। इससे यह समझा जा सकता है कि अमुक पद को अमुक राग में गाना चाहिये। किन्तु कीर्तन– पोथियों के अनेक रागों का ज्ञान इस समय के गायकों को नहीं रहा है। जिन रागों को वे गाते हैं, वे अब अपने वास्तविक रूप में गाये जाते हैं, यह भी संदेहास्पद है।

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (८/८/१९८२) में प्रकाशित उमा शर्मा जी के रास सम्बन्धी विचार, जिन्हें सुशील कपूर ने प्रस्तुत किया।

कीर्तन–पोथियों में जिन रागों का नामोल्लेख रास के पदों के साथ मिलता है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं–भैरव, रामकली, बिलावल, गौड़ी, षट, श्री, सारंग, नट, पूर्वी, मालव, सोरठ, गौरी, हमीर, नायिकी, कल्याण, एमन, कांहड़ा, अड़ाना, केदारा।

'नित्य रास' की वादन पद्धति का कुछ आभास ब्रज के भक्त–कवियों द्वारा रचित रास सम्बन्धी उन पदों से मिलता है, जिनमें तत्कालीन वाद्ययन्त्रों का नामोल्लेख मिलता है, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं–

बीन, मृदंग, पखावज, बांसुरी, झाँझ, मंजीरा, ताल, किन्नरी, बहुअरि, मुहचुंग, उपंग, अमृतकुण्डली, सुरमण्डल आदि। इनसे सम्बन्धित पदों की कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

१. बाजत 'बीन' 'बांसुरी' 'महुअरि', 'किन्नरि' औ 'मुहचंग'।
'अमृतकुंडली' और 'सुरमंडल', 'आबुज' सरस 'उपंग'॥
'ताल', 'मृदंग', 'झाँझ', 'डफ' बाजै, सुर की उठत तरंग॥

२. 'डफ' 'बांसुरी', 'रुंज' अरु 'महुअरि', बाजत 'ताल' 'मृदंग'।

३. 'बीन' 'गुरज', 'उपंग', 'मुरली', 'झाँझ', 'झालरि', 'ताल'।

४. 'कंसताल', 'करताल' बजावत, 'श्रृंग' मधुर 'मुहचंग'। (सूरदास)

५. बाजत 'ताल' 'मृदंग', 'अघौटी', 'बीना' 'मुरली', 'तानतरंग'
(कुम्भनदास)

६. बाजत ताल, मृदंग, झाँझ, डफ, मुरली, मुरज, उपंग
(परमानन्ददास)

७. बाजत डफ, मृदंग, मुरली धुनि, रासरंग रसभीने (कृष्णदास)

८. ताल, पखावज, बोन, बाँसुरी, बाजन परम रसाल। (गोविन्दस्वामी)

९. बाजत ताल, मृदंग, मुरज, डफ, कहि न परत कछु बात
(नन्ददास)

१०. परस्पर राग जम्यौ, समेत किन्नरो, मृदंग, सुरतार (स्वामी हरिदास)

११. ताल, मृदंग, उपंग, मुरज, डफ, मिलि रससिंधु बढ़ायौ (हित हरिवंश)

१२. मुरली, मुरज, रबाब, उपंग। उपघटत सबद बिहारी संग॥

(हरिराम व्यास)

तत्कालीन भक्त–कवियों की रचनाओं में वाद्य यन्त्रों के 'बोल' भी मिलते हैं। उनके कतिपय उदाहरण निम्नांकित हैं–

१. धिधिकट धिधिकट बाज़त 'मृदंग'। डिडिडमक डमक 'डफ' मिलहि संग॥

ठन ठनन ठनन करै 'ताल' रंग। गग गनन गनन बाजै उपंग॥

(कृष्णदास)

२. ग्रिगड़दा ग्रिगड़दा तत थेई, थेई तत,
वहौत गति भेद जुत परनि समुजावै।
द्रमिकि द्रद्र द्रनन द्रं द्रं द्रुमकि
मृदंग 'श्री हरिप्रिया' सहचरि बजावै॥

उपर्युक्त उद्धरणों से यह समझा जा सकता है कि उक्त भक्त कवियों के काल में 'रास सम्बन्धी' पदों के गायन की संगति अमुक–अमुक वाद्य यन्त्रों से की जाती थी। इस समय जिन वाद्य–यन्त्रों का उपयोग किया जाता है, उनमें पुराने वाद्य सारंगी, पखाबज, मुरली, झाँझ, मजीरा एवं ताल हैं। नवीन वाद्यों में अधिकतर हारमोनियम और कभी–कभी वायोलिन का उपयोग किया जाता है। रसिया आदि लोकगीतों की संगति तबला एवं ढोलक से भी की जाती है।

'नित्य रास' के गान–वाद्य की पद्धति रासधारियों के पुराने घरानों में सदा से प्रचलित रही है। रासधारीगण स्वयं इन कलाओं को सीखते हैं और स्वरूप बनने वाले बालकों को आरम्भ से ही इनकी शिक्षा देते हैं किन्तु अब समुचित प्रशिक्षण न होने से इन कलाओं का स्तर निरन्तर गिरता जा रहा है। इस शोचनीय स्थिति के समाधान के लिए रासधारियों और स्वरूप बनने वाले बालकों को गान–वाद्य का यथेष्ट प्रशिक्षण दिये जाने का प्रबन्ध होना आवश्यक है।

२. लीला

'लीला' का अभिनयात्मक प्रदर्शन–

'नाट्य' तत्त्व की प्रमुखता–'रासलीलानुकरण' के प्रथम भाग 'नित्य रास' में जहाँ गान–वाद्यपरक 'नृत्य' तत्त्व की प्रधानता होती है, वहाँ इसके द्वितीय भाग 'लीला' में कथानक एवं संवादात्मक 'नाट्य' (अभिनय) तत्त्व प्रमुख है। 'लीला' किंवा 'रासलीला' में भगवान् श्रीकृष्ण की उन रसात्मक लीलाओं का अनुकरणात्मक प्रदर्शन किया जाता है, जो उन्होंने द्वापर युग के अन्त में ब्रज–वृन्दावन में की थीं। इस प्रकार 'लीला' वस्तुतः कृष्ण–लीलाओं की नाट्यात्मक अनुकृति है।

भक्तियुग में ब्रज के धर्माचार्यों और उनके अनुगामी भक्तजनों ने अपने भजनानन्द की प्राप्ति के लिए जब रासानुकरण का प्रचलन किया, तब पहले 'नित्य रास' के अनुकरण का आरम्भ हुआ; फिर भगवान् कृष्ण की लीलाओं के अनुकरणात्मक प्रदर्शन की पद्धति प्रचलित हुई। उन लीलाओं के प्रधान स्रोत पुराणादि थे। उनमें भी श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध को प्रमुख आधार माना गया। उसके अतिरिक्त 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' से भी कुछ सहायता ली गई थी। उन लीलाओं की कलात्मक सर्जना तत्कालीन भक्त कला–कोविदों ने की थी और उनके लिए अभिनेय रचनाओं का सृजन उस काल के ब्रजभाषा भक्त–कवियों ने किया था।

प्रदर्शन में विविधता–लीलानुकरण के प्रचलन काल से लेकर अब से प्रायः एक शती पूर्व तक केवल श्रीकृष्ण की ब्रज–

वृन्दावन लीलाओं का ही प्रदर्शन किया जाता था। बाद में पुराण–प्रसिद्ध भक्त ध्रुव, प्रह्लाद, मयूरध्वज, द्रौपदी और हरिश्चन्द्र आदि के चरित्र भी रासमंच पर प्रदर्शित किये जाने लगे। उनके लिए ब्रजभाषा के भक्त–कवियों की रचनाएँ प्रचुरता से उपलब्ध रही हैं।

इधर कुछ समय से सम्प्रदाय–प्रवर्त्तक महानुभावों और रसिक भक्तों के पावन चरित्रों को भी रास–शैली में रासमंच पर प्रदर्शित किया जाने लगा है। इसका कारण यह है कि उक्त महानुभावों को उनके सम्प्रदायों में अवतारी दिव्य पुरुष माना गया है। जैसे गौरांग महाप्रभु चैतन्य देवजी को श्रीराधा–कृष्ण का सम्मिलित अवतार, स्वामी हरिदासजी को ललिता सखी का अवतार, श्री हित हरिवंशजी को श्रीकृष्ण की वंशी का अवतार, श्री नारायण भट्ट जी को महामुनि नारद जी का अवतार और महात्मा सूरदास जी को श्रीकृष्ण के अन्तरंग सखा एवं परम भक्त उद्धव जी का अवतार माना जाता है। इनमें से श्री चैतन्य देव जी और स्वामी हरिदास जी के चरित्रों को रासमंच पर विशेष रूप से प्रदर्शित किया गया है।

ब्रज के दिवंगत सन्त उड़िया बाबा और हरिबाबा की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध रासधारी स्वामी हरिगोविन्द जी ने श्री चैतन्य देव की पूरी जीवनी को 'गौरांग लीला' के नाम से अनेक भागों में रासमंच पर बड़ी सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है। इस जीवनी को रास शैली में चैतन्य सम्प्रदायी सन्त बाबा प्रेमानन्द जी ने लिखा है। दूसरे प्रसिद्ध रासधारी स्वामी रामस्वरूप जी रसिकाचार्य स्वामी हरिदास जी की जीवनी पर आधारित १०–११ लीलाएँ रासमंच पर सफलता पूर्वक प्रदर्शित करते हैं। इसके लिए स्वामी जी की जीवनी वृन्दावन के एक रास–अभिनेता श्याम जी (श्याम सखी) ने लिखी हैं।

भक्त महानुभावों से सम्बन्धित इन नवीन लीलाओं की समीक्षा करते हुए श्री रामनारायण अग्रवाल ने लिखा है–'इन लीलाओं की भक्ति–भावना धार्मिक रुचि के भावुकजनों को अवश्य प्रभावित

करती है, किन्तु इनका साहित्यिक ताना–बाना बहुत शिथिल है। रास–रससिद्ध कृष्ण भक्तों की मँजी हुई ब्रजभाषा पदावली की तुलना में इन लीलाओं की मिश्रित भाषा का काव्यरूप कहीं भी नहीं टिक पाता है। इसकी उर्दू मिश्रित भाषा–शैली इन लीलाओं की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को कमजोर करती है; किन्तु इससे साधारण कोटि के दर्शक अवश्य प्रभावित होते हैं। स्वामी हरिगोविन्द जी और स्वामी रामस्वरूपजी द्वारा इन लीलाओं को इतने प्रभावपूर्ण ढंग से मंचित किया जाता है कि उनमें काव्यात्मक शैथिल्य की ओर जनता ध्यान नहीं देती। वस्तुतः इन स्वामियों की कलात्मक सूझ–बूझ और प्रस्तुतीकरण की शैली के कारण ही ये लीलाएँ इतनी लोकप्रिय हुई हैं।[१]

श्री रामनारायण अग्रवाल ने स्वयं भी महात्मा सूरदास जी की जीवनी पर ३–४ लीलाएँ तैयार की थीं, जिन्हें उन्होंने ब्रज कला केन्द्र के ब्रज लीला मंच से विभिन्न स्थानों में प्रदर्शित कराया था। किन्तु इसे वे 'प्रयोगात्मक प्रयत्न' की संज्ञा देते हैं।[२] वास्तव में इन नवीन लीलाओं का मंचन नूतन प्रयोग ही है। इससे रासलीलानुकरण की परम्परागत पद्धति का हित होता है या अहित–इसे भविष्य ही बतलावेगा। किन्तु इन लीलाओं से रासलीलानुकरण में विविधता अवश्य आई है, जिसका अपना ही महत्त्व है।

'लीला' सम्बन्धी कलाएँ–

लीलाओं का मंचीय प्रदर्शन गान, वाद्य, नृत्य, नाट्य सहित विविध कलाओं से समन्वित होता है। इससे सम्बन्धित गान, वाद्य, नृत्य कलाओं का विवेचन पूर्वोक्त 'नित्य रास' के प्रसंग में किया जा चुका है। यहाँ पर पहले नाट्य कला और फिर लीला सम्बन्धी अन्य कलाओं के विषय में लिखा जाता है।

---

१. ब्रज का रास–रंगमंच, पृष्ठ १९३ पर।
२. ब्रज का रास–रंगमंच, पृष्ठ १९४।

लीलाओं की नाट्य कला—इस कला–रूप का सांगोपांग विवेचन करने से पूर्व इसकी मूल भावना को जान लेना आवश्यक है। भागवत–दशम स्कन्ध की 'रास–पंचाध्यायी' से ज्ञात होता है कि जब रास के मध्य में श्रीकृष्ण अकस्मात अन्तर्धान हो गये, तब उनके विरह में ब्रज–गोपियों ने श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुकरणात्मक अभिनय किया था। उससे उनके विरह–ताप का कुछ शमन हुआ। गोपियों का वह अभिनय ही लीला–नाट्य का मूल भाव है।

लीलानुकरण के प्रचलन–काल से लेकर अब तक उसकी नाट्य कला में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ है। १९वीं शती के आरम्भ में उसकी जैसी स्थिति थी, उसका विवरण ब्रिटिश रेजीडेंसी के एक अधिकारी टामस डुएट ब्रोटन के पत्र में दिया गया है, जिसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। इस समय उसकी जो स्थिति है, उसका संक्षिप्त किन्तु सांगोपांग विवेचन सुप्रसिद्ध नाट्य विशेषज्ञ डॉ० सुरेश अवस्थी ने किया है, जो इस प्रकार है—

'किसी भी अभिनयात्मक प्रदर्शन के लिए सर्वप्रथम रंगमंच की आवश्यकता होती है, किन्तु रासलीला का कोई औपचारिक मंच नहीं होता। खुले स्थल में कतिपय चौकियाँ, कुर्सियाँ या एक तख्त डालकर स्वरूपों के बैठने के लिए आसन बना दिया जाता है। उसके सामने का स्थान लीला का अभिनय–क्षेत्र बन जाता है। उसी में सम धरातल पर 'समाजी' और दर्शक बैठ जाते हैं। रंगमंच की इस औपचारिकता से ही लीलाओं के प्रदर्शन के नियम और उनकी युक्तियाँ एवं रूढ़ियाँ निकलती हैं। अभिनय क्षेत्र में किसी प्रकार की रंग–सज्जा अथवा दृश्य–उपकरणों द्वारा उसे घटना–स्थल की विशिष्टि नहीं दी जाती; अतः घर से कुंज अथवा कुंजों से यमुना तट या गोकुल से मथुरा किसी प्रकार के स्थान–परिवर्तन में कोई कठिनाई नहीं होती और लीला का सूत्र भी नहीं टूटता। पात्र सहज ही किसी पद का गायन करते हुए स्थान अथवा प्रसंग के परिवर्तन

की सूचना दे देते हैं। क्षणभर में घटना स्थल बदल जाता है और इससे दर्शकों की प्रतीति को भी कोई आघात नहीं पहुँचता।

लीला–नाटकों की रंगस्थली की इस औपचारिकता के कारण ही पात्र सहज भाव से नाटकीय स्थिति की आवश्यकतानुसार रंगस्थली में चले आते हैं और अपने संवादों का गायन करके कथा प्रसंग की एक कड़ी पूरी करके चले जाते हैं। नाटकों की कथाएँ परिचित होने के कारण ही पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों और घटना स्थल के सम्बन्ध में किसी प्रकार के परिचय और भूमिका की आवश्यकता नहीं पड़ती और इस रंगमंच के रूपगत स्वभाव के कारण ही ऐसा सम्भव होता है कि कथा–प्रसंगों की छोटी–छोटी कड़ियाँ एक–दूसरे के बाद ऐसी निर्बाध गति से जुड़ जाती हैं कि वस्तु संरचना में किसी प्रकार की कमजोरी नहीं आने पाती और न दर्शकों की ही प्रतीति खण्डित होती है। कभी–कभी तो नयी नाटकीय स्थित का समावेश सहसा ही कर दिया जाता है और क्षणभर में ही वह स्थिति नाटकीय–कथा के पूर्वापर से जुड़ जाती है।

रासलीला में जो एक साधारण पर्दे–किसी चादर या शाल का प्रयोग किया जाता है–उसकी भी कई तरह की नाटकीय उपयोगिताएँ हैं और कई प्रकार के अवसरों पर उसका प्रयोग होता है। कथकली नाटकों के समान ही रासलीलाओं का पर्दा कोई भी दो रासधारी या समाजी या रसिक दर्शक हाथों में पकड़कर आसन के सामने तानकर खड़े हो जाते हैं। कभी तो उसके पीछे अगले दृश्य के पात्र आकर खड़े हो जाते हैं, कभी झाँकी सजायी जाती है और कभी आगामी दृश्य सजाया जाता है। कभी–कभी पात्रों के प्रवेश प्रस्थान के लिए भी उसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार पर्दे का प्रयोग नाटक के कथा–व्यापार के परिवर्तन को व्यक्त करने की एक बड़ी सहज युक्ति है। झाँकी सजाने और उसका प्रदर्शन करने के समय तो इस पर्दे की बहुत बड़ी नाटकीय उपयोगिता है। झाँकियों के अवसर

पर ही प्रायः कृष्ण और राधा की रूप–वर्णना और उनके चरित्र सम्बन्धी अन्य सामान्य पदों का भी गायन होता है। अतः एक तो इन झाँकियों का भावात्मक और कलात्मक महत्त्व है, क्योंकि वे दर्शकों के रसानुभव को गहन करती हैं; दूसरे उनका व्यवहार–मूलक भी है, क्योंकि उनका लीलाओं के रूप–विधान में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है। कभी–कभी ये झाँकियाँ घटनास्थल का भी संकेत देती हैं, तो कभी कथा के विकास और उसके नये रचना–क्रम की सूचना देती हैं और कभी कोई प्रसंग चित्रवत् प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार झाँकियों के विधान द्वारा लीला–नाटकों को एक प्रकार से छोटे–छोटे नाट्य–खण्डों अथवा दृश्यों में विभाजित कर लिया जाता है और पूरी लीला का ऐसा विभाजन ही नाटकों को ऐसी प्रेक्षणीयता और दृश्यगत रुचिरता देता है।

प्रदर्शन की दृष्टि से लीलाओं की अन्तिम और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें दर्शकों का सक्रिय सहयोग रहता है। वे लीला के दर्शक मात्र ही नहीं रहते; बल्कि रंग–स्थली में बैठे हुए पात्रों की अनेक मुद्राओं और संवादों के प्रत्युत्तर दे देकर और बीच–बीच में राधा–कृष्ण की जय–जय करते हुए मानो स्वयं भी लीला के पात्र बन जाते हैं। लीलाओं के पात्र जिस सहजता और आत्मीयता के साथ दर्शकों के बीच से होकर रंगस्थली में आते–जाते हैं, उससे भी पात्रों में दर्शकों के तादात्म्य भाव को प्रश्रय मिलता है और उनकी अभिनयात्मक वृत्ति सहज ही प्रेरित होकर नाटक का रस प्रदान करती है।''[१]

अन्य कलाएँ—लीलानुकरण से सम्बन्धित अन्य कलाओं में 'साज–सज्जा' और 'रूप सज्जा' विषयक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन कलाओं का विशेष समाजियों में जो व्यक्ति होता है, उसे 'शृंगारी' कहते हैं। उसका कार्य 'स्वरूपों' और अन्य अभिनेता

१. रासलीला : एक परिचय (सम्पादक—सेठ गोविन्ददास); पृष्ठ ७३–७४।

पात्रों को वस्त्राभूषण आदि से सुसज्जित करना और उनके मुखों को उनकी भूमिका के अनुरूप चित्रित करना है।

साज-सज्जा—इसका कलात्मक रूप श्रीकृष्ण, राधाजी, सखियाँ तथा गोप–ग्वाला आदि के वस्त्राभूषणों की सजावट से स्पष्ट होती है। श्रीकृष्ण के स्वरूप को पायजामा पहिनाकर उस पर कटि–काछिनी धारण कराई जाती है। उसके ऊपर फेंटा बाँधा जाता है। उनकी पीठ पर लम्बी कृत्रिम चोटी लहराती रहती है और हाथ में वंशी सुशोभित रहती है। उनके सिर पर मुकुट, मोरचन्द्रिका, सिरपेच, कलंगी एवं तुर्रा; कानों में कुण्डल, नाक में बुलाक, हाथों में कड़े और गले में मोतीमाला एवं जड़ाऊ हार आदि आभूषण होते हैं।

श्रीकृष्ण के मुकुट की लटक रासमण्डली के 'स्वामी' की साम्प्रदायिक भावना के अनुसार होती है। जैसे वल्लभ सम्प्रदायी रासमण्डलियों के मुकुट की लटक दाहिनी ओर रखी जाती है; जबकि निम्बार्क, गौडीय, हरिदासी और राधावल्लभीय मण्डलियों के मुकुट की लटक प्रायः बायीं ओर होती है।

श्री राधिकाजी के स्वरूप को घेरदार लहँगा, सुन्दर साड़ी, पचरंगी चूँदरी और चुस्त अँगिया आदि वस्त्रों से सुसज्जित किया जाता है। उनके सिर पर चन्द्रिका, मस्तक पर भृकुटी, नाक में नकवेसर एवं नथुली और गले में कई मालाएँ आदि आभूषण होते हैं।

सखियों के स्वरूप को रंग–बिरंगे लहँगे, सुन्दर साड़ी, चूँदरी, अँगिया आदि वस्त्रों से सज्जित किया जाता है। उनके मस्तक पर बंदिनी और गले में माला होती है। सखाओं का वेश धारण करने वाले पात्रों के शरीर प्रायः खुले रहते हैं, उन्हें केवल धोतियाँ पहिनाई जाती हैं; कन्धों पर रंगीन दुपट्टे डाले जाते हैं और कमर से फेंटा बाँधे जाते हैं। उनके हाथों में लकुट होते हैं। नन्दराय जी का वेश कोई स्थूल शरीर वाला प्रौढ़ समाजी धारण करता है। उन्हें पाग, दुपट्टा, बगलबंदी, धोती धारण कराई जाती है। उनका पेट

कृत्रिम रूप से कुछ निकला हुआ रखा जाता है। यशोदा जी का वेश धारण करने वाला भी कोई सफाचट दाड़ी–मूँछों वाला प्रौढ़ समाजी होता है। उन्हें उपयुक्त वस्त्राभूषणों से सज्जित किया जाता है। विदूषक की भूमिका का निर्वाह करने वाले कृष्ण–सखा मधु मंगल (मनसुखा) की वेश–भूषा ऐसी हास्यास्पद होती है कि उसे देखते ही दर्शकगण हँसने लगते हैं। इस प्रकार सभी पात्रों को उनकी भूमिका के अनुरूप सुसज्जित किया जाता है।

'रूप-सज्जा'—इसकी कला का दर्शन स्वरूपों के मुख–चित्रण से होता है। श्रीकृष्ण और राधिका के स्वरूपों की मुखाकृतियाँ चंदन से चित्रित की जाती हैं। उनके कपोलों पर मयूर, शुक, अष्टदल कमल और बेल–बूटे बनाये जाते हैं। उनकी नासिका और ठुड्डी भी चित्रित होती हैं। सखियों और सखाओं के मुखों को भी कलात्मक ढंग से चित्रित किया जाता है। मनसुखा के मुख का चित्रण उसकी विनोदी भूमिका के अनुरूप होता है। सारांश यह है कि स्वरूपों का मुख–चित्रण दर्शकों के मन में विभिन्न प्रकार के भावों को जागृत कर देता है। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण–राधिका के मुखारविन्दों का भव्य चित्रण जहाँ दर्शकों के मनों में भक्ति–भावना को उद्दीप्त करता है; वहाँ मनसुखा के मुख की चित्रकारी उनके मनों में हास्य का उद्रेक करती है।

इस प्रकार लीलानुकरण के प्रदर्शन में अभिनय करने वाले स्वरूपों की 'साज–सज्जा' और 'रूप–सज्जा' का अत्यन्त कलात्मक महत्त्व है।

'रासलीलानुकरण' की कुछ विशेषताएँ—

'रासलीलानुकरण' के नृत्य–नाट्यपरक प्रदर्शन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो उसे शास्त्रीय एवं लोक–धर्मी विविध नाट्य–रूपों से पृथक् करती हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. रास रंग मंच साज–सज्जा रहित और आडम्बरविहीन

होता है। उसे नाटकीय मंचों की भाँति सजाने–सँवारने और पदों से आच्छादित करने की आवश्यकता नहीं होती है। घटना परिवर्तन के लिए एक सामान्य वस्त्र को दो व्यक्ति थाम लेते हैं और तत्काल दूसरे प्रसंग का प्रदर्शन आरम्भ हो जाता है।

२. रास के सभी पात्र अधिकांश समय में मंच पर ही उपस्थित रहते हैं। घटना–परिवर्तन के समय अनावश्यक पात्रों को वस्त्र की ओट में कर दिया जाता है।

३. समस्त लीला–प्रदर्शन में नृत्य एवं गान–वाद्य की अधिकता रहती है और पात्रों के कथन प्रायः कविताबद्ध होते हैं। उनके कथनोपकथन भी प्रायः काव्यात्मक होते हैं, जिनके साथ नृत्य–गान भी चलता रहता है। इनमें गद्य का प्रयोग बहुत कम होता है; क्योंकि गद्यात्मक कथन को संगीतबद्ध नहीं किया जा सकता।

४. रासलीला के सभी पात्र शुद्ध ब्रज भाषा में कथोपकथन करते हैं।

५. रासलीला के 'स्वामी' की उपस्थिति आरम्भ से अन्त तक अनिवार्यतः रहती है। वे प्रत्येक प्रसंग का आरम्भ अपने सारंगी–वादन एवं गायन से करते हैं और बीच–बीच में पात्रों के कथोपकथन में योग देते रहते हैं। वस्तुतः रासलीला के प्राण उसके 'स्वामी' हैं और उन्हीं के नेतृत्व पर उसकी सफलता निर्भर है।

रास सम्बन्धी रचनाकार और उनकी रचनाएँ–

दो प्रकार की रचनाएँ–रास की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के लिए ब्रज के काव्य–संगीत कलाकोविद सन्त–महात्माओं, रसिक भक्तों और कवि–गायकों ने दो प्रकार की रचनाएँ ब्रज भाषा में प्रस्तुत की हैं। इनमें से एक हैं, 'रासानुकरण' की भावात्मक अनुभूति के लिए, जो अधिकतर गान–वाद्यपरक 'मुक्तक शैली' की गेय रचनाएँ हैं; किन्तु इनका पठन–पाठन एवं वाचन भी किया जा सकता है। दूसरे प्रकार की रचनाएँ 'लीलानुकरण' की अभिव्यक्ति के लिए

है; जो गान–वाद्य सहित नृत्य–नाट्यपरक 'प्रबन्ध शैली' की अभिनेय कृतियाँ हैं, जिनके द्वारा रास मंच पर 'लीला' का प्रदर्शन किया जाता है। इन दोनों प्रकार की रचनाओं के मूल स्रोत भागवत–दशम स्कन्ध तथा अन्य पुराणादि हैं। किन्तु द्वितीय प्रकार के आधार–ग्रन्थ और भी अनेक हैं।

प्रथम प्रकार की मुक्तक परिमाण में अत्यधिक हैं। इनका विस्तृत उल्लेख इस ग्रन्थ के 'साहित्य' नामक तृतीय खण्ड में किया गया है। यहाँ पर द्वितीय प्रकार की प्रबन्ध शैली की अभिनेय कृतियों का उल्लेख किया जाता है।

अभिनेय कृतियाँ—लीलानुकरण के मंचीय प्रदर्शन के लिए प्रबन्ध शैली की जिन कृतियों का प्रणयन किया गया है, उन्हें सामान्यतया 'लीला' कहा जाता है। किन्तु नाट्य कला विशेषज्ञ डॉ० दशरथ ओझा ने इन्हें 'लीला नाटक' कहा है।[१] इन तथाकथित लीला नाटकों में ऐसी भी अनेक रचनाएँ हैं, जिनमें नाट्य तत्त्व इतना अधिक उजागर नहीं है कि इन्हें यथार्थ रूप में 'लीला–नाटक' कहा जा सके। इस दुविधा से बचने के लिए ब्रज साहित्य में इन सभी अभिनेय कृतियों को एक सामान्य नाम 'लीला' से उल्लिखित किया गया है। रासलीलानुकरण का अधिक प्रचार होने पर ऐसी कृतियाँ भी प्रस्तुत की गईं, जिनमें नाट्य तत्त्व अत्यधिक परिमाण में हैं। ऐसी रचनाओं को 'लीला नाटक' कहना उचित है।

'लीला' अथवा 'लीला नाटक' संज्ञक कृतियाँ अधिकतर श्रीकृष्ण के शैशव एवं बाल्यजीवन की मनोरम लीलाओं से सम्बन्धित हैं। वे लीलाएँ गोकुल एवं वृन्दावन में सम्पन्न हुई थीं। उनमें से वृन्दावन की लीलाएँ 'रासलीलानुकरण' की प्राणस्वरूपा हैं, जिनमें श्रीकृष्ण के साथ उनकी आह्लादिनी शक्ति राधाजी की प्रमुख भूमिका है। इन लीलाओं को रासधारीगण विविध भाँति से रास मंच पर

१. 'हिन्दी नाटक' (डॉ० दशरथ ओझा)।

प्रदर्शित करते हैं। इन्हें देखकर भक्तजनों के साथ–ही–साथ सामान्य दर्शक भी भाव–विभोर हो जाते हैं।

पुराणों से ज्ञात होता है कि जब श्रीकृष्ण कुछ बड़े हुए, तब वे वृन्दावन से मथुरा चले गये थे। वहाँ उन्होंने राजा कंस का वध किया और उसके कारागार से अपने माता–पिता देवकी–वसुदेवजी को बन्धनमुक्त कराया था। फिर वे मगध–सम्राट जरासंध के निरन्तर आक्रमणों का प्रतिरोध करते हुए मथुरा की राजनीति में इतने अधिक व्यस्त हो गये कि चाहते हुए भी उन्हें वृन्दावन–नंदगाँव जाने का अवकाश ही नहीं मिला। तब उन्होंने अपने सखा उद्धव को आदेश दिया कि वे वृन्दावन–नंदगाँव जाकर राधाजी सहित समस्त गोपियों के और नन्द–यशोदा सहित सभी गोप नर–नारियों के कृष्ण–विरह की पीड़ा को अपने ज्ञानोपदेश से शान्त करें। यद्यपि श्रीकृष्ण ने मथुरा में अनेक लीलाएँ की थीं; तथापि रास मंच पर उन सबको प्रस्तुत करने की अपेक्षा केवल 'कंस–वध' और 'उद्धव–गोपी–संवाद' की लीलाएँ ही प्रदर्शित की जाती हैं।

कालान्तर में श्रीकृष्ण अपने समस्त परिकर के साथ मथुरा से निष्क्रमण कर सुदूर द्वारका चले गये थे। वहाँ वे अपने अन्तर्धान–काल तक रहे थे। उस सुदीर्घ कालावधि में श्रीकृष्ण ने बहुसंख्यक लीलाएँ की थीं। किन्तु रास मंच पर उन सबको प्रस्तुत न कर उनमें से केवल 'सुदामा लीला', 'द्रौपदी लीला' और कुरुक्षेत्र की 'राधा–कृष्ण पुनर्मिलन लीला' ही प्रदर्शित करने की परम्परा रही है।

मथुरा और द्वारका की अगणित लीलाओं में से कुछ थोड़ी–सी लीलाएँ ही रास मंच पर क्यों प्रदर्शित की जाती हैं, इसका कारण ब्रज के रसिक भक्तों की भक्ति–भावना से जाना जा सकता है। मथुरा और द्वारका की अधिकांश लीलाएँ श्रीकृष्ण के राजसी रूप से सम्बन्धित हैं, जिनमें उनके ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति हुई है। इनके प्रति ब्रज–भक्तों का सदा ही उपेक्षा–भाव रहा है। वे श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य के

प्रति निष्ठावान् नहीं हैं और उनके भक्त–भयहारी रूप के उपासक हैं। उनकी मान्यता है कि श्रीकृष्ण समस्त चराचर जगत् के स्वामी होते हुए भी भक्तों के प्रेमाधीन हैं। वे रास मंच पर ऐसी लीलाएँ ही देखना चाहते हैं, जिनमें श्रीकृष्ण की भक्त–वत्सलता को प्रदर्शित किया गया हो।

'लीला' रचनाकार और उनकी अभिनेय कृतियाँ–

यहाँ पर उन लीला–रचनाकारों का काल–क्रमानुसार संक्षिप्त परिचय उनकी उन अभिनेय कृतियों के उल्लेख सहित दिया जाता है, जिनके अभिनयात्मक प्रदर्शन की परम्परा सदा से रंगमंच पर रही है।

१. कुम्भनदास (सं० १५२५-सं० १६४०)–वे पुष्टि सम्प्रदाय के वयोवृद्ध भक्त–कवि और श्री वल्लभाचार्यजी के आरम्भिक शिष्यों में से थे। श्री आचार्यजी ने उन्हें श्रीनाथ जी का प्रथम कीर्तनकार नियुक्त किया था। उनकी भक्ति माधुर्य भाव की थी; जिसके अनुरूप उन्होंने श्रीप्रिया–प्रियतम की केलि–क्रीड़ाओं के बहुसंख्यक मुक्तक पदों की रचना की है। इन पदों को रासधारीगण श्रीराधा–कृष्ण की संयोगात्मक लीलाओं में गाते हैं। इन मुक्तक पदों के अतिरिक्त उनकी एक प्रबन्ध शैली की कृति 'दान लीला' भी है, जो दोहा और रोला छन्दों में एक तुक जोड़कर कथित है। इस कृति की विषय–वस्तु और इसके कथन की शैली से प्रेरणा प्राप्त कर अन्य भक्त–कवियों ने भी कई दान–लीलाओं की रचना की है। कुम्भनदास की इस कृति में कृष्ण–गोपियों के कथोपकथन अत्यन्त नाटकीय हैं। इसका कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है।

दानलीला–

गोकुल की ब्रज–नारि दह्यो नित बेचन आवें।
भूषन विविध सिंगार, बनी अति परम सुहावें॥
एक तें एक विराजहीं, सोभा बरनि न जाइ।
बन्यो कुंज फूल्यौ सखी! हो, रँग–रस धर्यो है बनाइ॥
कहति ब्रज–नागरी॥

प्रातः उठे नँदलाल सखा सब सैन बुलाए।
सुनी (है) दान की बात, सकल आतुर उठि धाए॥
पैड़ो रोक्यो जाइ के, कालिंदी के तीर।
नवल कुँज सुख–दाइका, हो तहाँ बैठे बलवीर॥
कहति ब्रज–नागरी॥

सुनिके धाए ग्वाल, रोकिकै ठाड़ी कीन्हीं।
कहाँ जाहुगी भाजि, दुहाई नँद की दीन्हीं॥
दान कृपा करि दीजिये, छांड़ो अधिक सयान।
लाग हमारौ लेहु अब, आली राखों तेरौ मान॥
कहति नँद लाड़िलौ॥

कब तुम कीन्हो दान, कबै तुम भए जु दानी।
सुनी न कबहू बात, जाइ बूझ्यो नँदरानी॥
उदर बसे तुम देवकी, आए गोकुल भाजि।
जीए जूठौ खाइकै हो, अब क्यों नहिं आवै लाजि॥
कहति ब्रज–नागरी॥

जोवन कौ अति गर्व, ग्वालि! तू बोल सँभारी।
दही–दूध के मद सु देति है, हमकों गारी॥
नंद–दुहाई करत हौं, लेउँ सबनि कों लूटि।
भूषन–बसन छिड़ाइकै, (हो) हार सबनि के टूटि॥
कहत नंद–लाड़िलौ॥

अन्त में लीला की फल–श्रुति इस प्रकार है–

राधा–कृष्ण विवाद, परस्पर गाइ सुनावै।
मन–बांछित फल होइ, हिए के ताप नसावै॥
स्यामा–स्याम विराजहीं, अवलोकें सुख–रास।
यह वानिक मो हिय बसौ, (हो) वलि–वलि 'कुंभनदास'॥
कहन नंद–लाड़िलौ॥

२. सूरदास (सं १५३५-सं० १६४०)—वे पुष्टिमार्गीय

भक्त–कवि और गोवर्धन स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर में प्रधान कीर्तनकार थे। उन्होंने कीर्तन के निमित्त राधा–कृष्ण के जिन बहु संख्यक पदों की रचना की थी, उनमें 'रासलीला' के पद भी पर्याप्त संख्या में हैं। उनका उपयोग आरम्भ से ही गान–वाद्यपरक 'रासानुकरण' की भावात्मक अनुभूति के लिए किया जाता रहा है। कुछ पद ऐसे भी हैं जो नृत्य नाट्यपरक 'लीलानुकरण' के लिए उपयुक्त हैं। उन्हें रासधारियों ने श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं के अभिनयात्मक प्रदर्शन के लिए छाँट लिया है। इसका कारण यह है कि 'रासलीलानुकरण' में श्रीकृष्ण की जिन लीलाओं का अभिनयात्मक प्रदर्शन किया जाता है, उनके लिए सर्वाधिक उपयुक्त पद सूरदास जी के ही हैं। रासधारीगण सदा से इन पदों का उपयोग अनिवार्य रूप से करते रहे हैं। इनमें लीला–तत्त्व पर्याप्त परिमाण में है और नाट्य–तत्त्व भी किसी में कम, किसी में अधिक है। उदाहरणार्थ माखन चोरी लीला, पनघट लीला, दान लीला, गोवर्धन लीला, महारास लीला, उद्धव लीला आदि का प्रदर्शन जब रासधारीगण करते हैं, तब वे सूरदासजी के तत्सम्बन्धी पदों का प्रचुरता से उपयोग करते हैं।

सूरदासजी द्वारा रचे हुए समस्त पद मुक्तक शैली के हैं। उन्होंने प्रबन्ध शैली की किसी नाट्यात्मक कृति का प्रणयन नहीं किया। किन्तु उनके कुछ पदों में ही इतनी नाटकीयता है कि दो–एक मुक्तक पद ही पूरी नाट्यात्मक 'लीला' की प्रभावपूर्ण भाव–भूमि निर्मित कर देते हैं। उदाहरणार्थ, श्रीराधा–कृष्ण के प्रथम मिलन से सम्बन्धित दो पद प्रस्तुत हैं।

रासमण्डली के 'स्वामी' अपने सहकारियों के साथ सारंगी, पखावज और मंजीरों की ध्वनि सहित निम्नांकित पद का गायन करते हैं–

खेलन हरि निकसे ब्रज–खोरी।
कटि कछनी पीतांबर बाँधे, हाथ लिएँ भौंरा–चक डोरी॥

मोर मुकुट, कुंडल स्रवननि पर, दसन–दमक दामिनी छवि छोरी।
गये स्याम रवि–तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी॥

उसी समय बालकृष्ण रासमंच पर एक ओर से भौंरा–चकई हाथ में लिए हुए खेलने की मुद्रा में आते दिखलाई देते हैं। दूसरी ओर से अचानक बालिका राधा अपनी बाल सहचरियों के साथ आती हुई दिखलाई देती हैं। कृष्ण राधा को देखते ही उस पर मोहित हो जाते हैं। तभी समाजीगण पूर्वोक्त पद के शेषांश का गायन करते हैं–

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विसाल भाल दिए रोरी।
नील वसन, फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी॥
संग लरिलिनी चलि इति आवति, दिन थोरी, अति छवि तन गोरी।
'सूर' स्याम देखत ही रीझे, नैन–नैन मिलि परी ठगोरी॥१२९०॥

दोनों की आँखें मिलती हैं। गान–वाद्य और कथोपकथन के साथ लीला आगे चलती है–

समाजी– **बूझत स्याम कौन तू गोरी?**
कृष्ण– **कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी॥**
राधा–**काहे कों हम ब्रज–तन आवति, खेलति रहसि आपनी पौरी।**
सुनत रहति स्रवननि नँद–ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी॥
कृष्ण–**तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।**
समाजी–**'सूरदास' प्रभु रसिक–सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥१२९१॥**

जैसा पहले लिखा जा चुका है, लीलानुकरण में श्रीकृष्ण की जिन लीलाओं का अभिनयात्मक प्रदर्शन किया जाता है, उनमें से अधिकांश उनके बाल–जीवन से सम्बन्धित हैं और उनके लिए सूरदासजी के पद ही सर्वाधिक संख्या में उपलब्ध होते हैं। कुछ लीलाएँ तो ऐसी हैं, जिनके लिए केवल सूरदास के पद ही मिलते हैं। अन्य कवियों का प्रवेश तत्सम्बन्धी क्षेत्र में नहीं हो सका है। इस प्रकार की लीलाएँ निम्नांकित हैं–

'हाऊ लीला, मणिखम्भ की माखन–चोरी लीला, माटी खावन लीला, ऊखल बन्धन लीला आदि। इनके अतिरिक्त स्याम–सगाई, अनुराग लीला, पाण्डे लीला आदि भी मुख्यतः सूर के पदों के आधार पर ही चलती हैं। गोवर्धन लीला, ब्याहुलौ, दान लीला, मान लीला, महारास लीला और भ्रमर गीत लीला आदि में सूर के पदों के साथ अन्य कवियों के कुछ पदों का भी उपयोग किया जाता है।'[१]

ये समस्त लीलाएँ 'ब्रज–भाव' की हैं, जिनके कथन में सूरदासजी को विशेषज्ञता प्राप्त है। किन्तु डॉ० वसंत यामदग्नि के मतानुसार रासमंच पर अभिनीत 'निकुंज भाव' की छद्म लीलाओं के प्रेरणा–स्रोत भी महाकवि सूर रहे हैं।'[२] अपने मत के समर्थन में उन्होंने सूरदास के एक पद का उल्लेख किया है। उसमें कहा गया है, एक बार राधाजी कृष्ण का रूप धारण करती हैं और श्रीकृष्ण को राधा के रूप में सज्जित कर 'हा प्रिया!' कहती हुई प्रेम–वैचित्री के रसास्वादन का आनन्द प्राप्त करती हैं। उस पद की प्रमुख पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

मुकुट–कुंडल पीत पट छवि, देखि रूप अगाथ॥
'प्रिया हा–हा' करति पुनि–पुनि, देहु प्रीतम मोहिं।
अंग–अंग सँभारि भूषन, रहति यह छबि जोहि॥
स्रवन कुंडल धारि सोभा, सीस रचि सीखंड।
'सूर' स्याम सुहागिनी रुचि, कनक कर लै दंड॥२७५७॥

इस भाव से मिलते हुए कुछ अन्य पद भी 'सूरसागर' में मिलते हैं। उनमें से दो पदों की कतिपय पंक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं–

श्री गोपाल लाल जी, वंसी नैंक तिहारी पाऊँ।
तुम संगीत गावत जेई–जेई, तेइ तेइ तान सुनाऊँ॥
बेनी सीसफूल पहिरौ तुम, मैं सिर मुकुट बनाऊँ।

---

१. ब्रज का रास रंगमंच (रामनारायण अग्रवाल), पृष्ठ १९९।
२. रासलीला तथा रासानुकरण विकास (वसंत यामदग्नि), पृष्ठ २५४।

तुम वृषभानु–सुता ह्वै बैठो, मैं नँदलाल कहाऊँ॥
तुम मानि ह्वै मान करौ, पुनि मैं गहि चरन मनाऊँ॥२७५८॥
लाल! तिहारी मुरली नैंक बजाऊँ।
जैसी तान तिहारे मुख की, तैसियै मधुर उपाऊँ॥
तुम्हरे आभूषन हौं पहिरौं, अपने तुम्हें पैहनाऊँ।
तुम बैठो दृढ़ मान साजिकै, मैं गहि चरन मनाऊँ॥
यह अभिलाष बहौत मेरे जिय, नैंनन इहि लखि पाऊँ।
'सूर' स्याम गिरिधरन छबीले, भुज भरि कंठ लगाऊँ॥२७५९॥

डॉ० यामदग्नि के अनुसार ये पद निकुंज–भाव की 'छद्म लीला' से सम्बन्धित हैं, किन्तु हमारे मतानुसार ऐसा नहीं है। कारण यह है कि 'छद्म लीला' में उसके नामानुसार 'छिपाव' अर्थात् 'गोपन' का भाव होता है, जो इन पदों में नहीं है। इनमें सब कुछ स्पष्ट एवं उजागर है। हम इन पदों को 'छद्म लीला' के बजाय 'ललित हाव' के मानते हैं। सम्भोग शृंगार के अन्तर्गत 'ललित हाव' की भावना के अनुसार श्रीराधाजी स्वयं कृष्ण का रूप धारण कर और श्रीकृष्ण को राधा के रूप में सजाकर विचित्र शारीरिक चेष्टाओं द्वारा रसास्वादन करने की कामना करती हैं। राधा–कृष्ण लीला के इस भाव ने भक्त–कवियों के साथ ही चित्रकारों को भी आकर्षित किया है।

सूरदास के अनेक पदों के भावानुसार चित्र अंकित किये गये हैं। उनमें पूर्वोक्त 'लाल! तिहारी मुरली नैंक बजाऊँ' की टेक वाले पद के भाव पर बनाया गया एक प्राचीन चित्र भी है। इसे राजस्थानी कलाविद् डॉ० जयसिंह 'नीरज' ने अपने एक लेख के साथ प्रकाशित किया है।[1] डॉ० नीरज के अनुसार यह चित्र मेवाड़ शैली का है और इसका चित्रण–काल १७०० ई० है। इसमें चित्र के भाव को ७–८ भागों में अंकित किया गया है। डॉ० नीरज ने लिखा है–'ललित

---

१. 'उत्तर प्रदेश', वर्ष ८ अंक १२ (मई सन् १९८०) में प्रकाशित डॉ० जयसिंह नीरज का लेख'–'सूरसागर का चित्रण और सूर के चित्र की प्रामाणिकता, पृष्ठ ४।

हाव' का यह चित्रांकन अत्यधिक कलात्मक है। इसकी यह विशेषता है कि इसमें नीचे की ओर सूरदास का एक छोटा चित्र भी अंकित है, जिसको सूर के प्रामाणिक चित्र का स्थान प्राप्त होना चाहिये।[१]

३. स्वामी हरिदास (सं० १५३७–सं० १६३२)[२]—वे श्रीश्याम कुंजबिहारी के युगल स्वरूप की उपासना में लीन रहने वाले रससिद्ध महात्मा थे। उनकी भक्ति–माधुर्य भाव की थी। वे अपने आराध्य के 'नित्य विहार' और उनकी दिव्य केलि–क्रीड़ाओं का रसास्वादन मानसी भावना में किया करते थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'केलमाल' है, जिसके ध्रुपदों में श्रीश्यामा–कुंजबिहारी की दिव्य केलि का भावात्मक कथन हुआ है। किन्तु कुछ ध्रुपद ऐसे हैं, जो डॉ० वसंत यामदग्नि के मतानुसार 'रासमंच की दानलीला, परस्पर मानलीला, गोरेलाल लीला एवं वसंत होरी आदि की लीलाओं में रासमंचीय संवाद योजना को अत्यन्त सफलता से निभाते देखे जाते हैं।'[३]

डॉ० यामदग्नि ने अपने मत के समर्थन में 'केलिमाल' के जिन ध्रुपदों का हवाला दिया है, उनकी आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

१. जो कछु कहत लाड़िलौ, लाड़िलौ जू सुनियै कान दै॥४५॥

२. हमारौ दान मार्‌यौ इति॥६२॥

३. चलि री छबीली, छबीलौ बोलत॥६९॥

४. प्यारी जू ! हम तुम दोऊ, एक कुंज के सखा, रूठै क्यों बनै॥७९॥

५. कुंजविहारी कौ वसंत (सखि), चलहु न देखन जाँहि॥९९॥

६. चलि री, भीर तें न्यारेई खेलैं ॥१००॥[४]

ये ध्रुपद लीलानुकरण के प्रदर्शन में कहाँ तक उपयोगी हैं,

---

१. वही, पृष्ठ ६।

२. 'निज मत सिद्धान्त' ग्रन्थ के अनुसार।

३. 'रासलीला तथा रासानुकरण विकास', २५१।

४. लेखक द्वारा सम्पादित 'केलमाल' से।

इसमें मतभेद हो सकता है। किन्तु इनके कथन की सहज–स्वाभाविक शैली अवश्य मनोहारी है। डॉ० यामदग्नि जी कहते हैं–रासमंच की 'बेनी गूँथन लीला' का प्रमुख आधार स्वामी जी का तत्सम्बन्धी ध्रुपद है। इसमें पूरी लीला वर्णित है। इसी के आधार पर वह निकुंज लीला आज भी प्रतिवर्ष राधाष्टमी के दिन विशेष रूप से श्री बांके बिहारी जी के मन्दिर, वृन्दावन में समारोहपूर्वक सम्पन्न होती है।'[1]

स्वामी जी कृत ' बेनी गूंथन' विषयक ध्रुपद इस प्रकार है–

[राग सारंग]

बैनी गूंथि कहा कोउ जानैं मेरी सी, तेरी सौं।
बिच–बिच फूल सेत, पीत–राते, को करि सकै मेरी सौं॥
बैठे रसिक सँवारन बारन, कोमल कर ककही सौं।
श्री हरिदास के स्वामी–स्यामा, नख–सिख लौं बनाई, दै काजर नख ही सौ॥७०॥

४. नरोत्तमदास (प्रायः सं० १५४०-सं० १६०२) –वे कस्बा बाड़ी (जि० सीतापुर) निवासी ब्राह्मण थे। उनके द्वारा रचित काव्य ग्रन्थ 'सुदामा चरित्र' अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह ३४ पृष्ठों का लघु काव्य है, जो प्रकाशित हो चुका है। इसका रचना–काल सं० १५८२ है।[2] सरस ब्रज भाषा में रचा हुआ यह ऐसा ललित काव्य है, जो सभी पाठकों को मुग्ध कर देता है। इसमें सुदामाजी की घोर दरिद्रता, किन्तु उनकी संतोषी वृत्ति, दरिद्रता से जूझती हुई उनकी साध्वी पत्नी द्वारा उन्हें उनके बाल–सखा द्वारकाधीश श्रीकृष्ण जी के पास जाने का आग्रह और श्रीकृष्ण की भक्त–वत्सलता का अत्यन्त मनोरम कथन किया गया है।

इस काव्य की रचना रासमंच के लिए नहीं की गई थी; किन्तु सुदामाजी और उनकी पत्नी का कथोपकथन इतना स्वाभाविक

---

१. 'रासलीला तथा रासानुकरण विकास', पृष्ठ २५१।
२. मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३२९।

एवं नाटकीय है कि उसके छन्दों का गायन रासमंच की 'सुदामा लीला' में अनिवार्य रूप से किया जाता है। उस कथोपकथन से सम्बन्धित कुछ छन्द यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं–

पत्नी वचन–

कोदौं–सवाँ जुरतौ भरि पेट, तौ चाहती ना दधि–दूध–मठौती।
सीत वितीत भयौ सिसियातहिं, हौं हठती पै तुम्हें न हठौती॥
जानती ना जो हितू हरि से, तुम्हें काहे कों द्वारकाहि पेलि पठौती।
या घर तें कबहूँ न टरे पिय, टूटौ तबा अरु फूटी कठौती॥

सुदामा वचन–

तैं तौ कहें नीकी, सुनु मोसौं बात ही की यह,
रीति मित्रता की नित प्रति सरसाइये।
चित के मिले तें वित चाहिये परसपर,
जेंइये जो मीत कैं, तो आपनें जिमाइये॥
वे हैं महाराज, जोरि बैठत समाज भूप,
तहाँ यहि रूप, जाय कहा सकुचाइये।
दु:खै सुखै अब तौ बनत दिन भरे भूलि,
विपति परे पै, द्वार मीत के न जाइये॥

कृष्ण वचन–

कैसे विहाल बेंबाँइन सों, भये, कंटक जाल गड़े मग जोये।
हाय महा दुख पाये सखा, तुम आये इतै न, किते दिन खोये॥
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिकै करुनानिधि रोये।
पानी परात कौ हाथ छुयौ नहिं, नैनन के जल सों पग धोये॥

जब श्रीकृष्ण ने सुदामाजी के चाँवलों की फंकी लगाई, तब की अभूतपूर्व हलचल का उल्लेख इस प्रकार हुआ है–

काँपि उठी कमला जिय सोचत, मोतें कहा हरि कौ मन रोंकौ।
सिद्धि छपैं, नव निद्धि चपैं, बसु ऋद्धि कँपैं, यह वाँभन धोंकौ॥
सारे पस्यौ सुर–लोकहु में, जब दूसरी बार लियौ भरि झोंकौ।
मेरु डरै बकसैं जनि मोहिं, कुबेर चबात ही चाँवर चोंकौ॥

मूठी तीसरि लेत ही, रुकुमनि पकरी बाँह।
तुम्हें कहा ऐसी भई, संपति की अनचाह॥
कह्यौ रुकुमिनी कान में, यह धौ कौन मिलापु।
करत सुदामा आपु सम, होत सुदामा आपु॥

जिस समय यह ग्रन्थ रचा गया था, उस समय रासमंच पर केवल कृष्ण–लीलाओं का ही प्रदर्शन किया जाता था। कालान्तर में जब कृष्ण–लीलाओं के चरित्रों का भी अभिनय किया जाने लगा, तब 'सुदामा चरित्र' के प्रसंग में नरोत्तमदास के छन्दों का विशेष रूप से गायन किया जाने लगा था। उसके कारण 'सुदामा चरित्र' का अभिनय अत्यन्त रोचक हो गया। उसे देखकर दर्शकगण आनन्द विभोर हो जाते हैं।

५. हरिव्यासजी (सं० १५५०-सं० १६३०)—वे निम्बार्क सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध आचार्य; श्रीराधा–कृष्ण की माधुर्य–लीलाओं के उपासक और ब्रजभाषा के वाणीकार थे। उनकी विद्यमानता का काल अनिश्चित एवं विवादग्रस्त है; किन्तु हमने उनके दीक्षा–गुरु श्री श्रीभट्ट जी के अनुमानित काल के आधार पर उनकी विद्यमानता सं० १५५० से सं० १६३० के लगभग निश्चित की है।[1] उनकी रचना 'महावाणी' मानी जाती है, जिसमें उनकी नाम–छाप 'हरिप्रिया' मिलती है। 'महावाणी' निम्बार्क सम्प्रदाय की एक सैद्धान्तिक रचना है। इसमें इस सम्प्रदाय के भक्ति–सिद्धान्त और उपासना तत्त्व का भावात्मक कथन अत्यन्त सरस शैली में किया गया है। यह रचना वृन्दावन से प्रकाशित की जा चुकी है।

जहाँ तक श्री हरिव्यासजी और उनकी 'महावाणी' का लीलानुकरण से सम्बन्ध है, वह हमारे विचार से स्पष्ट नहीं है। किन्तु डॉ० वसंत यामदग्नि 'महावाणी' को लीला–साहित्य की दृष्टि से ब्रजभाषा की एक समर्थ रचना' मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'रासमंच

---

१. लेखक कृत 'ब्रज के धर्म–सम्प्रदायों का इतिहास', पृष्ठ ३४७।

की गोपदेवी लीला, गुणीजन लीला एवं अनुराग लीला आदि में कृष्ण–वचन एवं सखी–वचन के रूप में इसके पदों की उपयोगिता मान्य है। इन पदों का लीला में समाजी–वचन के रूप में प्रयोग होता है। मंचीय लीलाओं में वैष्णवी दृष्टि जहाँ सिद्धान्त–प्रतिपादन करना चाहती है, हरिव्यासजी के पदों का साभिप्राय प्रयोग करती है। रासमंच की गुणीजन लीला में से श्रीराधा–विरह से व्यथित श्रीकृष्ण के करुणा विगलित उद्‌गार प्रस्तुत संदर्भ में उद्‌धृत हैं–

मेरे सरवस–धन स्वामिनी, और न कछु सुहावै री।
पलकांतर अवलोके बिन मोहि, कल्पांतरहि विहावै री॥
एक टेक यह चित्त चढ़ी रहै, विन देखैं अकुलावै री।
'श्रीहरिप्रिया' प्रान–धन–जीवन, जोइ जु भाँति जिवावै री॥[1]

६. परमानन्ददास (सं० १५५०–सं० १६४०)–वे महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य और श्रीनाथजी के अष्टछापी कीर्तन में सूरदास–कुम्भनदास के सहयोगी थे। उन्होंने विपुल परिमाण में पद–रचना की है, जिसमें श्रीकृष्ण की बाल–लीलाओं का विस्तार पूर्वक गायन किया गया है। श्रीकृष्ण की बाल–लीलाओं के कथन में सूरदास के पश्चात् परमानन्ददास का ही स्थान माना गया है। इनके पदों का संग्रह 'परमानन्द सागर' कहलाता है। इसका प्रकाशन विद्या विभाग, काँकरोली (राजस्थान) से हुआ है। परमानन्ददास ने सूरदासजी की भाँति मुक्तक पदों की रचना की है। उन्होंने प्रबन्ध शैली की किसी अभिनेय कृति को नहीं रचा; फिर भी उनके पद रासमंच पर छाये रहते हैं।

७. कृष्णदास (सं० १५५३–सं० १६३६)–वे महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के शिष्य और अष्टछापी कीर्तनकार होने के साथ श्रीनाथजी के मन्दिर के अधिकारी भी थे। पुष्टि सम्प्रदाय में उसका बड़ा दबदबा था और सब लोग उनका अत्यन्त आदर करते थे।

---

१. डॉ० यामदग्नि कृत 'रासलीला और रासानुकरण विकास', पृष्ठ २८०।

उन्होंने बहुसंख्यक पदों की रचना की है, जिसका सुसम्पादित संकलन कांकरोली विद्या विभाग से हो चुका है। उनके द्वारा रचे हुए रास सम्बन्धी पद अत्यन्त सरस और भावपूर्ण हैं। उनकी आसक्ति ही 'रासलीला' के प्रति मानी गई है। उनके अनेक पद लीलानुकरण के अवसर पर रासमंच पर गाये जाते हैं। 'महारास लीला' में उनके पदों को प्रमुखता प्राप्त है।

८. गो० हित हरिवंश (सं० १५५९-सं० १६०९)—वे 'राधा-वल्लभ सम्प्रदाय' के संस्थापक एवं रसोपासक प्रमुख धर्माचार्य थे। रासानुकरण के उन्नायकों में उनका प्रमुख स्थान माना गया है। उनके रचे हुए पद अत्यन्त मनोरम हैं, जिनसे रस छलका पड़ता है। यद्यपि इन पदों में भाव-भक्ति की प्रधानता है, तथापि ये 'लीलानुकरण' के लिए भी अत्यन्त उपयुक्त हैं। श्रीराधा-कृष्ण की संयोगात्मक लीलाओं में इनका प्रचुरता से गायन किया जाता है। ऐसे कुछ पदों की आरम्भिक पंक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं—

१. आजु बन क्रीड़त श्यामा-श्याम॥३२॥
२. आजु बन नीकौ रास बनायौ॥३६॥
३. आजु गोपाल रस-रस खेलत,
पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी॥२४॥
४. चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख-निधान।
रास रच्यौ श्याम, तट कलिंद-नंदिनी॥१२॥
५. चलहिं किन मानिनि, कुंज-कुटीर॥३७॥

गो० हित हरिवंशजी ने रासानुकरण की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति में बड़ा योग दिया था और अपने सहयोगी, सहकारी और भक्तजनों के लिए प्रेरित किया था। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप ही राधावल्लभ सम्प्रदाय में निरन्तर रासलीलानुकरण के विकास का प्रयत्न किया जाता रहा था।

९. रामरायजी (सं० १५६०-सं० १६३०)—वे वल्लभ

सम्प्रदायी थे अथवा चैतन्य सम्प्रदायी, यह विषय विवादग्रस्त है। हमने अपने ग्रन्थ 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य' (पृष्ठ १४१–१४५) में इस पर पर्याप्त ऊहापोह करने के उपरान्त निश्चित किया है कि रामरायजी ने पहले गो० विट्ठलनाथजी से वल्लभ सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी, बाद में वे चैतन्य सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धावान हो गये थे। उनके पदों में श्रीश्यामा–श्याम की माधुर्य लीलाओं का कथन हुआ है।

जहाँ तक उनके पदों का 'लीलानुकरण' से सम्बन्ध है, इसके विषय में डॉ० यामदग्नि का मत है–'रासमंच की निकुंज भावाश्रित लीलाओं में रामरायजी के पद प्रयुक्त होते हैं। इनके आधार पर प्रिया–प्रियतम के मान आदि की विविध स्थितियों का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। 'बेनीगूंथन लीला' एवं 'परस्पर मानलीला' आदि के अनुकरणात्मक प्रदर्शन में इनके पदों का प्रयोग अत्यन्त सटीक बैठता है। उदाहरणार्थ मानलीला का एक पद दृष्टव्य है–

प्यारी! तौहि कैसैकि मान मनाऊँ।
सब विधि विवश, राजधानी वसि, छदम कदम बहु बात बनाऊँ॥
गुन–आगर, सागर करुना की, कौन नबीन केलि जु जनाऊँ।
'श्रीरामराय' तब पद–पंकज नवि, निपट दीन तन हा–हा खाऊँ॥[1]

१०. गोविन्द स्वामी (सं० १५६२-सं० १६४२)—वे गो० विट्ठलनाथजी के शिष्य और अष्टछापी कीर्तनकार थे। उन्होंने श्रीनाथजी का कीर्तन करते हुए अनेक पदों की रचना की थी। उनके पदों का संकलन कांकरोली विद्या विभाग से प्रकाशित हो चुका है। उनकी भक्ति सख्य भाव की थी और उसी के अनुरूप उनके पद हैं। रासमंच मर उनके पदों का क्या उपयोग है, इसके सम्बन्ध में डॉ० यामदग्नि ने लिखा है–'गोविन्द स्वामी की पद–रचना में विविध प्रसंगों की अभिनेयता के लिए प्रभूत सामग्री उपलब्ध है; जिसे

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २६८–२६९।

रासमंच की लीलाओं के प्रयोक्ता आवश्यकतानुसार ग्रहण करते रहते हैं। उनकी रासविषयक रचनाएँ रासमंच की ऐसी अपूर्व थाती हैं, जिनके आधार किये गये नृत्य–नाट्य प्रदर्शनों में कला की सूक्ष्मता विद्यमान है।'[१]

११. हरिराम व्यास (सं० १५६७–सं० १६५५)—वे प्रकाण्ड विद्वान, रसिक भक्त और रस सिद्धकवि–गायक थे। रसोपासना के प्रमुख प्रचारक श्री हितहरिवंशजी के प्रति उनकी बड़ी श्रद्धा थी और रसिकाचार्य स्वामी हरिदासजी के वे सहयोगी–सखा थे। उनका विस्तृत जीवन–वृत्तान्त और समस्त कृतित्त्व श्री वासुदेव गोस्वामी द्वारा लिखित तथा हमारे द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित वृहद् ग्रन्थ 'भक्त–कवि व्यासजी' से जाना जा सकता है।

श्री व्यासजी ने रास की भावानुभूति एवं अनुकृति में अनुपम योग दिया था। उनके पूर्ववर्ती एवं सहयोगी भक्त–कवियों एवं गायकों ने रास विषयक जिन पदों की रचना की थी, वे अधिकतर उसके भावात्मक स्वरूप से सम्बन्धित थे। उनका उद्देश्य रास की भावात्मक अनुभूति करना और उसके लिए उपयुक्त वातावरण बनाना था। वे रासमंच की आवश्यकता–पूर्ति के लिए नहीं रचे गये थे; यद्यपि उनकी भावना के कारण उनका उपयोग रासानुकरण के लिए भी किया जाता था। श्री व्यासजी के अधिकांश पद भी इसी प्रकार के हैं; किन्तु उनके कुछ पदों से ऐसा आभास होता है कि वे रासानुकरण के साथ–ही–साथ लीलानुकरण की मंचीय आवश्यकता को दृष्टि में रखकर ही रचे गये हैं। उदाहरण के लिए, उनके द्वारा रचित प्रिया–प्रियतम एवं सखियों के कथोपकथन शीर्षक–'प्रिया जी के वचन लालजी के प्रति', 'सखी–वचन प्रियाजी के प्रति', प्रियाजी के वचन सखी के प्रति' और 'लालजी के वचन सखी के प्रति' जैसे पद

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २६७–२६८।

उपलब्ध हैं।[1] इनकी लीलानुकरण सम्बन्धी उपयोगिता स्पष्टत: परिलक्षित होती है।

श्री व्यासजी द्वारा रचित 'छद्म लीला' सम्बन्धी पद 'रास–लीलानुकरण' के लिए उनकी विशिष्ट देन है। सूरदासजी के पदों में छद्म लीला के जो थोड़े से सूत्र मिलते हैं, उन्हें व्यासजी ने विस्तृत किया था। कालान्तर में चाचा वृन्दावनदास ने उनसे छद्म लीलाओं का वृहद् ताना–बाना बुना था। श्रीकृष्ण और राधिकाजी अपने वेशों को बदलकर एक–दूसरे को छलने की जो लीलाएँ करते हैं, उन्हें 'छद्म लीला' कहा जाता है। इनमें श्रीकृष्ण कभी मालिन का, कभी चिरेरिन का, कभी चूड़ी वाली का, कभी लिलिहारिन का और कभी नव विवाहिता गोप–बाला का वेश धारण कर राधाजी को छलने की अनेक लीलाएँ करते हैं। कभी राधाजी भी श्रीकृष्ण को छलने की लीला करती हैं। वे अपने गोरे मुख को कस्तूरी–लेपन से श्यामवर्ण का बनाकर राधा–विरही श्रीकृष्ण का वेश धारण करती हैं और 'हा राधा!', 'हा राधा' रटती हुई वन में श्रीकृष्ण के समक्ष जाती हैं। उस राधा–प्रेमातुर दूसरे कृष्ण को देखकर श्रीकृष्ण विस्मय में पड़ जाते हैं। जब भेद खुलता है, तब दोनों आनन्द की अनुभूति करते हैं। व्यासजी ने इस प्रकार के कुछ पदों की रचना की है, जिनमें से दो पदों की आरम्भिक पंक्तियाँ निम्नांकित हैं–

१. कुँवरि कुँवर कौ रूप–भेष धरि, नागर पिय पै आइ ॥४४८॥

२. दंपति कौ सौ रूप–भेष, द्वै सहचरि वृन्दावन खेलति ॥४४९॥

इन पदों के आधार पर बाद में 'गोरे ग्वाल' की छद्म लीला रासमंच पर प्रदर्शित की जाने लगी थी; जो दर्शकों में बड़ी लोकप्रिय सिद्ध हुई थी। सभी प्रकार की छद्म लीलाओं का समापन उनके भेद खुलने से होता है, जिससे दोनों प्रिया–प्रियतम अतिशय आनन्द की अनुभूति करते हैं।

---

१. 'भक्त–कवि व्यासजी' पद संख्या ४१०, ४१२, ४७७, ४७८, ४८१, ४८४ और ४९०।

१२. सूरदास मदनमोहन (सं० १५७०-सं० १६४०)—वे चैतन्य सम्प्रदायी भक्त-कवि थे। उन्होंने श्री चैतन्यदेवजी के कृपा-पात्र श्री सनातन गोस्वामी से मन्त्र-दीक्षा ली थी और उनके आराध्य देव श्री मदनमोहनजी के प्रति वे श्रद्धावान थे। हमने उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का शोधात्मक ग्रन्थ 'सूरदास मदनमोहन' के नाम से लिखकर प्रकाशित कराया है। उसमें उनके समस्त उपलब्ध पदों का प्रथम बार सुसम्पादित संकलन किया गया है। इन पदों में श्रीकृष्ण की ब्रज-भावाश्रित बाल-लीलाओं के साथ-ही-साथ उनकी निकुंज-भावमयी अनुराग लीलाओं का भी मनोरम कथन मिलता है। यहाँ पर इन दोनों प्रकार की लीलाओं से सम्बन्धित उनके एक-एक पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं।

बाल-लीला का पद—निम्नांकित पद में श्रीकृष्ण की मनोरम शैशव क्रीड़ा और माता यशोदा के सहज वात्सल्य भाव का अत्यन्त स्वाभाविक कथन हुआ है—

झनक भनक चलै तनक से छँगना।
न्हैनी-न्हैनी सोहति दूध की दतियाँ,
किलकि-किलकि लागै छतियाँ, रज झारत री झपकना।
गोद लिएँ हुलराय खिलावै,
ग्रीवा लावै, कंठ सोहै सुभ बघना।
'सूरदास मदनमोहन' संग लागी-लागी डोलै,
लाड़िलौ घुटुरुअन रैंगत री अँगना॥६॥

अनुराग लीला का पद—आगे के पद में प्रियाजी के उपवन में पधारने के समय उनकी सहज सुकुमारता और प्रियतम की अनुपम अधीनता का मनोरम कथन हुआ है—

पाछै ललिता, ता आगै स्यामा प्यारी,
ता आगै पिय मारग फूल बिछावत जात।
कठिन कलीन बीनि करत न्यारी-न्यारी,
प्यारी के चरन कोमल जानि, सकुचित गड़िवै डरात।

अरुझी लता सु कर निरवारत,
पाछै डारत द्रुम पल्लव–पात।
'सूरदास मदनमोहन' पिय की अधीनताई,
देखत मेरे नैन सिरात॥१४२॥

उपर्युक्त पद कुछ पाठ–भेद से 'सूर सागर' में भी मिलता है। सम्भव है, इसे मूल रूप में सूरदासजी ने ही रचा हो और बाद में किसी लिपिक की असावधानी से सूरदास मदनमोहन के पदों में सम्मिलित कर दिया गया हो। किन्तु इस विषय में निश्चयपूर्वक कहना बड़ा कठिन है। सूरदास मदनमोहन की रचना में 'मान' सम्बन्धी पदों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। यहाँ पर 'मानलीला' का भी एक पद दिया जाता है। इसमें मानवती राधा को विरहातुर कृष्ण की विह्वल दशा बतलाती हुई सखी की राधाजी से मान–मोचन करने की मनुहार की गई है–

तब हौं जाऊँगी बलि, कुंज–सदन ठाड़े देखि अंखियन भरि जलन।
मोपै न देखे परैं, खड़े द्रुम–डारि गहैं,
अकेली नीकैं तुम ठाड़ी हौ, ढिंग चलि न।
तिहारौ बदन प्रफुल्लित अंबुज,
हरि जू के नैना मैं देखे अति आतुर अलनि।
'सूरदास मदनमोहन' प्यारे न्यारे तू ही न चाहति,
हा–हा बूर करि मान मलिन॥११०॥

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि सूरदास मदनमोहन के पद लीलानुकरण की मंचीय लीलाओं के लिए उपयुक्त हैं। श्रीराधा–कृष्ण की विविध लीलाओं के अभिनयात्मक प्रदर्शन के समय श्रोताओं को रससिक्त करने में ये पद अचूक सिद्ध होते हैं।

१३. गदाधर भट्ट (सं० १५८०–सं १६४०)—वे चैतन्य सम्प्रदायी भक्त–कवि थे। उनके आरम्भिक जीवन का विवरण उपलब्ध नहीं है। 'भक्तमाल' की 'रसबोधिनी टीका' में प्रियादासजी ने बतलाया

है कि गदाधर भट्ट वृन्दावन से बाहर के किसी स्थान पर निवास करते हुए भक्ति–काव्य की रचना किया करते थे। उनके एक पद को किसी भक्तजन ने सुना और उसे वृन्दावन के विख्यात गौड़ीय धर्माचार्य श्री जीव गोस्वामी को सुनाया था। गोस्वामीजी उक्त पद की रचना–माधुरी पर इतने मुग्ध हुए कि तत्काल एक अनुचर द्वारा निमन्त्रण भेजकर गदाधर भट्ट को वृन्दावन बुला लिया। भट्ट जी अपने घरवालों को छोड़कर वृन्दावन आ गये और जीव गोस्वामी तथा अन्य गौडीय भक्तों के सत्संग में रहकर भक्ति–साधना और काव्य–रचना करने में तल्लीन हो गये। उनके उक्त पद की आरम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

सखी हौं स्याम–रंग रँगी।
देखि विकाय गई वह मूरति, सूरति माँहि पगी॥[१]

नाभा जी कृत 'भक्तमाल' और प्रियादासजी कृत 'भक्तिरस बोधिनी' टीका में कहा गया है कि गदाधर भट्ट वृन्दावन में भागवत–कथा का प्रवचन किया करते हैं। उसके अतिरिक्त उन्होंने भट्ट जी की किसी अन्य गतिविधि का उल्लेख नहीं किया। उन्होंने भट्ट जी की रास–प्रियता और उसकी भावना के विषय में भी कुछ नहीं कहा है।

किन्तु डॉ० बसंत यामदग्नि ने श्री गदाधर भट्ट के पदों को लीलानुकरण के मंचीय प्रदर्शन के उपयुक्त बतलाया है और उनमें अभिव्यक्त ब्रज–भाव और निकुंज भाव की प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है, ब्रज–भाव की लीलाओं में जिस लोक–तत्त्व का विस्तार परवर्ती काल में चाचा वृन्दावनदास ने रासमंचीय प्रदर्शनों में किया था, उसकी 'प्रारम्भिक झाँकी अपनी भाव–सज्जा के साथ गदाधर भट्ट जी के पदों में अभिव्यंजित हुई है।' उन्होंने ब्रजराज कुँवर और वृषभानु–किशोरी के सगाई–विवाह, कंकन–क्रीड़ा, वैवाहिक भोज और उस अवसर पर ब्रज–नारियों द्वारा गाई गई गारियों से सम्बन्धित

---

१. भक्तमाल की भक्तिरस बोधिनी टीका, कवित्त सं० ५२४।

जिन ब्रज–लीलाओं का कथन किया है, वही गदाधर भट्ट जी की भावना में निकुंज–लीला बन जाती है।'[1]

हम डॉ० यामदग्नि के कथन से सहमत नहीं हैं। हमारे मतानुसार पहले तो गदाधर भट्ट जी की रास–प्रियता और उनके पदों की लीलानुकरण सम्बन्धी उपयोगिता का कोई समकालीन आधार उपलब्ध नहीं है। फिर उनके प्रामाणिक पदों में ब्रज–भाव की अपेक्षा निकुंज–भाव की ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है। वे आरम्भ से अन्त तक उसी भाव के उपासक रहे थे। उनके जिस आरम्भिक पद को सुनकर जीव गोस्वामी जी मुग्ध हुए थे, उसमें भी निकुंज भाव की प्रखरता है।

श्री गदाधर भट्ट जी के पदों का कोई प्रामाणिक संकलन अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। गौडीय सन्त बाबा कृष्णदास ने वर्षों पहले 'गदाधर' की छाप के अनेक पदों को संकलित कर उन्हें असम्पादित रूप में 'वाणी श्री गदाधर भट्ट जी की' नाम से प्रकाशित किया था। उसमें संकलित ब्रज–भाव के पद गदाधर भट्ट जी के न होकर पुष्टिमार्गीय गदाधरदास के हैं। इनमें अभिव्यक्त ब्रज–भाव पुष्टिमार्गीय भक्ति–भावना के अनुरूप हैं। ये समस्त पद परम्परा से श्री ठाकुरजी के कीर्तनों में गाये जाते हैं और कीर्तन–पोथियों में भी संकलित मिलते हैं। डॉ० यामदग्नि ने बाबा कृष्णदास की पुस्तक को पढ़कर और उसमें संकलित 'गदाधर' छाप के सभी पदों को गदाधर भट्ट जी कृत मानकर भ्रमात्मक कथन किया है। यदि वे उन्हें 'कीर्तन पोथियों' के पदों से मिला लेते, तब कदाचित् इस प्रकार का कथन नहीं करते।

डॉ० यामदग्नि जी की यह प्रवृत्ति रही है कि उन्होंने सभी भक्त–कवियों की रचनाओं को येन–केन–प्रकारेण लीलानुकरण के घेरे में समेट लेने का प्रयत्न किया है। इससे उनके निष्कर्ष असन्तुलित

---

१. रासलीलानुकरण तथा रासानुकरण–विकास, पृष्ठ २७३।

और कुछ सीमा तक अप्रामाणिक हो गये हैं। यही बात गदाधर भट्ट जी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

१४. नन्ददास (सं० १५९०-सं० १६४०)—वे पुष्टिमार्गीय भक्त-कवि और अष्टछापी कीर्तनकार थे। पुष्टिमार्ग के प्रायः सभी भक्त-गायकों ने मुक्तक शैली के कीर्तन पदों की रचना की है; किन्तु नन्ददासजी ने मुक्तक पदों के अतिरिक्त प्रबन्ध शैली की रचनाओं को भी गाया है और साथ ही उन्होंने 'लीला' सम्बन्धी अभिनेय कृतियों का भी प्रणयन किया है। उनकी प्रबन्ध शैली की रचनाओं में 'रास-पंचाध्यायी' और 'भ्रमर गीत' प्रमुख हैं। इनके आधार पर 'महारास' और 'उद्धव-गोपी-संवाद' की लीलाएँ रास मंच पर प्रदर्शित की जाती हैं।

नन्ददासजी कृत 'गोवर्धन लीला', 'स्याम-सगाई', 'रुक्मिणी मंगल', 'सुदामा-चरित्र' और 'रास पंचाध्यायी' उनकी 'लीला' विषयक कृतियाँ हैं। वस्तुतः ये गेय एवं पठनीय हैं; किन्तु रासधारी गण इनके आधार पर श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का रासमंच पर सफलतापूर्वक अभिनय करते हैं। 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी' का उपयोग लीलाओं के तात्त्विक पक्ष को उजागर करने के लिए किया जाता है।

डॉ० दशरथ ओझा ने नन्ददासजी की 'लीला' सम्बन्धी कृतियों को 'लीला नाटक' की संज्ञा दी है। उन्होंने लीला नाटक के विकास-क्रम का विवेचन करते हुए नंददास की उक्त कृतियों के संबध में विस्तारपूर्वक लिखा है। वे कहते हैं—'ब्रज भाषा के प्रारम्भिक रासलीला सम्बन्धी नाटक नन्ददासजी द्वारा विरचित हुए थे। नन्ददासजी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्होंने मधुर स्वर में गाने योग्य स्फुट गेय पद, भागवत, दशम स्कन्ध के अनुवाद रूप में कथा और लीला के रूप में दृश्य काव्य की रचना की थी। उनमें दृश्य काव्य के अनुकूल किसी कथा के आवश्यक अंग को ग्रहण करने और अनावश्यक को पृथक् करने की क्षमता थी। एक ही कथावस्तु

को संगीत, कथा और दृश्य–काव्यों के योग्य गढ़ लेने की उनमें अद्‌भुत शक्ति थी। उनके द्वारा रचित 'गोवर्धन–लीला' इसका प्रमाण है। यहाँ पर इसके दोनों रूपों का तुलनात्मक विवेचन किया जाता है, भागवती गोवर्धन–लीला में प्रारम्भ में मंगलाचरण नहीं है और होना भी नहीं चाहिए; किन्तु गोवर्धन–लीला में शुद्ध नांदी है–'श्री गुरु चरण सरोज मनावौ। 'इस नांदी में १२ वर्ण हैं, जो नांदी का लक्षण है। तदुपरान्त प्रस्तावना के रूप में सामाजिकों को बताया जाता है कि आज गोवर्धन–लीला होगी। इस लीला के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिए इसकी विशेषता का वर्णन है। 'कलिमल–हरनी मंगल–करनी। मन हरनी श्री शुक मुनि वरनी' कहकर सूत्रधार अथवा व्यवस्थापक प्रेक्षकों का मन आकर्षित करता है। जिस क्रम से नन्ददासजी ने 'कलिमल–हरनी', 'मंगल करनी' और 'मन–हरनी' लिखा है, उससे नाटककार का नाटकोद्देश्य झलकता है। उसने निःश्रेयस को प्रथम, अभ्युदय को द्वितीय और मनोरंजन को तृतीय स्थान दिया है। कृष्ण–लीला के प्रायः सभी नाटकों में यही उद्देश्य क्रम से मिलता है। इस प्ररोचना के उपरान्त नाटक की मूल कथा–वस्तु का आरम्भ है। इस नाटक में भागवत की कथा के कई अंश ग्रहण नहीं किये गये हैं। जैसे भागवत की कथा के रूप में एक स्थान पर गोवर्धन–पूजा के लिए पकवानों का विस्तृत वर्णन मिलता है। नाटक वाली गोवर्धन–लीला में इन विविध व्यंजनों का वर्णन अनावश्यक था। इस कारण नन्ददासजी ने उन्हें अग्राह्य माना है। भागवत की लीला के अन्त में भरत–वाक्य नहीं है और न होना ही चाहिए; किन्तु भरत मुनि के आदेशानुसार नाटक में इसका होना अनिवार्य है। नन्ददासजी की सूक्ष्म दृष्टि से नाटक का यह आवश्यक अंग कैसे छूट सकता था! अन्त में वे लिखते हैं–

नवलकिसोर सुंदर गिरधारी। स्त्रवन–नैन अमृत रूप भारी॥
'नंददास' कौ इतनौ कीजै। पावन गुन–गावन रति दीजै॥[1]

---

१. डॉ० दशरथ ओझा कृत 'हिन्दी नाटक', पृष्ठ ९२–९३ के अनुसार।

नन्ददासजी कृत 'स्याम–सगाई', 'रुक्मिणी–मंगल' और 'सुदामा चरित्र' भी प्रायः इसी प्रकार की कृतियाँ हैं। इन सब पर सूरदास जी का प्रभाव पर्याप्त रूप में परिलक्षित होता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि नन्ददास कई वर्षों तक सूरदासजी के सान्निध्य एवं निकट सम्पर्क में रहे थे। अतएव उनकी कृतियों पर सूरदासजी की रचनाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। नन्ददासजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से सम्बन्धित वृहद् ग्रन्थ 'नन्ददास ग्रन्थावली' है, जिसे वाराणसी के वरिष्ठ साहित्य–साधक स्व० बाबू ब्रजरत्नदासजी ने प्रस्तुत कर 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' से प्रकाशित कराया था।

१५. वल्लभ रसिक (विद्यमानता प्रायः सं० १६०५-सं० १६६५)—ब्रज के दिवंगत सन्त बाबा कृष्णदास ने 'वल्लभ रसिक की वाणी' नामक पुस्तिका का प्रकाशन किया था। उसकी संक्षिप्त 'भूमिका' में उन्होंने वल्लभ रसिकजी को श्री गदाधर भट्ट जी का ज्येष्ठ पुत्र और 'प्रेम पत्तत' कार रसिकोत्तंस जी का बड़ा भाई बतलाया है। यदि बाबाजी का कथन प्रामाणिक है, तब वल्लभ रसिकजी की विद्यमानता का काल सं० १६०५ से सं० १६६५ तक अनुमानित होता है। उनका रचना–काल सं० १६३० से माना जा सकता है।

वल्लभ रसिकजी के भक्ति–काव्य की रचना उच्चकोटि की है। वे ब्रज के भक्त–कवियों में अपनी सरस और अलंकृत रचना–शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने विविध छन्दों एवं राग–रागिनियों में प्रिया–प्रियतम की लीलाओं का कथन तथा गायन किया है, जिसमें अलंकारों और यमकों की छटा दिखलाई देती है। उनकी भाषा परिमार्जित तथा अलंकृत है, जिसका लालित्य अनुपम है। उनकी मनोरम रचनाओं को सुनने एवं पढ़ने से महाकवि जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' का स्मरण हो आता है। इनमें संयोग श्रृंगार और माधुर्य

भक्ति का प्राधान्य है। उनकी 'मांझ' नामक रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपनी 'वाणी' को श्री राधा–कृष्ण की सहचरी और उनके प्रेमासव से सनी हुई बतलाया है–'वल्लभ रसिक' सहचरी बानी। जुगल स्नेह–आसव सों सानी।' निःसंदेह उनकी रचना श्रीराधा–कृष्ण के दिव्य प्रेमासव की सात्त्विक मादकता से परिपूर्ण है। यहाँ पर उदाहरणार्थ उनका एक पद और उनकी मांझ का कुछ अंश दिया जाता है– पद–

आजु रास मंडल अस चंद जुगल, कल नृत्यत मिलि अलि उडुगन।
मुकुट की लटकतें, पगन की पटकतें, छूटहिं छटा मिसु किरन॥१॥
तान–गान सुधा पोषित सुतनु, रोमौषध प्रफुलित कुमुद सुमन।
ताथेई ताथेई थेई गिड़िगिड़ि ता सुहाई, निमिसु उमँगि गरज्यौ रस निधुवन॥२॥
षोडस षोडस वैस कला सम, नेह झलंकित देह संपूरन।
कोक कला बहु संपति दंपति हस्तक छल सों, बल सों निसि कृत कोक उरज जुग मिलन॥३॥
प्रेमहिं संयुत आसव अलि–दृग, दरसत नाँचत द्वै एकै तन।
'वल्लभ रसिक' चकोर नैन उहि ओर लगे नये कौतुक, इक घात लाभ, सुख–करन॥४॥

लीलानुकरण के मंचीय गायन की दृष्टि से इनकी 'मांझ' संज्ञक रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें 'रास की मांझ' का केवल एक ही उदाहरण मिलता है। अन्य 'मांझ' होरी, दिवारी, वर्षा, जल–क्रीड़ा, बंगला आदि के उत्सवों से सम्बन्धित है। यहाँ पर 'रास की मांझ' प्रस्तुत है।

रास की मांझ–

पूरन ससि–मंडल की किरनें, मनि मंडल पर छाई।
चमकि–चमकि चहुंदिस–दिसि पुलिननि, बन चाँदनी बिछाई॥
अंबर पर सुंदर तारागन, छाति छपाइ तनाई।
'बल्लभ रसिक' विलास रास उल्लास सांस सुधि आई॥१॥

नव नागर नट चटक–मटक सों, मोर मुकुट छबि धारी।
धारी छबि चटकीले दुपटा, लटकत छोर छटा री॥
किये प्रकास रासमंडल पर, तास काछनी न्यारी।
'बल्लभ रसिकन' कर ली मुरली, सिर लिएँ तिय मन हारी॥२॥
झमकि चली संग बाल, हाल करतालनि लै–लै गोरी।
लाई गति मृदंग उपजाई, झाई बन घन घोरी॥
थेई–थेई तत्तथेई थेई, थेई धुनि लै जोरी।
'बल्लभ रसिक' बिहारी प्यारी, प्यारी तान झकोरी॥३॥
तान झकोरनि माननि तोरनि, आननि जोरनि ठानी।
हस्तक भेद कनक कंकन की, बनक–ठनक मन मानी॥
झलक–झनक नूपुर ऊपर, पाइल की बजनि मिलानी।
'बल्लभ रसिक' लटक बेंनी की, जी की अति सुखदानी॥४॥
भृकुटी नँचन कानि बचननि की, कटि की लचनि बनी है।
तिय तन मोर–मुकुट की लटकनि, मटकति मैन सनी है॥
अंचल पट में चंचल निपट, बनी के नैन अनी है।
'बल्लभ रसिक' बनी अबनी पर, वृन्दावन अबनी है॥५॥

'बल्लभ रसिक की वाणी' की एक हस्तलिखित प्रति किशोरदास द्वारा लिपिबद्ध उपलब्ध है। इसे उन्होंने सं० १८६५ के पौष माह की अष्टमी रविवार को पूर्ण किया था। लिपिकार किशोरदास का निवासस्थान श्रीजी के मन्दिर के निकट था और उसी स्थल पर नवल सखी नामक भक्तजन भी रहते थे। इसका उल्लेख उक्त प्रति की पुष्पिका में इस प्रकार किया गया है–

बल्लभ रसिक रस भरी बानी। लिखी किशोरदास मनमानी॥
श्री मंदिर के निकट निवास। नवल सखी सहचरी निवास॥
एक आठ षट पांच (१८६५) गिनाये। पूस अष्टमी रवि दिन पाये॥

किशोरदास और नवल सखी नामक कई भक्त–कवि विभिन्न कालों में हुए हैं। उनमें से सं० १८६५ में विद्यमान इन नामों के

भक्त–कवि कौन और कहाँ के थे, इन सब बातों का अनुसन्धान अपेक्षित है।

१६. ध्रुवदास (सं० १६३०-सं० १७००)—वे राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त–कवि और रसोपासक महात्मा थे। उन्होंने गो० हितहरिवंशजी के तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथजी से देवबन में मन्त्र–दीक्षा ली थी। बाद में वे वृन्दावन आ गये थे, जहाँ राधा–वल्लभीय भक्तजनों के सत्संग में रहकर भक्ति–साधना और भक्ति–काव्य की रचना करने लगे थे।

उनके द्वारा रची हुई छोटी–बड़ी ४२ 'लीलाएँ' प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त १०३ स्फुट पद भी उन्होंने रचे थे। उनकी 'लीला' संज्ञक रचनाओं के अभिनेय होने की सम्भावना हो सकती है। किन्तु उनका अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनमें से अधिकांश में अभिनयात्मक नाट्य–तत्त्व का अभाव है। वस्तुतः ये पठनीय और कुछ सीमा तक गेय रचनाएँ हैं। उनमें श्री हितहरिवंश द्वारा प्रचारित 'निकुंज लीला' की जो विशद् अभिव्यक्ति हुई है, उसी के कारण उन्हें 'लीला' कहा गया है। वैसे 'लीला' शब्द के वाच्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ से इन रचनाओं की संगति नहीं होती है। उनके कतिपय अंश अवश्य ही 'लीलानुकरण' के अनुकूल हैं, जिनका उपयोग रासधारीगण किया करते हैं।

इन बयालीस संख्यक तथा कथित लीलाओं की रचना प्रायः दोहा–चौपाई छन्दों में हुई है। कुछ रचनाओं में कुंडली, अरिल्ल, कवित्त, सवैया छन्द भी मिलते हैं। 'सिद्धान्त विचार लीला' वचनिका (ब्रजभाषा गद्य) में रची गई है। ध्रुवदासजी ने इन 'लीलाओं' को श्री हितहरिवंशजी के भक्ति–सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए रचा था। उनका उद्देश्य उन्हें रासमंच की आवश्यकतानुसार रचने का नहीं था। फिर भी उनका पर्याप्त प्रभाव रासमंच पर प्रदर्शित की जाने वाली निकुंज–लीलाओं पर पड़ा है।

'रासलीलानुकरण' के अध्येताओं ने ध्रुवदासजी कृत 'लीला' संज्ञक रचनाओं की समीक्षा अपने–अपने दृष्टिकोणों से की है। डॉ० वसंत यामदग्नि ने इनके सम्बन्ध में लिखा है–'वल्लभ सम्प्रदाय की प्रचारात्मक प्रवृत्ति ने जहाँ रासमंच को श्रीकृष्ण की पुराण–प्रसिद्ध बाल–केलियों से अलंकृत किया, वहाँ निकुंज के साधकों की वृन्दावन रस–साधना ने निकुंज गत लीला प्रयोग भी रासमंच पर समुपस्थित कर दिये। इस प्रकार 'ब्रज' एवं 'निकुंज' के परिवेश को रासमंचीय लीलाओं में पृथक् अभिव्यक्ति देने के लिए ध्रुवदासजी की बयालीस लीलाएँ परवर्ती लेखकों के लिए उचित प्रकाश–स्तम्भ सिद्ध हुईं। उन्होंने ब्रज लीला और निकुंज लीला को अपने विशुद्ध स्वरूप में पृथक्–पृथक् वर्णित किया है, जैसा कि 'रसिक अनन्य माल'–कार ने इनके सम्बन्ध में लिखा है–

प्रेम–नेम सिद्धान्त जु कीनौ। ब्रज–विनोद न्यारौ कर दीनौ॥
कुंज–महल पिय–प्यारी सखी। अद्‌भुत केलि कही, जो लखी॥

ध्रुवदासजी को रासमंचीय लीलाओं के लेखक के रूप में भले ही महत्ता प्रदान न की जाय; किन्तु लीला–लेखन की पृष्ठभूमि को बनाने और उस पर परवर्ती लीला लेखकों को चलने के लिए प्रेरित करने में उनकी ऐतिहासिक प्रतिष्ठा सदा बनी रहेगी।[१]

श्री रामनारायण अग्रवाल ने लिखा है–'ध्रुवदासजी कृत इन लीलाओं में नाटकीयता, संगीतात्मकता तथा कथात्मकता का अभाव है। यही कारण है कि उनकी कोई लीला रासमंच पर स्वीकृत नहीं हुई। उनकी पदावली को ही रासमंचीय लीलाओं में स्थान प्राप्त है। परन्तु राधावल्लभीय सम्प्रदाय को समझने के लिए ये रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनके पाठक रास की ओर आकर्षित हुए; और इन रचनाओं का प्रभाव रास की मधुर लीलाओं पर पड़ा, यही ध्रुवदासजी

१. रासलीलानुकरण तथा रासानुकरण–विकास, पृष्ठ २८२–२८३।

की रचनाओं का महत्त्व है।[1]

ध्रुवदासजी की समस्त रचनाओं का प्रकाशन वृन्दावन के दिवंगत सन्त बाबा तुलसीदास ने अपने ढंग से सं० २०१० में किया था। तब से अब तक इनका कोई सुसम्पादित संस्करण नहीं निकला है; जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

१७. गंगाबाई उपनाम 'विट्ठल गिरिधरन' (सं० १६३०-सं० १७३५)—इस नाम की दो भक्त–महिलाएँ वल्लभ सम्प्रदाय में हुई हैं। उनमें से एक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी की कृपा–पात्र और श्रीनाथजी की निष्ठावान सेविका थीं; किन्तु भक्त–कवयित्री नहीं थीं। दूसरी गो० श्री विट्ठलनाथजी की शिष्या थी, जिसने 'श्री विट्ठल गिरिधरन' के उपनाम से बहुसंख्यक कीर्तन पदों की रचना की है। उसकी विद्यमानता का काल सं० १६३० से सं० १६०७ लिखा है;[2] जो वस्तुतः प्रथम गंगाबाई की विद्यमानता का है। दोनों के नाम–साम्य के कारण इस प्रकार की भूल हुई है।

गंगाबाई (विट्ठल गिरिधरन) का वृत्तान्त 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' संख्या ६५ पर मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि वह बाल्यावस्था में ही गो० विट्ठलनाथजी की शरण में आ गई थी और उसका लालन–पालन गोसाईंजी के बालकों के साथ हुआ था। वह श्रीनाथजी की परम भक्त और उच्चकोटि की भक्त–कवयित्री थी। उसके द्वारा रचे हुए पद 'नित्योत्सव' एवं 'वर्षोत्सव' लीलाओं के हैं, जो पुष्टिमार्गीय कीर्तन–पोथियों में संकलित मिलते हैं। उसने भगवान् श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं के बहुसंख्यक पदों को रचा है। उनमें सर्वाधिक संख्या 'दान लीला' के पदों की है, जो ४० के लगभग हैं। इन पदों का गायन रासधारीगण रासमंचीय 'दान लीला' का अभिनयात्मक प्रदर्शन करते समय करते हैं। इनमें से केवल २ पद यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं—

---

१. ब्रज का रास, रंगमंच, पृष्ठ २११।

२. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २७९।

१. ग्वालिनि! दान हमारौ दीजै॥
अति मन मुदित होय ब्रज–सुंदरि, कहत लाल! हँसि लीजै।
दीजै मन मेरौ, अब प्यारे! निरखि–निरखि मुख जीजै॥
अति रस–गलित होत वह भामिनि, मन मानैं सो लीजै।
'श्रीविट्ठल गिरधरन' लाल सों, नवल–नवल रस भीजै॥

२. मोहन माँगत गोरस–दान।
कनक–लकुट कर लसत सुभग अति, कही न जात पिय–बान॥
अति कमनीय नवल तन सुंदरि, हँसि परसत पिय–पान।
'श्रीविट्ठल गिरिधरन' रसिक वर, माँगत मृदु मुसिकान॥

गंगाबाईजी (विट्ठल गिरिधरन) के शोधात्मक जीवन–वृत्त और उनके समस्त उपलब्ध पदों के सुसम्पादित संकलन से सम्बन्धित ग्रन्थ हमने प्रथम बार प्रस्तुत किया है, जिसका प्रकाशन गो० माधवरायजी द्वारा पोरबंदर (गुजरात) से हुआ है।

१८. गो० हरिरायजी (सं० १६४७–सं० १७७२)—वे वल्लभ सम्प्रदाय के विद्वान आचार्य और ब्रज भाषा गद्य–पद्य साहित्य के अत्यन्त समर्थ रचनाकार थे। उन्होंने संस्कृत एवं ब्रज भाषा में जितने ग्रन्थों की रचना की, उतने किसी वल्लभ सम्प्रदायी आचार्य एवं विद्वान ने नहीं रचे। उन्होंने 'नित्योत्सव' एवं 'वर्षोत्सव' के जो बहुसंख्यक पद रचे हैं, उनमें श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का विविध भाँति से गायन किया गया है। उनमें प्रमुख रूप से तो 'ब्रज–भाव' है, किन्तु अनेक पदों में 'निकुंज भाव' का भी समावेश मिलता है।

श्री वल्लभाचार्यजी ने अपने भक्ति–सिद्धान्त में ब्रज–भाव और निकुंज–भाव दोनों को मान्यता दी थी; किन्तु भगवद् सेवा में उन्होंने ब्रज–भाव का प्राधान्य रखा था। उसी के अनुसार श्रीनाथजी के 'नित्योत्सव' और 'वर्षोत्सव' की व्यवस्था की गई थी। यद्यपि वल्लभ सम्प्रदाय में आरम्भ से ही ब्रज–भाव के साथ–साथ निकुंज–भाव के प्रति आस्थावान भक्तों की परम्परा रही थी; किन्तु गो०

गोकुलनाथजीके समय में निकुंज–भाव को कुछ अधिक बल मिला था, जिसे गो० हरिरायजी ने और भी शक्तिशाली बनाया था।

डॉ० बसंत यामदग्नि ने लिखा है–'गो० हरिरायजी के पदों का प्रयोग रासमंच की ब्रज लीलाओं एवं निकुंज लीलाओं में समान रूप से होता है। वल्लभ सम्प्रदाय में यद्यपि निकुंज भाव की विविध लीलाओं के छद्मों का संकेत सूरदास आदि की रचनाओं में उपलब्ध है, तथापि निकुंज भावाश्रित सखी भाव की लीला–प्रतिष्ठा में गो० हरिरायजी का विशेष प्रयास परिलक्षित होता है। रासमंचीय गुणीजन लीला, गोप देवी लीला, वंशी चोरी लीला, परस्पर मान लीला, साँवरी सहेली लीला आदि शुद्ध निकुंज भाव की लीलाओं में गो० हरिरायजी के पद अत्यन्त सटीक बैठते हैं। विभिन्न रास–मण्डलियाँ अनेक लीलाभिनयों में इनका सफलता से प्रयोग करती हैं।'[१]

गो० हरिरायजी ने कृष्ण–जन्मोत्सव लीला, ढाढ़ी–ढाढ़िन लीला, माखन–चोरी लीला, गोचारण लीला, गोवर्धन लीला, मान लीला आदि के बहुसंख्यक कीर्तन पदों की रचना की है। इनमें उनकी नाम–छाप रसिक, रसिकराय, रसिक प्रीतम मिलती है। वल्लभ सम्प्रदायी भक्त–कवियों ने दान लीला और गोवर्धन लीला का गायन बड़ी रुचिपूर्वक किया है। गो० हरिरायजी के पद भी इन लीलाओं के उपलब्ध हैं, जिनके एक–एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं–

दान लीला–

श्री गोवर्धन की सिखर तें, मोहन दीनी टेर।
अँतरंग सौं हम कहत हैं, सब ग्वालिनि राखो घेर॥नागरि दान दै॥
ग्वालिनि रोकी ना रहैं, ग्वाल रहे पचिहारि।
अहो गिरिधारी! दौरियो, सो कह्यो न मानत ग्वारि॥नागरि! दान दै॥
या मारग हम नित गईं, कबहू सुन्यौ नहिं कान।
आजु नई यह होति है, सो माँगत गोरस दान॥ मोहन जान दै॥

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २८५।

यहाँ हमारौ राज है, ब्रजमंडल सब ठौर।
तुम जु हमारी कुमुदिनी, हम कमल बदन के भौंर॥ नागरि! दान दै॥
अंस भुजा गहि लै चले, प्यारौ चरन–निहोर।
निरखति लीला 'रसिक जू' जहाँ दान–मान की ठौर॥ नागरि दान दै॥

गोवर्धन लीला–

आजु कहा संभ्रम है, तुम्हरें घर तात!
गोप लगे काजन, आनंद नाँ समात॥
बोले नंदराय, देव इंद्र बली दैहैं।
बरसै जल, नाज उपजि, सुख बरस लौं पैहैं॥
बोले हरि सुनो तात! बात एक मेरी।
करम बस सबै जु होत, मिलि सुझाव हेरी॥
गिरि कानन राखत है, पूजौ ता ईस।
सो तौ द्विज–देव–गाय, ठाकुर जगदीस॥
जैसें हरि कह्यौ, सबन तैसें ही कियौ।
रूप बड़ौ धरि कै, बलि खात दरस दियौ॥
यह लीला अति अद्भुत, 'रसिक' होइ गावै।
अन्य भजन छाँड़ि, चरन हरि जू के पावै॥
जैसे हरि कह्यौ, सबन तैसें ही कियौ।
रूप बड़ौ धरि कै, बलि खात दरस दियौ॥
यह लीला अति अद्भुत, 'रसिक' होइ गावै।
अन्य भजन छाँड़ि, चरन हरि जू के पावै॥

१९. माधुरी जी (प्रायः सं० १६५०–सं० १७१५)—वे कपूर खत्री जाति के ब्रजवासी भक्त–कवि थे। उनका मूल नाम माधवदास और काव्योपनाम 'माधुरी' था। वे चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे। बाबा कृष्णदास ने उनकी रचनाओं का प्रकाशन 'श्री माधुरी वाणी' के नाम से किया है। इसमें उनकी समस्त उपलब्ध रचनाओं का संकलन है। ब्रज के रासधारी उनकी रचनाओं का उपयोग विभिन्न

लीलाओं में करते रहे हैं।[1] यहाँ पर उनकी रचना का एक अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

कालिंदी के कूल, कमल फूले बहु भाँतिन।
अरुन–पीत सित–असित, सबहिं सोभित सत पातन॥
मधु ऋतु आगम जानि, विपिन मिलि विहरत दोऊ।
एक वैस गुन–रूप, एक सम घटित न कोऊ॥
ललितादिक सब सखी–सहेली परम सुहाई।
नवल माधुरी संग, सदा सहचरि सुखदाई॥
अति आरत सौं अरस–परस, अंसन भुज दीयें।
डगमगात डग भरत, रूप–माधुरि रस पीयें॥
जित देखौं तित छवि–प्रकास सों छाय रह्यौ बन।
मनु अवनी पर चरन धरत, डोलत दामिन–घन॥

२०. विजय सखी (सं० १७००–सं० १७८०)—वे श्री हरिराम व्यासजी के वंशज और सुप्रसिद्ध भक्त–कवि चंदसखीजी के ज्येष्ठ भ्राता थे। सखी भाव के उपासक होने के कारण वे दोनों भाई सखी वाची नामों से प्रसिद्ध हुए थे। विजय सखीजी ने 'काव्यात्मक गेय रचनाओं के साथ 'लीला' संज्ञक अभिनेय रचनाएँ भी प्रचुरता से लिखी हैं। उनके द्वारा रची हुई १४ लीलाओं का संकलन 'रास–सर्वस्व' ग्रन्थ में हुआ है।[2] रासधारीगण इनके आधार पर रास–लीलाएँ करते रहे हैं।

२१. चंदसखी (विद्यमानता सं० १७१० से १७९० के *लगभग*)—वे सुविख्यात भक्त कवि श्री हरिराम व्यासजी के वंशज और विजय सखीजी के छोटे भाई थे। उनका जन्म ओड़छा (म०प्र०) में हुआ था। अपने प्रारंभिक जीवन में मौंठ थाना के थानेदार थे। पूर्व

---

१. माधुरी जी का विस्तृत विवरण हमारे ग्रन्थ 'चैतन्यमत और ब्रज साहित्य' के पृष्ठ १९६–२०४ में देखिये।

२. विजय सखीजी की १४ लीलाओं के नाम इस ग्रन्थ के परिशिष्ट (२) में लिखे गये हैं।

संस्कारवश उसमें वैराग्य भाव का उदय हो गया और अपनी युवावस्था में ही वे घर–बार तथा राजकीय सेवा का परित्याग कर वृन्दावन आ गये थे। वहाँ पर उन्होंने राधावल्लभीय विरक्त संत बालकृष्ण स्वामी से मंत्र–दीक्षा ली और वे भक्ति–साधना एवं धर्म–प्रचार में लग गये थे। उनका मूल नाम चंद्र जू था किंतु सखी भाव के उपासक होने पर वे 'चंदसखी' नाम प्रसिद्ध हुए थे।

श्री बालकृष्ण स्वामी के संरक्षण में रास–अभिनेताओं की एक रास मण्डली थी। वे उसके साथ विभिन्न स्थानों में रासलीला–नुकरण का आयोजन करते थे और उसके द्वारा रसोपासना एवं रस भक्ति का प्रचार किया करते थे। उन्होंने चंदसखी को भी इसी प्रकार से धार्मिक कार्य करने का आदेश दिया फलतः उन्होंने उत्साही भक्त–कलाकारों की एक रासमण्डली का गठन किया और उसे लेकर देशाटन करने को चल दिये। वे ब्रजमण्डल के साथ–साथ राजस्थान, बुंदेलखण्ड एवं मालवा आदि राज्यों के अनेक स्थानों में गये और वहाँ पर उन्होंने रासलीलानुकरण के सफल कार्यक्रम प्रस्तुत किये थे।

रासलीलाओं के निमित्त उन्होंने भक्तिपूर्ण पदों की रचना की और साथ ही उन्होंने लोकप्रिय धुनों में भजनों एवं गीतों को भी रचा था। लीलानुकरण में उक्त पदों एवं भजन–गीतादि का गायन होने से उन्होंने रास के माध्यम से भक्ति–प्रचार के कार्य में अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त की थी। वे अपनी रचनाओं में अपने नाम के साथ बालकृष्ण स्वामी का नाम भी कवि–छाप के रूप में रखते थे; जो प्रायः चंदसखी भजि बालकृष्ण छवि' की शब्दावली के रूप में होता था।

रासमंच पर लीलानुकरण के लिए शास्त्रीय पदों के साथ–साथ जो लोकधर्मी भजन–गीतादि का गायन होता है, उसका श्रेय चंदसखीजी को ही है। उनके अनेक पद एवं भजन–गीत रासमंच पर प्रदर्शित की जाने वाली लीलाओं में प्रयुक्त होते रहे हैं। उदाहरण के

लिए श्रीकृष्ण–जन्म लीला, पलना–झूलन लीला, श्रीकृष्ण की बाल लीला, माखन–चोरी लीला, वंशी लीला, दान लीला, मान लीला, गोरे ग्वाल लीला आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है।

यहाँ पर पहले चंदसखी के कतिपय पदों को और फिर उनके लोक साहित्य सम्बन्धी कुछ भजनों एवं गीतों को उदाहरणार्थ दिया जाता है–

श्रीकृष्ण-जन्म लीला–

१. **आजु बधाई बाजत माई।**
जनम लियौ जसुमति रानी घर, मोहन स्यामसुंदर सुखदाई॥
फूले नंद–उपनँद गोप सब, मिलत परस्पर देत बधाई।
पहिरावत ब्रजराज सबन कों, भूषन–बसन अमोल मँगाई॥
नाँचत–गावत सब नर–नारी, अति आनँद उर में न समाई।
'चंदसखी' भजि बालकृष्ण छवि, निरखि–निरखि तहाँ बलि–बलि जाई॥

दान लीला–

२. **सुंदरि बदन कुँवरि काहू की, नित दधि बेचन आवै री।**
कबहुँक आवै दधि हि लुटावै, कबहुँक मुख लपटावै री॥
कबहुँक मुरली छीन लेत है, कबहुँक आपु बजावै री।
'चंदसखी' भजि बालकृष्ण छवि, यह लीला मोय भावै री॥

चंदसखी का लोकसाहित्य उनके पदों की अपेक्षा अत्यधिक परिमाण में उपलब्ध है; जो उत्तर भारत के कई राज्यों में फैला हुआ है। इस पर उक्त राज्यों की क्षेत्रीय बोली–भाषाओं का भी प्रभाव है; अतः इसमें पर्याप्त पाठ–भेद मिलता है। यहाँ पर इसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

श्रीकृष्ण-जन्म लीला–

१. **अनोखौ जायौ ललना, मैं वेदन में सुनि आई।**
मथुरा में जानैं जनम लियौ है, गोकुल झूलै पलना॥ मैं वेदन०
लै वसुदेव चले गोकुल कूँ, मारग दै गई जमुना।
करि सिंगार पूतना आई, पलना तें लै लियौ ललना॥ मैं वेदन०

रतन जटित कौ बन्यौ पालनौ, रेसम के लागे फूंदना।
'चंदसखी' भज बालकृष्ण छवि, या कौ घर–घर खेलै ललना॥
मैं वेदन में सुनि आई॥

बाल लीला–

२. नाँचै नँदलाल, नचावै बाकी मैया।
रुनक–झुनक पाँय नेवर बाजैं, ठुमुक ठुमुक पाँय धरत कन्हैया॥
दूध न पीवै कान्हा, दहीए न खावै, माखन–मिश्री कौ बड़ौ री खवैया।
पाट–पटंवर कान्हा ओढ़ न जानै, कारी कमरिया कौ बड़ौ री ओढ़ैया।
वृन्दावन में रास रच्यौ है, सहस गोपिन में नाँचै एक कन्हैया।
'चंदसखी' भजि बालकृष्ण छवि, चरन कमल की मैं लेउँ री वलैया॥

वंशी-चोरी लीला–

३. श्रीकृष्ण वचन–
श्री राधेरानी! दै डारो ना, बाँसुरी मोरी।
जा वंसी में मेरे प्रान बसत हैं, सो वंसी गई चोरी॥ श्री राधे०

सखी वचन–
सौने की नाँहीं कान्हा!, रूपे की नाँहीं,
हरे बाँस की पोरी॥

श्रीकृष्ण वचन–
काहे तैं गाऊँ राधे, काहे तैं बजाऊ,
काहे तै लाऊँ गैया घेरी।

सखी वचन–
मुख तैं गाओ कान्हा!, ताल सों बजाओ;
लकुट तैं लाओ गैया घेरी॥

समाजी वचन–
'चंदसखी' भजि बालकृष्ण छवि,
हरि चरनन की चेरी॥ श्री राधे०

२०. वृन्दावन देव जी (सं० १७२०-सं०१७९७)—वे निम्बार्क सम्प्रदाय के सुविख्यात आचार्य होने के साथ–साथ उच्चकोटि के भक्त–कवि और संगीताचार्य थे। उनके द्वारा रचे हुए ग्रन्थों में 'गीतामृत गंगा' सर्वोत्कृष्ट है। इसमें ब्रजभाषा में रचे हुए उनके पदों का संकलन है। पदों में श्रीराधा–कृष्ण की ब्रज–लीलाओं के साथ ही साथ उनकी निकुंज लीलाओं का भी कथन किया गया है। निम्बार्कीय रास मण्डलियाँ इन पदों का उपयोग लीला–प्रदर्शन के अवसर पर करती हैं। 'गीतामृत गंगा' में चतुर्दश 'घाट' (अध्याय) हैं। तृतीय 'घाट' में वर्णित 'दान लीला' का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है–

समाजी-वचन–

गोरस–दान अनूप सुख, लेत बिहारीलाल।
यह लीला बरनन सुनो, होत जु रसिक निहाल॥
निकसी दधि–वेचन गोप–बधू, इत बाट में दानी द्वै बैठे कन्हाई।
बाँधि कै च्यौंतर मंडप छाइ, छपाइ जगाति की ठौर बनाई॥
इततें जितही–तितही तरुनीनि, सु ढूलनि–ढूलनि दीनी दिखाई।
'वृन्दावन' प्रभु सैन दंई, मधुमंगल दीनी ब्रजेस दुहाई॥

सखा-वचन–

सुनो को हौ री तुम, जाति चली हो।
दान दै जाहु न गोरस कौ, सु जुरी जु मिली दस–बीस अली हो॥

सखी-वचन–

काके तुम, को हौ, कस बाती, कब तें भए जगाती?
ऐसै कहा डराये डरि हैं, हम पै तिहारी कछु थाती?

सखा-वचन–

आजु दान दिये बिनु जान न पैहौ।
कै तुम्हें जान जु दैहों तबै, हमारो मन–भावति औल जु दैहौ॥

सखी-वचन–

आजु यौं रस में सब गोरस लीजै।

हमारौ तिहारौ कछू दोइ नहीं;

सखनि हूँ प्याइकै, आपु हू पीजै।

समाजी-वचन—

टेंट किये रस बैंठहि टूटत, जाउ सबै किन राई न दीजै।

'वृन्दावन' प्रभु मीत लँगोटिया, आगै कछू चतुराई न कीजै॥[1]

२३. देवीदास (विद्यमानता १८वीं शती पूर्वार्द्ध)—इस नाम के कई कवि हुए हैं, जिनमें से कुछ तो प्रायः समकालीन थे। उनमें एक देवीदास सनाढ्य जाति का ब्राह्मण और अर्गलपुर का निवासी था। उसने रावत अनूपराम के आश्रय में 'श्री अनूप कृष्ण चंद्रिका' की रचना सं० १७३१, माघ शु० १३ गुरुवार को की थी।[2] दूसरा देवीदास जाति का कायस्थ था। उसने 'राजनीति के कवित्त' लिखे थे।[3] तीसरा देवीदास बुंदेलखण्डी था और वह करौली के राजा रतनपाल सिंह का आश्रित कवि था। उसका रचनाकाल सं० १७४२ है। उसने 'दामोदर लीला' और 'प्रेम-रत्नाकर' नामक ग्रन्थों की रचना की थी।[4] इस कवि का विशेष वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है; किन्तु इसकी 'दामोदर लीला' ब्रजभाषा साहित्य में प्रसिद्ध है।

दामोदर लीला—देवीदास की इस रचना ने पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इसकी अनेक प्रतियाँ विभिन्न स्थानों में मिलती हैं। हमने इसकी दो प्रतियाँ वृन्दावन में देखी हैं—एक गो० राधाचरणजी के पुस्तकालय में और दूसरी श्रीनन्दकिशोर मुकुट वाले के ग्रन्थ संग्रह में इसमें कुल ९६ छन्द हैं। अन्त में ग्रन्थ की फलश्रुति इस प्रकार है—

यह 'दामोदर लीला' जो कोऊ, सीखैं-सुनैं-सुनावैं।

भव-बंधन सों श्री दामोदर, बेगहिं ताहि छुड़ावैं॥९६॥

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २७८।

२. वल्लभीय सुधा, वर्ष ४ अंक २ (माघ-चैत्र सं० २००९-१०), पृष्ठ ५४।

३. मिश्रबंधु विनोद, भाग २, पृष्ठ ९४४।

४. मिश्रबंधु विनोद, भाग २, पृष्ठ ५६३।

दामोदर लीला भगवान् श्रीकृष्ण के शैशव–काल की मनोहर लीला है। उनकी नटखटी से क्षुब्ध होकर माता यशोदा उन्हें उलूखल से बाँध देती हैं। वे बँधे हुए ही शापग्रस्त मणिग्रीव और नलकूवर नामक दो यक्षों का उद्धार करते हैं। ब्रज के रासधारीगण इस लीला को रासमंच पर प्रदर्शित किया करते हैं। उनके लिए देवीदास की रचना उपयोगी हो सकती है।

२४. किशोरीदास (१८वीं शती का मध्य काल)—वे मध्य प्रदेश के ग्वालियर राज्यांतर्गत श्यौपुर के एक बड़े जागीरदार थे। औरंगजेबी अत्याचार और उसके बाद के अशान्त वातावरण के कारण ब्रज के अनेक देव–विग्रह वहाँ से हटाकर विभिन्न हिन्दू राज्यों में ले जाये गये थे। उसी काल में बरसाने की श्री लाड़िलीजी की देव–प्रतिमा भी कुछ समय तक श्यौपुर में रही थी। उस समय किशोरीदास श्री लाड़िलीजी के अनन्य भक्त होने के साथ ही साथ ब्रज के प्रति भी आकर्षित हुए थे। उसके बाद जब वे ब्रज–यात्रा को गये; तब उन्होंने चैतन्य सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया था। फिर वहाँ से वापस न आकर बरसाने में ही अन्त समय तक निवास करते रहे थे। उनके निवास–स्थल के रूप में वहाँ पर 'श्यौपुर वाली कुंज' अभी तक विद्यमान है।

उन्होंने ब्रजभाषा में बहुसंख्यक पदों की रचना की है, जो विभिन्न राग–रागिनियों में कथित हैं। ये पद उत्सवों से सम्बन्धित हैं, जिनका गायन बरसाना, नन्दगाँव और वृन्दावन के गौड़ीय मन्दिरों में होता है। इन पदों में श्रीकृष्ण का जन्मोत्सव, कृष्ण–जन्म–बधाई, ढाढ़ी–ढाढ़िनि लीला, पलना–झूलन, श्रीराधाजी का पलना, सांझी लीला, गोवर्धन लीला, दान लीला, वसंत फूलडोल, होरी आदि उत्सवों के पद हैं।

इस प्रकार के उत्सव सम्बन्धी पद वल्लभ सम्प्रदाय भक्त–कवियों ने तो अत्यधिक संख्या में रचे हैं; किन्तु चैतन्य सम्प्रदायी

कवियों में कदाचित् किशोरीदास ही पहले कवि थे, जिन्होंने ऐसे पदों की रचना इतने अधिक परिमाण में की है। बाबा कृष्णदास ने बड़े परिश्रमपूर्वक श्री किशोरीदास जी के पदों का संकलन कर उन्हें 'श्री किशोरीदास की वाणी' के नाम से प्रकाशित किया था। यहाँ पर उनके कुछ पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं–

श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव–

१. बाजत नौवति अरु सहनाई।
रानी जसुमति ढोटा जायौ, मोहन सुंदर स्याम कन्हाई॥
आनंद रंग बढ़्यौ गोकुल में, घर–घर मंगल बजत बधाई।
ब्रज–नारी झुंडन मिलि आवति, गावति प्रमुदित गीत सुहाई॥
कौरेन साँथिया चित्रित रचि–रचि, द्वारन बंदनमाल बधाई।
प्रगटे श्रीब्रजचंद्र नंद घर, 'किशोरीदास' नव निधि मनु पाई॥

श्रीकृष्ण-जन्म-बधाई–

२. बधाई बाजै, बाजै हो नंदराय दरबार।
रानी जसुमति ढोटा जायौ, गावहु मंगलचार॥
देत दान भूषन–मनि–मुक्ता, ब्रजपति परम उदार।
'किशोरीदास' ब्रजचंद्र प्रकट भए, जीवन–प्रान आधार॥

पलना-झूलन–

३. झूलौ पालने नँदनंद।
सुंदर रचि–पचि गढ़्यौ गढइया, तुमकों आनँद–कंद॥
छोटी–छोटी दंतियाँ, पीत झगुलिया हँसति–हँसति मुख मंद।
'किशोरीदास' तन–मन अति फूले देखैं श्री ब्रजचंद॥

श्रीराधा-जन्मोत्सव–

४. शुभ दिन मंगल आज।
जनम लियौ श्री राधा प्यारी, सिद्ध भये सब काज॥
धन्य कूखि कीरतिदा रानी, धन्य भानु नृपराज।
'किशोरीदास' की जीवनि प्रगटी, गये अमंगल भाज॥

हिंडोरा लीला—

५. दोऊ मिल झूलत सुरँग हिंडोरें।
जमुना तीर कदंब की छइयाँ, आवत सुगंध झकोरें॥
झूलत–झूलत आलस उपज्यौ, चले कुंज की ओरें।
करि ब्यारू परिजंक हिंडोरे, पौढ़े रसिकन–मोरें॥
सखि ललितादिक पाँय पलोटति, चंपक–बिजना ढोरें।
'किशोरदास' ब्रजचंद बिहारी, प्यारी पै डारत हैं त्रन तोरें॥

६. फूल–फूल द्रुम झुकि रहे, मधुप करत गुंजार।
बोलत कोयल रस भरी, ललित कदम की डार॥
झूम–झूम बादर रहे, बिच चपला दरसाय।
हरित भूमि ओढ़त मनों, चूनर जटित जड़ाय॥
रंग भरी छवि भरी सहचरी, पहरें रँग–रँग चीर।
गावत मृदु कल कंठ लखि, छूटत मनमथ धीर॥
चटकीलौ रतनन जटित, रचि पचि रह्यौ हिंडोर।
झूलत प्यारी राधिका, झुलवत नंदकिसोर॥
झूलनि प्यारी की सरस, बरनत बनै न बैन।
नैंना के बैना नहीं, नहीं बैन के नैन॥

२५. नवल सखी (विद्यमानता १८वीं शती का उत्तरार्द्ध)— वे ब्रज के करहला ग्राम निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका मूल नाम नवलकिशोर था। उन्होने राधावल्लभीय गो० ब्रजलालजी (जन्म सं० १७१५) से मन्त्र–दीक्षा ली थी। फिर वे 'नवल सखी' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उन्हें रासानुकरण से बड़ा प्रेम था। वे स्वयं भी श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में नृत्य किया करते थे। वृन्दावन में उनका निवास सेवाकुंज के समीप था। अपने अन्तिम दिनों में वे बरसाना चले गये थे। वहाँ वे नेही नागरीदासजी की मोरकुटी और गह्वर वन की लता–कुंजों में भक्ति–साधना किया करते थे। उनके रचे हुए कुछ पद इस प्रकार हैं—

श्रीराधा-जन्म लीला—

१. आजु अति सुख बरसत बरसाने।

घर–घर मंगलचार बधाई; बाजत सकल भुवाने॥
राधा जू कौ जन्म सुनत, अति फूले महर महराने।
नंदराइ वृषभानु मिले हँसि, मिलत कछू मुसिकाने॥
गोपी–ग्वाल गोप सब आये, महा रंग लपटाने।
नाँचत–गावत करत कुलाहल, फूले अंग न समाने॥
अति गोदान हेत विप्रनि कों, देत महा उमगाने।
महा दान देवे कों दोऊ, राजत हैं, ब्रजराने॥
पहिराये बहु भाँति गुनीजन, लाल–पीत रंग बाने।
नंद–सुवन वृषभानु–सुता के, गुन बरनत न अघाने॥
रस गोरस की कीच मची अति, दधि के माट ढुराने।
'नवलसखी' ललितादिक फूली, गावत घोष निदाने॥

श्रीराधा-कृष्ण लीला—

२. रंग भरे लाल, रंगीली प्यारी राधा।

एक तन, एक मन, एकइ समान दोउ, नैंकहु न न्यारे ह्वै सकति पल धाया॥
छबि सों छबि भली भांति नैन तें मुसकति, मुसकनि में रंग बढ्यौ है अगाधा।
जैसेहिं 'नवल सखी' तैसेहिं कुंजविहारी' तैसै मेरी प्रानप्यारी पूजी मन–साधा॥

२६. नागरीदासजी (सं० १७५६-सं० १८२१)—उनका मूल नाम सावंतसिंह था और वे कृष्णगढ़ के राजा थे। बाद में वे नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका जन्म सं० १७५६ की पौष कृ० १२ को कृष्णगढ़ राज्य की तत्कालीन राजधानी रूप नगर में हुआ था। उनकी पत्नी भानगढ़ की राजकुमारी लाल कुँवरि थी और उनके पुत्र का नाम सरदार सिंह था, जो कालान्तर में कृष्णगढ़ का राजा हुआ था।

सावंतसिंह के पिता राजसिंह भक्त–कवि थे और उनकी माता चतुरकुँवरि एवं विमाता वांकावती भक्त–कवयित्रियाँ थीं। घर के उस भक्ति–काव्यात्मक वातावरण के कारण वे अपनी युवावस्था में ही भक्ति–साधना एवं काव्य–रचना करने में तल्लीन हो गये थे। राज्य शासन और घर–गृहस्थी के कार्यों में उन्हें कोई रुचि नहीं थी। वे उन झंझटों से मुक्त होकर ब्रज–वास करने को लालायित रहते थे। सं० १८०९ में वे अपने पुत्र सरदार सिंह को राज्यासीन कर आप स्थायी रूप से ब्रज–वास करने को चल दिये और वृन्दावन में 'कृष्णगढ़ राज्य की कुंज' को उन्होंने अपना आवास–गृह बनाया। वहाँ वे उपासना–भक्ति और काव्य–रचना करते हुए अपने अन्तिम काल तक रहे थे। उनका देहावसान ६५ वर्ष की आयु में सं० १८२१ की भाद्रपद शुक्ला ३ को हुआ था।

नागरीदास के नाम से कई महात्मा, रसिकजन और भक्त–कवि हुए; किन्तु उन सबमें यही महानुभाव सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

जब उन्होंने अपनी राजधानी से ब्रज–वास करने को प्रस्थान किया; तब किसी पारिवारिक व्यक्ति अथवा परिचारक को अपने साथ नहीं लिया था। वे नितान्त अकेले भक्ति–साधना करना चाहते थे। किन्तु उनकी एक पासवान (दासी) 'बनी–ठनी' बड़े आग्रहपूर्वक उनके साथ रहने को आई थी। वह एक धर्म–प्राण सेवा–भावी महिला थी। उसने जीवनपर्यन्त बड़ी श्रद्धापूर्वक नागरीदासजी की सेवा की थी।

ब्रज–वास करते समय उनके रहन–सहन में राजसी ठाट–बाट लेश मात्र भी नहीं था। वे एक भिक्षुक की भाँति अकिंचन भाव से रहा करते थे और भगवद्–भजन, साधु–सेवा, सत्संग तथा भक्ति–काव्य की रचना करने में सदैव तल्लीन रहते थे। उन्होंने बहु संख्यक ग्रन्थों की रचना की थी। उनके रचे हुए छोटे–बड़े ग्रन्थों की संख्या ७६ है; जिनका संकलन बहुत पहले 'नागर–समुच्चय' के

नाम से प्रकाशित हुआ था। इन ७६ ग्रन्थों में से २२ ग्रन्थों में रचना काल का भी उल्लेख मिलता है, जो सं० १७८० से सं० १८१९ तक है। सं० १७८० की कृति 'मनोरथ मंज़री' है और सं० १८१९ की रचना 'ब्रज जन प्रशंसा' है। 'नागर–समुच्चय' पर्याप्त समय से अप्राप्य था; अतः नागरीदासजी की रचनाएँ दुर्लभ हो गई थीं। किन्तु इधर उनकी ५७ छोटी–बड़ी रचनाओं का सुसम्पादित संस्करण वृन्दावन से प्रकाशित 'श्री सर्वेश्वर' के विशेषांक 'श्री नागरीदास वाणी–अंक' के रूप में निकला है। नागरीदासजी की रचनाएँ ब्रजभाषा भक्ति–साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

नागरीदासजी की रचनाओं में श्री श्यामा–श्याम की विविध लीलाओं का सरस वर्णन है। इनमें 'रास' से सम्बन्धित रचनाएँ इस प्रकार हैं—रास–रस लता, रस के कवित्त, रास–अनुक्रम के कवित्त और रास–अनुक्रम के दोहे। इनके अतिरिक्त जो लीला सम्बन्धी अन्य रचनाएँ हैं, उनका उपयोग रासधारी गण लीला–प्रदर्शन में करते रहे हैं। यहाँ उनके कतिपय छन्दों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव—

१. सुत होत जसुदा के आनंद उदौत भयौ,
नंद हू के आनंद उठ्यौ है उफनाय कै।
'नागर' सु गोप–गोपी आनंद भरी हैं गावैं,
बन मोर–मृग रहे आनंद लुभाय कै॥
ब्रजभूमि जमुना गोबर्धन श्री वृन्दावन,
सोभा देत आनँद में आनद समाय कै।
स्याम सुख–धाम अभिराम काम हरैं मन,
रूप धरैं आनँद प्रगट भयौ आय कै॥

२. सुंदर साँवरौ बालक होत, नचे सब 'नागर' रंग रचाये।
जे जन जाचक, ते उठि नाचत, देत वे लेत नाँबे ललचाये॥

नाँचत गोपिका–गोप भरे, हरदी–दधि–दूध तें खेल मचाये।
गाये बधाये जसोमति पै मिलि, आँगन में गहि नँद नँचाये॥

रास-लीला–

३. क्रीड़त रसिक रास रस रंगे।
प्रफुलित विपिन बहत मलयानिल, उदयति ससी सवंगे॥
सरद विमल राका निज सुख कृत, कल रव वेणु तृभंगे।
रासारंभ व्यौम धुनि पूरित, मुहवर–मुरज–मृदंगे॥
गौर श्याम भुज ग्रीव मेलि, रचि पद संगीत सुधंगे।
अंदोलित अलकावलि कुंडल, गुनि मुक्तावलि भंगे॥
रसानंद आवेश विवश पट, नीबी शिथिल सु अंगे।
रूढ विमान अमर प्रेमातुर, मूर्च्छित अवनि अनंगे॥
श्री वृंदावन राधा–मोहन, केलि कलप बहु संगे।
'नागरिया' गोलोक अखंडित, कथन कथा शुक भृंगे॥

४. निर्तत हैं व्रज–वामा। सुंदर छवि अभिरामा।
दामिनि तन दुति राजैं। मुख कुंडल थहरनि भ्राजैं॥
थहरत कुंडल फहरत अंचल, नहिं ठहरत उरमाला।
खूटत बैंनी छूटत फूल सु, पिय मन लूटत बाला॥
सरस संगीत निघट तन उघटत, तत् तरंग तक्किट कटि लौंनी।
तततेई थेई थेई धुमकट तकथौ, परननि परत सुठौंनी॥
झंझं झनकत किंकिनि नूपुर, खनकत बलया कंकन।
उरप–तिरप नट अलग लाग में, लेत भुजन भरि अंकन॥
चंचल तन चलदल गत बिंलुलिंत, दुति अलात–सी सोहैं।
'नागरीदास' सुघर निर्तक सब, गुन प्रकटत मन मोहैं॥

५. दीनैं गरबहियाँ गति लेत डोलैं मंडल में, बोलैं ततथेई मुख रूप ललकैं॥
ह्वै गये विवश मन श्रमित भये री तन, खिसै फूल शीश तैं शिथिल भई अलकैं॥
इत किंकिनी छूटी लोल हार, कुंडल कपोल झाँई झलकैं।
'नागरीदास' राधा–मोहन नँचत देखि, भूली सखी गान–तान लागत न पलकैं॥

रासलीलानुकरण में नागरीदासजी की रचनाओं के उपयोग के विषय में डॉ० वसंत यामदग्नि ने लिखा है–'रास मंच की गोरे ग्वाल लीला, परस्पर मान लीला, पनघट लीला, वंशी चोरी लीला, स्याम–सगाई लीला, दानलीला, राजवैद्य लीला, चंद्रावलि लीला आदि में नागरीदासजी के स्फुट पदों तथा कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग होता देखा गया है। सांझी लीला के संवाद तो प्रायः रासमण्डलियों में उनके कवित्तों के आधार पर ही नियोजित होते हैं।[१] उनकी कुछ रचनाओं से ऐसा आभास होता है कि उन्हें रासमंचीय प्रदर्शन के उद्देश्य से ही रचा गया था।

२७. ब्रजवासीदास (सं० १७६०–सं० १८२०)—वे भक्त–कवि होने के साथ ही साथ नाटककार एवं लीला–रचनाकार भी थे। उनका प्रसिद्ध नाटक 'प्रबन्ध चंद्रोदय' है और उनका लीला सम्बन्धी विख्यात ग्रन्थ 'ब्रज विलास' है, जिसका रचनाकाल सं० १८०९ है। यह एक प्रबन्ध काव्य है, जिसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर उनकी समस्त ब्रज लीलाओं के साथ मथुरा लीलाओं का भी क्रमबद्ध कथन किया गया है। इसके लिए कवि ने अष्टछापी कीर्तनकारों, विशेषतया महात्मा सूरदास की उक्तियों का भरपूर उपयोग किया है। सूरदासजी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है–

यामें कछुक बुद्धि नहीं मेरी।
उक्ति–जुक्ति सब सूरहिं केरी॥

'ब्रज विलास' की रचना गो० तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' की भाँति दोहा–चौपाई छन्दों में हुई है और जहाँ–तहाँ 'मानस' की शब्दावली का उपयोग भी इसमें किया गया है। इस प्रकार सूरदास और तुलसीदास जैसे महाकवियों की कृतियों पर आधारित होने के कारण 'ब्रज विलास' में मौलिकता का अभाव है। किन्तु इनकी रचना–शैली अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य है। इसका

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २९७।

प्रकाशन किया जा चुका है।

इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि गेय प्रबन्ध–काव्य की भाँति इसका पठन–पाठन एवं गायन भी होता है और लीला–नाटक के रूप में इसके आधार पर अभिनय भी किया जाता है। इसमें श्रीकृष्ण की जिन लीलाओं का कथन है, वे इस प्रकार हैं–

१. पूतना–वध, २. कागासुर–वध, ३. तृणावर्त–वध, ४. अन्नप्राशन, ५. नामकरण, ६. वर्षगाँठ, ७. ब्राह्मण–लीला, ८. कर्ण–छेदन, ९. माटी–भक्षण, १०. शालिग्राम–लीला, ११. ब्राह्मण–लीला, १२. माखन चोरी, १३. दांबरी बंधन, १४. वृन्दावन–गमन, १५. वत्सासुर–वध, १६. धेनु–दुहुन, १७. मोती पोवन–लीला, १८. बकासुर–वध, १९. चकई–भौंरा खेलन, २०. राधा प्रथम–मिलन, २१. अघासुर–वध, २२. ब्रह्मा–मोह, २३. गोदोहन, २४. धेनुक वध, २५. कालीय–दमन, २६. दावानल–पान, २७. प्रलम्बासुर–वध, २८. पनघट–लीला, २९. चीरहरण–लीला, ३०. गोवर्धन लीला, ३१. वरुण द्वारा नंद–हरण, ३२. वैकुण्ठ–दर्शन, ३३. दान–लीला, ३४. गोपी–प्रेम, ३५. स्नान–लीला, ३६. बाट में मिलन, ३७. संकेत मिलन, ३८. प्यारी के घर मिलन, ३९. नैन–अनुराग, ४०. मुरली–वादन, ४१. रास–लीला, ४२. अंतर्धान–लीला, ४३. महामंगल–रास, ४४. मान–लीला, ४५. हिंडोरा–लीला, ४६. फागुन–होरी, ४७. सुदर्शन–शाप–मोचन, ४८. शंखचूड़ वध, ४९. वृषभासुर–वध, ५०. केशी–वध, ५१. व्योमासुर–वध, ५२. मथुरा–गमन, ५३. रजक–वध, ५४. मल्लयुद्ध, ५५. कंस–वध, ५६. वसुदेव गृह–उत्सव, ५७. कुब्जा गृह–गमन, ५८. नंद–विदा, ५९. यज्ञोपवीत और ६०. उद्धव–गोपी संवाद।

ब्रजवासीदास के समय तक रासलीलानुकरण का व्यापक प्रचार हो गया था। तब रासधारीगण लीलाओं के अभिनय में नाटकीयता का अधिक प्रयोग करने लगे थे। उसके लिए 'ब्रज–विलास'

बड़ा उपयोगी ग्रन्थ सिद्ध हुआ था।

२८. वंशी अलिजी (सं० १७६४-सं० १८२२)—उनके पूर्वज नारायण मिश्र का मूल निवास–स्थान लाहौर था; किन्तु बाद में वे मथुरा आकर बस गये थे। उनकी नवीं पीढ़ी में वंशीधरजी हुए, जो अपनी सखी–भाव की उपासना के कारण 'वंशी अलि' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वे उच्चकोटि के विद्वान और सुकवि थे। उन्होंने संस्कृत एवं ब्रजभाषा में कई ग्रन्थों की रचना की थी। उनके द्वारा स्थापित भक्ति सम्प्रदाय 'ललित सम्प्रदाय' कहलाता है।

श्री वंशी अलि जी के सम्प्रदाय में राधाजी को अतिशय मान्यता दी गई है। उनके मतानुसार श्री राधाजी ही 'ब्रह्म' हैं, वे ही पराशक्ति हैं और सच्चिदानन्दरूपिणी हैं। श्रीकृष्ण उनके अनन्य भक्त एवं आधीन हैं। वे कृष्ण सहित सभी भक्तों की ईश्वरी परात्पर रूपा हैं। उनकी भक्ति ललिता के चरण–कमलों के आश्रय से ही सुलभ हो सकती हैं। अन्य भक्ति–सम्प्रदायों में श्रीराधा को श्रीकृष्ण की 'आह्लादिनी शक्ति' बतलाया गया है; किन्तु वंशी अलि जी के मतानुसार वह शक्ति श्रीराधाजी का एक अंश मात्र है और वह आराधिका इसी नाम की एक अन्य गोपी है। (श्री राधा तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ १२) इस प्रकार वंशी अलिजी की श्रीराधाजी सम्बन्धी मान्यता अन्य सभी भक्ति–सम्प्रदायों से भिन्न एवं विलक्षण हैं।

श्री वंशी अलिजी का रास सम्बन्धी ब्रजभाषा ग्रन्थ 'श्री राधिका महारास' है। इसमें श्रीकृष्ण को पूर्णतया अनुपस्थित कर रास को श्रीराधाजी और उनकी ललिता सखी द्वारा ही सम्पन्न कराया गया है। उदाहरणार्थ, उनका एक पद प्रस्तुत है, जिसमें राधाजी को अपनी सखी ललिता के साथ रास–नृत्य करते हुए बतलाया गया है। इस पद की रचना–शैली सुन्दर होते हुए भी आलम्बन, हाव–भाव, संचारी आदि के विभेद से इसमें शृंगार रस ही नहीं बन सका है—

सजनी दोऊ नृत्य करैं।
गरवाहीं मुख जोरि कुँवरि, ललिता थेई–थेई उच्चारैं॥
एकहि पट सिर ऊपर लीयें, मुख दुराइ दोउ खोलै।
अरस–परस करि परसि चिबुक, दोउ दृग मिलाय मधु बोलैं॥
सम्मुख ह्वै नूपुरनि बजावत, बिच–बिच चलनि छबीली।
नौंकनि दृग रोकनि भृकुटी की, मुरनि ग्रीव तिरछीली॥
मुसकि जानि कर छ्वै आलिंगन, झिझकन चित आकरषै।
उरप–तिरप की लैन छबीली, 'बंशी' दृग सुख बरषै॥

२९. कृष्णजीवन लछीराम—वह वल्लभ सम्प्रदायी रसिक भक्त और लोकप्रिय कवि–गायक था। उसके रचे हुए कीर्तन के पद और लोकगीत उपलब्ध हैं; किन्तु उसका प्रामाणिक जीवन–वृत्त और निश्चित उपस्थिति काल प्राप्त नहीं हैं। डॉ० वसंत यामदग्नि ने उसे गो० श्री गोकुलनाथजी का शिष्य बतलाया है।[१] इस प्रकार वह १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान होना चाहिए। उन्होंने अपने कथन के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया है। हमारी दृष्टि में गो० गोकुलनाथजी के जितने शिष्यों का जीवन–वृत्त और कृतित्व आया है, उनमें कृष्णजीवन लछीराम नहीं हैं। अतएव हमें डॉ० यामदग्नि का कथन संदिग्ध जान पड़ता है। उन्होंने इस भक्त–कवि के कीर्तन विषयक प्रामाणिक पदों को उद्धृत न कर लोक में प्रचलित गीतों को ही प्रस्तुत किया है।

कृष्णजीवन लछीराम ने जिन पदों एवं लोकगीतों की रचना की है, वे श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं से सम्बन्धित हैं। उनमें से कुछ रासमंचोपयोगी भी हैं। यहाँ पर पहले उनके तत्सम्बन्धी कुछ पद और फिर लोकगीत प्रस्तुत किये जाते हैं—

छठी–पूजन लीला—

१. गोद लिए गोपाल जसोदा, पूजत छठी मुदित मन प्यारी।
बडरे वार सनेह चुचाते, चूँवति मुख दै–दै चुचकारी॥

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ २८४।

कुल–देवता मनाय सबन कूँ, बरन–बरन पहिरावति सारी।
गोपी–ग्वाल हरखि गोकुल के, नाचत–गावत दै–दै तारी॥
कंचन–थार आरती सजि–सजि, लै आईं सब ब्रज की नारी।
'लछीराम' वारी लालन पर, हरखि नंद दई नवनिधि टारी॥[1]

शैशव लीला–

२. हौं भोरी, मेरौ कान्ह अयानौ।
याहीं तें लाल खीजति हौं तुम सों, दूध कों गई तौलौं माट ढुरानौ॥
कौन उपाय करौं मेरी सजनी, मंदिर में सब दधि बिखरानौ।
बोलि लिये सब सखा संग के, पीबौ रे बाल! नंदलाल कमानौ॥
दौरि उठाय लिये आंकौं भरि, निरखि नैन मोहन मुसिकानौ।
'कृष्णजीवन लछीराम' के प्रभु माई, ब्रज–जुवतनि कौ हियौ सिरानौ॥[2]

दान लीला–

३. दानहिं दान भई नकबानी।
इहिं व्यौहार छाँड़ि देउ लालन, दही–मही के भए कहा दानी।
करहिं नफा कों, होत हानि, सोई सोनो जाहु जातें टूटें कानी।
'कृष्णजीवन लछीराम के प्रभु, तुम व्यौसाइयों तैसौ, जैसौ हम व्यौसानी॥[3]

४. मैं गूजरि बरसाने की, मोहन मारग रोक्यौ आन॥
पाँच टका की कामर ओढ़ै, तापै इतनौ गुमान।
गैया चरावत नंद बाबा की, माँगत दधि कौ दान॥
रतन जटित मेरी ईंडुरिया रे, हीरा जड़े अमोल।
एक हीरा गिर जाइ, तौ तेरी सब गैयन कौ मोल॥
'कृष्णजीवन लछीराम' के प्रभु, प्यारे चरन–कमल चित लाय।
नैंक चितै बलि जाऊँ साँवरे, मन चाहौ दधि खाय॥[4]

---

१. कीर्तन–संग्रह, भाग १, पृष्ठ १०० पद ४।
२. कीर्तन–संग्रह, भाग १, पृष्ठ १५६ पद १३।
३. कीर्तन–संग्रह, भाग १, पृष्ठ २१७ पद १।
४. कीर्तन–कुसुमाकर, पृष्ठ १२९।

होरी लीला–

५. खेलन आये नंदगाँम तें, रँगभीने बरसाने।
मृगमद–रंग अरगजा–चोबा नर–नारी सब साने॥
बिन काजर कजरारी अँखियाँ, चढ़ी मदन खरसाने।
'कृष्णजीवन लछीराम' के प्रभु प्यारे जी थरथर थरसाने॥[१]

६. आयौ है फागुन मास कहै सब होरी–होरा।
एक ओर वृषभान–नंदिनी, दूजे ओर हरि–हलधर कौ जोरा॥
ब्रजनारी गारी देवें, कोउ भजि–भजि आवत तजि तजि खोरा।
जान न पावै गहौ री स्याम कों, सबै धरो जोबन कौ तोरा॥
रहि न सकौ कोऊ अपने घर, मनौ काम कौ फिरौ है ढिंढोरा।
'कृष्णजीवन लछीराम' के प्रभु सों होत है झकझोरी झकझोरा॥[२]

७. कान्ह तोहि ऐसी मति कौन दई।
देखि पराई नारि सलौनी, होरी करत नई।
डार गुलाल आँज आंखन में, भुज भर अंक लई॥
केसर की पिचकारि मार कें, बहियाँ पकरि लई।
'कृष्णजीवन' अबला की यह गति, देखी कहुं न भई॥[३]

८. भली भई होरी आई, घर आए घनश्याम।
लोग कहैं टौना पढ़ि डारौ, ए राधा कौ काम॥
धन तेरौ भाग सुहाग भागवती, और न दूजी वाम।
'कृष्णजीवन लछीराम' की इच्छा, पूजिऐ वेग हि स्याम॥[४]

डॉ० वसंत यामदग्नि ने कृष्णजीवन लछीराम के एक लोकगीत को प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है–

नींद तोहि बेचूंगी आली, जो कोऊ गाहक होय।
आये मोहन फिरि गये अँगना, मैं बैरिनि रही सोय॥

---

१. संगीत राग कल्पद्रुम, भाग २, पृष्ठ २४७।
२. संगीत राग कल्पद्रुम, भाग २, पृष्ठ २७२।
३. संगीत राग कल्पद्रुम, भाग २, पृष्ठ २९३।
४ संगीत राग कल्पद्रुम, भाग २, पृष्ठ २९६।

कहा करूँ कछु बस ना मेरौ, आयौ धन दियौ खोय।
'लछीराम' प्रभु अबकै मिलें तौ, राखोंगी नयन समोय॥[१]

यह एक प्रसिद्ध लोकगीत है, जिसे ब्रज के रासधारी पं० रामस्वरूप शर्मा प्रायः गाया करते हैं। डॉ० यामदग्नि ने इस गीत को 'मानवती' से सम्बन्धित लिखा है, जो ठीक नहीं है। इस गीत की नायिका 'कलहांतरिता' है, जो पहले अपने प्रियतम से मान करती है और फिर पछताती है। डॉ० यामदग्नि ने कृष्णजीवन लछीराम की रचनाओं की रासमंचीय उपयोगिता के सम्बन्ध में लिखा है–''लोक–धुनों में निबद्ध इनकी कतिपय रचनाएँ रासमंचीय 'दान लीला' की श्रृंगार हैं। इनके कुछ 'पद' तो रासलीलाओं की कथा–वस्तु विषयक मंचीय आवश्यकता को देखकर ही लिखे हुए जान पड़ते हैं। इसके समर्थन में उन्होंने 'गोरे ग्वाल लीला' का निम्नांकित पद उद्धृत किया है–

कौन फिरत या विपिन राज में, राधे–राधे कहि टेरत।
परम दुखित उन्मत्त भाव में, चहुँ दिसि चकित तुषातुर हेरत।।
सत्य कहो प्रिय सखा कौन हो, क्यों तुम नैंननि आँसू गेरत।
'कृष्ण जीवनी' कहा लगत है, जिनके जस की माला फेरत।।[२]

ब्रजभाषा साहित्य में लछीराम नामक एक कवि एवं नाटककार का उल्लेख मिलता है। वह यमुना तटवर्ती मई गाँव के निवासी कल्याणराय का पुत्र और कवीन्द्राचार्य सरस्वती का शिष्य था। उसने विविध विषयों के कई ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें 'करुणाभरण' और 'ज्ञानानन्द' नामक दो नाटक भी हैं। वस्तुतः उसकी साहित्यिक प्रसिद्धि नाटककार के रूप में ही है और 'करुणाभरण' ब्रजभाषा के आरम्भिक नाटकों में माना जाता है। इसका रचना–काल सं० १७४३ से सं० १७४६ तक है। इस नाटक के रचयिता ने नृत्य–नाट्य

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, २८४।
२. वही, पृष्ठ २८४।

निपुण कलाकारों द्वारा इसे नाट्य मंच पर समारोहपूर्वक प्रदर्शित भी कराया था। यह इसके विषय में एक उल्लेखनीय बात है; जो इस नाटक की पुष्पिका से ज्ञात से होती है–

> **रसिक भगत, पंडित–कविन, कही महा फल लेउ।**
> **नाटक 'करुनाभरन' तुम, लछीराम कर देउ॥**
> **लछीराम नाटक कर्‌यौ, दीनौ गुननि पढ़ाय।**
> **भेख–रेख निर्तन–निपुन, लाए नरनि सधाय॥**
> **सुहृद मंडली जोरि तहँ, कीनों बड़ौ समाज।**
> **जो उनि नाच्यौ सौ कह्यौ, कविता में सुख–साज॥**[१]

लछीराम जिन कवीन्द्राचार्य सरस्वती का शिष्य था, वे मुगल सम्राट शाहजहाँ (शासनकाल सं० १६८४–सं० १७१६) के समकालीन थे। इससे लछीराम का उपस्थितिकाल १८वीं शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। इस प्रकार वह पूर्वोक्त 'कृष्णजीवन लछीराम' से भिन्न और उसका परवर्ती था। इस ऊहापोह से कृष्णजीवन लछीराम के व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है। अतएव उसका अनुसन्धान होना आवश्यक है।

३०. बनी-ठनी (लगभग सं० १७६५-सं० १८२२)— वह धर्म–प्राण महिला भक्तवर नागरीदासजी की दासी थी। जब नागरीदास जी राज्य–शासन और घर–गृहस्थी से विरक्त होकर वृन्दावन आये थे, तब बनी–ठनी ने भी अत्यन्त विनीत भाव से उनका अनुसरण किया था। वह छाया की तरह उनके साथ रहकर दिन–रात उनकी सेवा–परिचर्या में सक्रिय रही थी। वृन्दावन में उसने हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्य रसिकदासजी से मन्त्र–दीक्षा प्राप्त की थी। वह भक्त–हृदया होने के साथ ही साथ भक्त–कवयित्री भी थी। उसने राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा में कुछ पदों की रचना की थी, जो भक्ति–भावपूर्ण

---

१. 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' द्वितीय भाग पृष्ठ १५७ के आधार पर डॉ० सत्येन्द्र कृत 'ब्रज साहित्य का इतिहास' पृष्ठ ३७३ और ५६५ से

हैं। इनमें उसकी नाम–छाप 'रसिक विहारी' मिलती है।

नागरीदासजी के ग्रन्थों में 'पद–मुक्तावली' सबसे बड़ी रचना है। इसमें बहुसंख्यक पद, दोहे और कुछ कवित्त–सवैया छन्द हैं। इन पदों में ३० पद 'रसिक बिहारी' छाप के हैं, जो बनी–ठनी कृत ज्ञात होते हैं। उदाहरणस्वरूप एक प्रस्तुत है–

प्यारे येई गलियाँ आव।
नैनन जल सों धोय सँवारी, अछन–अछन धरि पाँव॥
व्याकुल तृषित चकोर दृगनि कों, वदन–चंद दरसाव।
'रसिक विहारी' लाल सलौने, जिन करि निठुर सुभाव॥

बनी–ठनी की रचनाओं में लीला सम्बन्धी पद भी हैं, जो रासमंचीय लीलानुकरण के उपयुक्त हैं। इनमें से एक 'हिंडोरा लीला' का पद यहाँ दिया जाता है–

हिंडोरौ हेली, रंग रह्यौ सरसाय।
झोटन में झुकि झूमि रह्यौ पिय, प्यारी जी रो रूप लुभाय॥
तन भींजै, तरुवर चुवै री, गलबहियाँ लिपटाय।
'रसिक विहारी जी' रो झूलनौ री, म्हारे मन में झोटा खाय॥

डॉ० वसंत यामदग्नि ने बनी–ठनी की रचनाओं की रास मंचीय उपयोगिता के सम्बन्ध में लिखा है–''रास मंच की 'निकुंज भाव' और 'ब्रज–भाव' दोनों प्रकार की लीलाओं में बनी–ठनी की रचनाएँ प्रयुक्त होती हैं। 'गुणीजन लीला', 'वंशी–चोरी लीला', 'परस्पर मान लीला' आदि के मंचीय अभिनय में 'रसिक विहारी' छाप के अनेक पद प्रयुक्त होते हैं। इनमें भाव की गरिमा है, वचन की चातुरी है और साथ ही भाषा का वह मार्दव भी है, जिसके आधार पर रास मंच की लीलाओं के अभिनय का सफल प्रदर्शन सहज सम्भव हो जाता है। यहाँ 'गोरे ग्वाल लीला' का प्रसंग उद्धृत है–

समाजी वचन–

करि विचार वृषभानु–दुलारी।
ग्वाल रूप धर छलन कृष्ण कों, नंदगाँव की ओर सिधारी॥

जहँ हरि अपनी गाय चरावैं, तहाँ आपु चलि आई।
देख रूप मोहे मुरलीधर, भूल गये चतुराई॥

कृष्ण–वचन–

अरे मित्र? कहा नाम तिहारौ, वास कहाँ है तेरौ?
मैं तो तोहि कबहूं नहिं देख्यौ, करत सदा ब्रज–फेरौ॥

गोरे ग्वाल वचन–

गोरे ग्वाल भानुपुर के हम, गोधन–वृंद चरावैं।
'रसिक विहारी' गाय हमारी, आई भजि कहाँ पावैं?

बनी–ठनी की प्रसाद गुणमयी इन रचनाओं में स्वाभाविकता रहती है। 'परस्पर मान लीला' में मानमोचिता राधा की स्वभावोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत है–

कान्हा रे, बँसुरिया वारे रे, तू ऐसै जिन बतराय।
यों न बोल रे, अरे घरबसे, मैं लाजन दबि गई हाय!
मैं हारी तेरे खेलन ही तें, तू सहज चल्यौ क्यों न जाय।
'रसिक विहारी' नाम पायकै, क्यों एतौ इतराय॥[1]

बनी–ठनी की रचनाओं में जो कुछ भी विशेषताएँ हैं, वे नागरीदासजी के अहर्निश सत्संग के कारण हैं। जब नागरीदासजी का निकुंज–वास हो गया, तब बनी–ठनी के हृदय पर इतना आघात हुआ कि कुछ समय बाद ही वह भी चल बसी। उसकी समाधि–वृन्दावन में बनी हुई है; जिस पर उसकी निधन–तिथि सं० १८२२ की आषाढ़ शु० १५ अंकित है।

३१. चाचा वृन्दावनदास (प्रायः सं० १७६५–सं० १८५०)– वे ब्रज के विख्यात भक्त–कवि और ब्रजभाषा के अत्यन्त समर्थ साहित्यकार थे। उनके जीवन–वृत्तान्त के निश्चित सूत्र अप्राप्य हैं; किन्तु अनुसन्धान से ज्ञात होता है कि उनका जन्म ब्रजमण्डल के किसी स्थान में सं० १७६५ के लगभग हुआ था। वे सम्भवतः गौड़

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, २८७।

ब्राह्मण थे। अपनी बाल्यावस्था में ही वे अपने माता–पिता के साथ वृन्दावन में आकर रहने लगे थे। वहीं पर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी और राधावल्लभ सम्प्रदाय के तत्कालीन आचार्य गो० रूपलालजी से मन्त्र–दीक्षा ली थी। वे श्री हितहरिवंशजी और उनके राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान थे। उन्होंने पहले गृहस्थ जीवन व्यतीत किया; फिर वे विरक्त हो गये थे। उन्होंने ब्रजमण्डल तथा राजस्थान के विविध स्थलों में अस्थायी और वृन्दावन में स्थायी रूप से निवास किया था। वे दीर्घजीवी हुए थे और प्रायः ८०–८५ वर्ष की आयु में सं० १८५० के लगभग उनका वृन्दावन में ही निधन हुआ था।

चाचा वृन्दावनदासजी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य श्रीराधा–कृष्ण की उपासना–भक्ति और उनकी लीलाओं का कथन एवं गायन करना था। उन्होंने इतने विशाल भक्ति–साहित्य की रचना की है कि यदि वह उपलब्ध न होता, तब सहसा उस पर विश्वास करना कठिन था। उनके रचे हुए छोटे–बड़े ग्रन्थों की संख्या २०० के लगभग है, जिनमें से अधिकांश वृन्दावन में सुरक्षित हैं। इनमें से थोड़े ही अभी तक मुद्रित हो सके हैं; शेष हस्त–लेखों के रूप में हैं। इनमें जहाँ षोडशी–पचीसी जैसी छोटी रचनाएँ हैं, वहाँ 'सागर नामधारी' बड़े ग्रन्थ भी हैं। ये सब उनकी अनुपम काव्य–प्रतिभा के परिचायक हैं।

ऐसी प्रसिद्धि है कि चाचाजी लिखकर काव्य–रचना नहीं करते थे। साधारण बोल–चाल की भाँति उनके मुख–स्रोत से काव्य–रचना का धारावाही प्रवाह होता रहता था। उनके संगी–साथी भक्तजन एवं अनुचर उसे निरन्तर लिखा करते थे। उनके लिपिकों में केलिदास का नाम अधिक प्रसिद्ध है। चाचाजी की जितनी रचनाएँ इस समय उपलब्ध हैं, उनमें से अधिकतर केलिदास की लिखी हुई हैं। इनमें से अनेक रचनाओं में लिपि–काल लिखा हुआ है, जो उनका रचना–काल भी है।

चाचा वृन्दावनदास की काव्य–कृतियाँ 'विशिष्ट' साहित्य तथा 'लोक' काव्य नामक उभय रूपों की हैं। उनका विशिष्ट साहित्य 'रस' और 'सिद्धान्त' की रचनाओं में विभाजित है। इसमें उपासना–भक्ति के विविध अंगों का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है। उनके लोक–काव्य में ब्रज के उत्सव–त्योहारों, मेलों–ठेलों, रीति–रिवाज, नर–नारियों एवं बालक–बालिकाओं के रुचि की बातों के साथ उनके हास–परिहास, व्यंग्य–विनोद यहाँ तक कि गालियों का भी उल्लेख मिलता है। उनका विशिष्ट साहित्य प्रायः पदों एवं छन्दों में रचा गया है; किन्तु उनका लोक–काव्य रसिया, खयाल, लावनी आदि की लोक–ध्वनियों में रचित है। इसमें लोकोक्तियों एवं कहावतों की भरमार है।

चाचाजी की कई रचनाओं में हास्य–विनोद भी पर्याप्त परिमाण में मिलता है। उनकी एक रचना 'विमुख उद्धारन वेली' सम्पूर्ण रूप में विनोदात्मक है। इसमें एक विरक्त सन्त और एक मोहमाया ग्रस्त गृहस्थ वृद्धा का रोचक संवाद है। सन्त उसे ज्ञान मार्ग का उपदेश देता है; किन्तु वृद्धा नारी–सुलभ रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के कारण सन्त की उपेक्षा ही नहीं करती, वरन् उस पर फब्तियाँ कसती है और खिल्ली उड़ाती है। उसका वह कथन स्वभावतया ही हास्यास्पद है।

चाचा वृन्दावनदास के दो बड़े ग्रन्थ 'लाड़ सागर' और 'ब्रज प्रेमानन्द सागर' ब्रज संस्कृति के विशाल कोश हैं। इनमें श्रीराधा–कृष्ण की बाल लीलाओं, उनकी दैनिक गति–विधियों, उनके सगाई–विवाह–गौने से सम्बन्धित रीति–रिवाजों और ब्रज के गोप–समाज के रहन–सहन एवं आचार–विचार आदि का विस्तारपूर्वक कथन है।

यहाँ पर यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इन ग्रन्थों की अनेक बातें राधावल्लभ सम्प्रदाय की मूल भक्ति–भावना के अनुकूल नहीं हैं। किन्तु चाचाजी एक उदार एवं युग–द्रष्टा महानुभाव थे; अतः

उन्होंने उक्त बातों का निस्संकोच वर्णन किया है।

चाचाजी द्वारा रचित बहुसंख्यक कृतियों में रासलीलानुकरण से सम्बन्धित रचनाएँ भी पर्याप्त संख्या में हैं। इनमें 'छद्म लीलाएँ' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें श्रीकृष्ण राधाजी से मिलने की उत्कण्ठा में छद्म रूप धारण कर उनके निवास–स्थान पर जाते हैं। वे कभी नव विवाहिता ब्रज बाला का, कभी चितेरिन का, कभी सुनारिन–मनिहारिन–रंगरेजिन का, कभी तमोलिन–पटविन–नाइन का और कभी बनजारा–योगी–ब्रह्मचारी आदि का वेष बनाते हैं; किन्तु प्रत्येक बार भेद खुल जाने से पहिचान लिये जाते हैं। तब दोनों प्रेम–रस में निमग्न हो जाते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में रूप–छल और वाक्–छल का जो आनन्द है, वह नाट्यात्मक लीला–रस की अभिवृद्धि करता है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने इन छद्म लीलाओं को 'लीला नाटक' कहा है। चाचा वृन्दावनदास इस प्रकार की रचना करने वालों में सर्वोपरि हैं। उनकी छद्म लीलाओं की पूरी सूची इस प्रकार है–

१. गौनेवारी–लीला, २. चितेरिन–लीला, ३. सुनारिन–लीला, ४. मनिहारी–लीला, ५. मालिन–लीला, ६. बिसातिन–लीला, ७. पटविन–लीला, ८. रंगरेजिन–लीला, ९. तमोलिन–लीला, १०. नाइन–लीला, ११. वैद्यनि–लीला, १२. मैनावरी–लीला, १३. पटविन–लीला, १४. ढाढिन–लीला, १५. वीणावारी–लीला, १६. गंधिन–लीला, १७. ब्रह्मचारी–लीला, १८. प्रथम जोगी–लीला, १९. द्वितीय जोगी–लीला, २०. तृतीय जोगी–लीला, २१. चतुर्थ जोगी–लीला, २२. पंचम जोगी–लीला, २३. षष्ठ जोगी–लीला, २४. मौनी जोगी–लीला, २५. बनजारौ–लीला, २६. साँवरी सहेली–लीला, २७. नेहरी साँवरी–लीला, २८. नारद–लीला, २९. ब्रह्मा–लीला, ३०. महादेव–लीला, ३१. शिवजोगी–लीला, ३२. जोगीश्वर–लीला, ३३. श्याम सहचरी साँझी–लीला, ३४. राधादासी साँझी–लीला, ३५. सुन्दर गौर श्याम–लीला, ३६. साँवरी साथिन–लीला,

३७. हितसन्धि साँझी–लीला, ३८. श्री प्रियाजी की रूप भुराई–लीला, ३९. श्रीप्रिया रूप–गर्वलीला और ४०. होरो विवाह–लीला।

ये सभी लीलाएँ 'रास छद्म विनोद' में प्रकाशित की जा चुकी हैं। ब्रजवासीदास कृत 'ब्रज विलास' और चाचा वृन्दावनदास कृत 'रास छद्म विनोद' लीलानुकरण के ऐसे आकर ग्रन्थ हैं, जो रास–धारियों के हृदय के हार बने हुए हैं। इनके आधार पर वे श्रीराधा–कृष्ण की बहुविध लीलाओं का अभिनयात्मक प्रदर्शन रास मंच पर बड़ी सफलतापूर्वक करते हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित 'गौनेवारी लीला' अत्यन्त लोकप्रिय है।

३२. प्रेमसखी (सं० १७८९–सं० १८६०)—वे पन्ना (म०प्र०) निवासी भक्त–कवि थे। उनका मूल नाम बक्सी हंसराज था। जब वे सखी–भाव के उपासक हो गये, तब 'प्रेम सखी' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। सर्वश्री मिश्र बन्धुओं ने उनका जन्म सं० १७८९ में होना लिखा है।[१] पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें व्यास गद्दी के महात्मा विजय सखीजी का शिष्य बतलाया है।[२] इससे ज्ञात होता है कि उन्हें शैशव काल में ही विजय सखीजी से मन्त्र दीक्षा दिलाई गयी थी। उन्होंने ४ ग्रन्थों की रचना की थी। वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं–

१. बारह मासा (सं० १८११) २. विरह विलास, ३. रास चन्द्रिका और ४. सनेह सागर।

सनेह–सागर—प्रेम सखीजी का यह सबसे बड़ा और सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। इसे स्व० लाला भगवानदीन से सम्पादित कर प्रकाशित कराया था। इसमें 'तरंग' नामक ९ अध्याय हैं, जिनकी रचना 'सार' नाम के छन्द में हुई है। भगवान् कृष्ण की विविध लीलाओं का कथन इसमें भावपूर्ण मनोरम शैली में किया गया है। इन लीलाओं का गायन रासधारीगण रासमंच पर करते हैं। इसकी

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ ६६५।

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३०७।

भाषा श्रुति–मधुर एवं परिनिष्ठित ब्रजभाषा है।

इस रचना के उदाहरणस्वरूप श्री राधिकाजी के रूप वर्णन से सम्बन्धित कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

दमकति दिपति देह दामिनी सी, चमकत चंचल नैना।
घूंघट बिच खेलत खंजन से, उड़ि–उड़ि दीठि लगै ना॥
लटकति ललित पीठ पर बेनी, बिच–बिच सुमन सँवारी।
देखै ताहि महरि सी आवत, मनहुँ भुजंगिनि कारी॥

३३. गो० पुरुषोत्तमजी (सं० १८०५ से प्रायः सं १८६०)– वे गो० विट्ठलनाथजी के षष्ठ पुत्र श्री यदुनाथजी के वंशज और वल्लभ सम्प्रदायी छठे घर के अधिपति थे। वे परम भक्त, रससिद्ध कवि और उत्कृष्ट गायक थे। उन्होंने कीर्तन सम्बन्धी पदों के साथ ही साथ लोकधुनों के भजनों तथा रसिया, खयालादि लोक–गीतों की भी रचना की थी। उनके कारण वे वल्लभ सम्प्रदाय में 'खयाल वारे' के उपनाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने रासानुकरण के उपयोगी रसिया आदि लोक–गीतों को पर्याप्त संख्या में रचा था। उनमें 'होरी लीला' के रसिया अपेक्षाकृत अधिक हैं। इन्हें सुनकर श्रोतागण मुग्ध हो जाते हैं। यहाँ पर कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं–

गोवर्धन लीला–

१. **ब्रज की तोय लाज मुकुट वारे।**
चंदा–सूरज तेरौ ध्यान धरत हैं, ध्यान धरत नौलख तारे॥
इन्द्र नें कोप कियौ ब्रज ऊपर, तब गिरिवर कर पर धारे।
'पुरुषोत्तम' प्रभु की छवि निरखत, गाय–गोप के रखवारे॥

होरी लीला–

२. **ब्रज मण्डल खेल मच्यौ भारी।**
वृन्दावन की गोरी नारी, तिनके टूटे हार फटी सारी॥
ब्रज की होरी, ब्रज की गारी, अरु ब्रज की श्रीराधा प्यारी।
'पुरुषोत्तम' प्रभु खेलें होरी, संग के सखा भरें किलकारी॥

३. डफ बाजे नंद बबा घर के।
चलौ री सखी मिलि दरसन करि हैं, छैल छगनियाँ नागर के॥
नाँचत–गावत करत कोलाहल, संग सखा हैं बराबर के।
'पुरुषोत्तम' प्रभु के संग खेलत, झख मारत घरवारन के॥

४. बन आयौ छैला होरी कौ
मल्लकाछ सिंगार धर्यौ है, जाके फेंटा सीस मरोरी कौ॥
जाके काँधे झीनौ उपरैना सोहै, जाके माथे बेंदा रोरी कौ।
'पुरुषोत्तम' प्रभु कुँवर लाड़िलौ, ये तौ रसिया है या गोरी कौ॥

३४. बाबा श्यामदास (प्रायः सं० १८६०–सं० १९३१)[१]– उनका निश्चित समय और प्रामाणिक जीवन–वृत्त अज्ञात है। ऐसा कहा जाता है कि अपने आरम्भिक जीवन में वे सलेमाबाद की निम्बार्कीय गद्दी के आचार्य निम्बार्क शरणजी (आचार्यत्व काल १८७०–१८९२) के शिष्य और मन्दिर के अधिकारी थे। बाद में विरक्त होकर वे ब्रज में आ गये और यहाँ के वनों में भजन–ध्यान करने लगे थे। अपने अन्तिम काल में वे गोवर्धन के निकटवर्ती कुसुम सरोवर के समीपस्थ वन में भजन किया करते थे। उनका देहावसान कुसुम सरोवर के निकट उनकी कुटी में सं० १९३१ में हुआ था, जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है। यह कुटी उनके नाम से 'श्याम कुटी' कहलाती है।

बाबा श्यामदास भजनानन्दी महात्मा होने के साथ–साथ 'रासानुकरण' के बड़े अनुरागी थे। उन्होंने ब्रज की रासलीला के प्रचार–प्रसार में बड़ा योग दिया था। उन्हीं की प्रेरणा से करहला के रासधारी बिहारीलाल ने रासमण्डली का गठन कर ब्रज के लुप्तप्राय रासलीलानुकरण को पुनः सुव्यवस्थित किया था। वे ब्रज के प्राचीन भक्त–कवियों की रासोपयोगी रचनाओं को संकलित कर उन्हें रासधारियों को लीला–अभिनय के लिए दिया करते थे। सूरसागर

१. डॉ० वसन्त यामदग्नि ने बाबा श्यामदास की विद्यमानता का काल सं० १९३१–१९७५ लिखा है, जो ठीक नहीं है।

के आधार पर उन्होंने 'सनेह लीला' की रचना कर उसे स्वामी बिहारीलाल को दिया था, जिसका प्रदर्शन करहला में 'झूला वारे रासमण्डल' (घमण्डीजी के चबूतरे) पर किया गया था। बाबा श्यामदास की परम्परा में श्री दामोदरदास थे, जिनके शिष्य बोहरे ब्रजलालजी ने निम्बार्कीय भाव–साधना के अनुसार 'रासलीला–नुकरण' के नवीन प्रयोग किये थे। सारांश यह है कि बाबा श्यामदास का रासानुकरण के विकास एवं विस्तार में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों प्रकार से योग रहा था।[1]

३५. गो० कृष्णचैतन्य 'निज' (अनुमानतः सं० १८७८–सं० १९४२)—वे गो० श्री गोपाल भट्ट जी की परम्परा के राधारमणी गोस्वामी और चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्य थे। वे काशी में निवास करते थे। उनकी विद्यमानता का निश्चित काल ज्ञात नहीं होता है। हिन्दी के ख्यातनामा साहित्यकार गो० किशोरीलाल उनके दौहित्र थे, जिनका जन्म सं० १९२२ में हुआ था। अतएव उनके मातामह गो० कृष्णचैतन्यजी का जन्म संवत् १८७८ के लगभग माना जा सकता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के गोलोकवास का काल सं० १९४२ है। उसी समय के आस–पास गो० कृष्णचैतन्यजी का भी निधन हुआ था। अतः उनकी विद्यमानता का अनुमानित काल सं० १८७८ से सं० १९४२ के लगभग है।

गो० कृष्णचैतन्यजी संस्कृत एवं ब्रजभाषा के प्रकाण्ड विद्वान, रससिद्ध भक्त–कवि, काव्य–शास्त्र के अनुपम ज्ञाता और काव्य–शिक्षक थे। उनका काव्योपनाम 'निज' था। उन्होंने कई स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त एक वृहद् ग्रन्थ 'उक्ति–जुक्ति रस–कौमुदी' का प्रणयन किया। इसमें ५२९५ छन्द हैं; जिनमें दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैयों का प्राचुर्य है। बीच–बीच में प्रासंगिक रूप से ब्रज भाषा गद्य का भी उपयोग किया गया है। यह एक विशाल संकलन–ग्रन्थ है, जिसमें

---

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, ३१३।

दो–तिहाई छन्द पूर्ववर्ती कवियों और एक–तिहाई से कुछ अधिक इनके हैं। इसमें 'कला' नामक १६ अध्याय हैं। इसकी द्वितीय कला का शीर्षक 'प्रेम–सुधा शाला' है, जिसमें १०३७ छन्द हैं और यही इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा अध्याय है। इस ग्रन्थ की एकमात्र हस्त प्रति काशी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री ब्रजरत्नदासजी के संग्रह में थी और उन्होंने ही सर्वप्रथम इसका परिचय अपने द्वारा सम्पादित 'श्री गौरांग' त्रैमासिक पत्र (वर्ष ५ अंक २ वैशाख सं० २०२१) में प्रकाशित कराया था। तभी विद्वानों को इसका विस्तृत परिज्ञान हो सका था। इसके द्वितीय अध्याय 'प्रेम सुधा शाला' का एक महत्त्वपूर्ण अंश' उद्धव–चरित्र' है; जिसका कुछ विस्तृत विवरण देने की आवश्यकता है।

उद्धव चरित्र—यह स्वतन्त्र रचना सदृश काव्य–कृति है, जिसमें ५०० से कुछ अधिक छन्द हैं। इसका आधार तो भागवत–दशम स्कन्ध के 'भ्रमर गीत' का उद्धव प्रसंग है, किन्तु इसमें 'निज जी' की निजी कल्पना ने नया रंग भरा है। कुछ लोग श्रीकृष्ण पर इसलिए आक्षेप करते हैं कि वे यशोदा, राधा, गोपी आदि ब्रज–नारियों को विलखता छोड़कर मथुरा चले गये और वहाँ की राजनीति में रम गये थे। उन्होंने एक बार उद्धव जी के लिए गोप–समाज को सांत्वना देने के उद्देश्य से ब्रज में अवश्य भेजा था; किन्तु वे स्वयं नहीं गये थे। उनका वह व्यवहार कुछ व्यक्तियों को अमानवीय एवं निर्मम ज्ञात होता है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि श्रीकृष्ण मानव नहीं थे। वे मानवीय ममता–मोह से सर्वथा रहित ऐसी दिव्य विभूति थे, जिन्होंने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए अवतार धारण किया था। किन्तु गो० कृष्णचैतन्य 'निज जी' ने अपनी कल्पना से श्रीकृष्ण को दुबारा ब्रज भेजकर इस प्रसंग को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उनका कथन परम्परा से भिन्न होने के कारण अनेक व्यक्तियों को अनुचित ज्ञात हो सकता है; किन्तु उसमें

कवि की सहानुभूतिपूर्ण मौलिक कल्पना अवश्य है।

गो० कृष्णचैतन्य जी ने इस प्रसंग में पहले प्रेम का स्वरूप और प्रेमियों की दशा का वर्णन किया है। फिर उन्होंने भागवत–दशम स्कन्ध के 'भ्रमर गीत' के अनुसार श्रीकृष्ण के द्वारा उद्धव को नन्दगाँव भेजे जाने का कथन किया है। उद्धव जी नन्दगाँव में नन्द–यशोदा एवं राधा–गोपियों की दयनीय दशा से विह्वल हो जाते हैं और उनका ज्ञानोपदेश व्यर्थ सिद्ध होता है। उसके उपरान्त 'निज जी' अपनी कल्पना का उपयोग करते हैं। उसके अनुसार उद्धव जी मथुरा वापस जाने से पहले गोप–बालाओं के समक्ष शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि वे श्रीकृष्ण को दुबारा नन्दगाँव लाकर वहाँ के गोप–समाज की विरह–व्यथा को शान्त करेंगे। 'निज जी' का कथन है–

अहो सकल धीरज धरो, सपथ करौं मैं साँच।
लाय मिलाय मुकुंद कों, हरहुँ विरह की आँच॥

सोच परिहरो धरो धीरज, सखा की सोंह, रावरी कुसल हित हरि जू कों लाऊँगौ।
'निज जू' तिहारे पासु यहीं ब्रज माँझ तासु राखिये विसासु, खास दरस दिखाऊँगौ॥
मथुरा में जाय ऐन विरह–निवेदन करि, नैन–वारि चरन पखारि समझाऊँगौ।
सपथ किए हौं कहौं, लाए बिन रहौं नाँहि, कान्ह हू कही है इहि, वेग ब्रज आऊँगौ॥

इसके उपरान्त उद्धव जी किस प्रकार प्रेमोन्मत्त दशा में ब्रज–वीथियों में लोटते–फिरते हुए मथुरा पहुँचे उसका 'निज जी' ने बड़ा सुन्दर कथन किया है। जब उद्धव श्रीकृष्ण जी की सेवा में उपस्थित हुए, तब वे ब्रह्मज्ञानी उद्धव की मोहग्रस्त अवस्था में देखकर मुस्कराते हुए कहने लगे,–

ऊधोहिं लखि हरि मोह में, विहँसि कह्यौ कर मींजि।
ह्याँ सें तौ कोरे गए, वहाँ सें आये भीजि।।

अहो कहो ब्रज की कुसल, तुम क्यों विकल सुजान।
ब्रह्मज्ञान–निधान ह्वै, कत विसर्‌यौ विज्ञान।।

उद्धव जी ने ब्रज की शोचनीय अवस्था का करुण चित्र श्रीकृष्ण जी के समक्ष उपस्थित किया और उनसे एक बार पुनः वहाँ जाने की करबद्ध प्रार्थना की । इस पर श्रीकृष्ण उद्धव के साथ नंदगाँव गये और वहाँ नंद–यशोदा, गोपी–ग्वाल आदि को सुखी किया। उसके साथ ही उन्होंने ब्रज–बालाओं को आनंदित करने के लिए एक बार पुनः उसके साथ वृंदावन में रास–नृत्य भी किया। वह रास आश्विन मास की अपेक्षा फाल्गुन मास की चाँदनी रात्रि में हुआ था, अतः उसे 'वासंतिक रास क्रीड़ा' कहा गया है। 'निज जी' का कथन है–

दोह– **सुन्दर फागुन मास की, राका–निसि सुख दैन।**
रच्यौ रास–रस परस हरि, श्री वृंदाबन ऐन।।

इस प्रकार कुछ दिन ब्रज में रहने और आगामी वर्षों में भी पुनः–पुनः आने का आश्वासन देने के उपरान्त श्रीकृष्ण उद्धव सहित मथुरा वापस चले गये। निज जी द्वारा वर्णित यह 'उद्धव चरित्र' अपनी दीर्घकालीन परम्परा में सबसे निराला है।[१]

३६. ललित किशोरी जी (सं० १८८२–सं० १९३०)–वे लखनऊ निवासी अग्रवाल वैश्य और वहाँ के धनाढ्य जौहरी थे। उनका मूल नाम शाह कुन्दनलाल था, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में वे 'ललितकिशोरी' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए थे। अपनी युवावस्था में ही वे भक्ति मार्ग की ओर आकृष्ट हो गये थे। तभी वे लखनऊ स्थित अपने घर–बार, कुटुम्ब–परिवार, इष्ट–मित्रादि को छोड़कर सं० १९१३ में वृन्दावन आ गये और वहाँ स्थायी रूप से निवास करने लगे थे। उनका अनुसरण उनके अनुज शाह फुंदनलाल ने भी किया था, जो कालांतर में 'ललितमाधुरी' उपनाम से प्रसिद्ध हुए थे।

---

१. श्रीगौरांग (वर्ष ५ अंक २–वैशाख सं० २०२१) पृष्ठ २६–३१ के अनुसार।

ललितकिशोरी जी ब्रजभाषा, खड़ी बोली, उर्दू, फारसी भाषाओं के विद्वान, उत्कृष्ट भक्त कवि और गान–वाद्य, नृत्य–नाट्यादि कई कलाओं के अनुपम ज्ञाता थे। वृन्दावन में उन्होंने चैतन्य सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी और अपने उपास्य श्री राधारमण जी की उपासना–सेवा करने के साथ ही साथ वे भक्ति–काव्य की रचना करने में तल्लीन हो गये थे। उन्होंने वृन्दावन में संगमरमर का एक कलात्मक मन्दिर सं० १९२५ में बनवाया, जिसका नाम उन्होंने 'ललित निकुंज' रखा था। आजकल वह शाह जी का मन्दिर कहलाता है और वृन्दावन के सर्वोत्तम मन्दिर में गिना जाता है।

ललितकिशोरीजी ने ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली में बहुसंख्यक कविताओं और उर्दू में गजल आदि अनेक नज्मों की रचना की थी। वे सब भक्ति–भाव से ओतप्रोत हैं। उनकी स्फुट रचनाओं का संकलन उनके अनुज ललितमाधुरीजी ने 'अभिलाष माधुरी' के नाम से किया है। इसमें कुछ रचनाएँ उनकी भी हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो चुका है। ललितकिशोरीजी की रुचि 'रासलीलानुकरण' के प्रति अत्यधिक थी। वे उसके प्रदर्शन में सक्रिय योग देते थे और उससे सम्बन्धित अनेक लीलाओं की उन्होंने रचना की थी। उनकी अनुपम रास–प्रियता के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी ने उन्हें द्वापर के रास को कलियुग में प्रस्तुत करने वाला कहा है[१] और गो० राधाचरणजी ने उन्हें रास–विलास का प्रकाशक बतलाया है।[२]

श्री रामनारायण अग्रवाल ने भी ललितकिशोरीजी की लीला सम्बन्धी केवल ३ रचनाओं के उपलब्ध होने की बात कही है। वे हैं– १. मान लीला, २. नौका लीला और ३. चीरहरण लीला। उनके विषय में श्री अग्रवाल का कथन है–'नौका लीला रासधारियों में बड़ी लोकप्रिय है, जिसका प्रदर्शन वे आज भी बड़ी रुचि से करते हैं। यह

---

१. द्वापर कौ सुखरास, रास कलियुग में कीनौ। (उत्तरार्ध भक्तमाल)

२. रास–विलास प्रकास, लच्छ पद रचना भ्राजै। (नव भक्तमाल)

लीला भी एक छद्म लीला है। ललित किशोरीजी के लीला सम्बन्धी स्फुट पद तो अनेक रासलीलाओं में गुँथे हुए हैं।'[1] किन्तु श्री ललित किशोरीजी ने पूर्वोक्त ३ रचनाओं के अतिरिक्त रासलीलानुकरण सम्बन्धी और भी अनेक लीलाओं की रचना की थी, जिनके संकलन के रूप में उनका 'रस कलिका' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसे हमने श्री शाह जी मन्दिर के पुस्तकालय में देखा था। वह ८६५ पृष्ठों का वृहद् हस्तलिखित ग्रन्थ है; जिसमें ललितकिशोरीजी कृत रास सम्बन्धी बहुसंख्यक लीलाओं का संकलन किया गया है। इसे ललित किशोरीजी के निधनोपरान्त उनके अनुज श्री ललितमाधुरीजी ने सं० १९३४ में तैयार कराया था। श्री रामनारायण अग्रवाल ने कदाचित् इस ग्रन्थ को नहीं देखा था।

डॉ० वसंत यामदग्नि ने इस ग्रन्थ को देखा और इसका मनोयोगपूर्वक अध्ययन कर उस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। हम उनके शब्दों में इस ग्रन्थ का विवरण यहाँ दे रहे हैं–

रस–कलिका–इस ग्रन्थ में वर्णित सम्पूर्ण लीलाएँ २४ 'दलों' में विभक्त हैं। इसके एक–एक दल में कम से कम २ और अधिक से अधिक २८ लीलाओं की संयोजना है। प्रत्येक लीला मूल रूप में दलगत प्रमुख विषय में सम्बद्ध होते हुए भी अपने आप में स्वतन्त्र है। उदाहरणार्थ 'वृन्दावन विलास माधुरी' के अन्तर्गत प्रथम दल की लीलाओं में वृन्दावन शोभा, ललित निकुंज शोभा, केलि केन्द्र विहार, जल–केलि ग्रीष्म लीला, लता निकुंज विहार, मान लीला, वंशी लीला आदि की स्थिति है। इस ग्रन्थ में जहाँ एक ही भाव की अनेक लीलाओं को भिन्न–भिन्न प्रकार का रूपाकार प्राप्त हुआ है, वहाँ रचयिता की मौलिक प्रतिभा ने नवीन विषय–वस्तु पर आधारित नयी–नयी लीलाएँ भी रासमंच को प्रदान की हैं। इस संदर्भ में इनकी छीर–नहर लीला, मैना लीला, आशिक लीला,

१. ब्रज का रास रंगमंच, पृष्ठ २२८।

काश्मीरिन लीला, जादूगर विदेशी लीला, सितार लीला, हम्माम लीला आदि को देखा जा सकता है। इन सब लीलाओं की चरम परिणति प्रिया–प्रियतम के मिलन और उनके पारस्परिक प्रेमास्वादन में होती है; तथापि इन सभी के कलेवर में एक आमूल वैविध्य समुपस्थित है। ललितकिशोरी जी द्वारा विरचित यह लीला– साहित्य अपने व्यापक परिवेश में आज के रासमंच की अनेक लीलाओं का प्रमुख स्रोत बना हुआ है। इसकी यह विशेषता है कि इसमें लीलाभिनय के उपयोगी निर्देश दिये गये हैं और लीला–स्वरूपों के क्रिया–व्यापार से सम्बन्धित कथन भी यत्र–तत्र प्राप्त हैं।'[१]

इस प्रकार श्री ललितकिशोरजी का महत्त्व 'लीला'–रचनाकार होने के साथ–ही–साथ रासमंचीय निर्देशक के रूप में भी है। इन विशेषताओं के कारण उन्हें सदा स्मरण किया जाता रहेगा। किन्तु इसके लिए 'रस–कलिका' ग्रन्थ को सुसम्पादित रूप में प्रकाशित कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

अभिलाष माधुरी—जैसा पहले लिखा जा चुका है, इस ग्रन्थ में श्री ललितकिशोरीजी कृत विविध भाषाओं की भक्तिपूर्ण रचनाओं का संकलन है। ये रचनाएँ विभिन्न प्रकार के छन्दों, पदों एवं लोकगीतों में कथित हैं; जो अधिकतर मुक्तक शैली के हैं। इनमें भक्त–हृदय की आकुल पुकार है और श्री राधारमणजी के चरणों में आत्म–निवेदन है। इस मुद्रित ग्रन्थ के आरम्भ में ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली की हिन्दी रचनाएँ हैं और फिर उर्दू की नज्में हैं, जो नागरी लिपि में प्रस्तुत की गई हैं। इसके अन्त में उनकी उर्दू और फारसी की वे नज्में हैं, जिन्हें फारसी लिपि में लीथो द्वारा मुद्रित कराया गया है। इस ग्रन्थ में संकलित अधिकांश रचनाएँ स्फुट हैं; किन्तु कुछ रचनाएँ 'लीला' सम्बन्धी भी हैं; जो इस प्रकार हैं—

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ ३०२–३०३ पर आधारित।

चंद–खिलौना लीला–

१. चंद खिलौना माँगै लाल।
मैया आँगन जलहिं झँकावति, नहिं जानति लालन के ख्याल॥
वै ह्वै रहे चकोरि निरखिकैं, नैनन चंद्रानन ब्रज–बाल।
'ललितकिशोरी' झूंठी बतियनि, कैसिक विरमत मदन गुपाल॥[१]

वंशी–वादन लीला–

२. सितम करै बँसुरी दईमारी!
बाजति जब वृंदावन–कुंजन, हरति लाज कुल–कानि हमारी॥
हरे बाँस की तनक लकरिया, छोलि बनाय धरी अधरारी।
इतनी सी पतरी मोरि आली! नौ–दस ठौरन छेद छिदारी॥
ऊपर तें सूधी सी लागत, अंतस औगुन अमित महा री।
'ललितकिशोरी' लगी लाल–मुख, छोटी अति खोटी कुटिला री॥[२]

दधि–बेचन लीला–

३. दधि–बेचन गई, आपु बिलानी!
भेंट भई गोवर्धन–ग्वैंड़े, स्यामसुंदर–मुख देखि लुभानी॥
नैन भए दृग मोर चंद्रिका, छवि चितवति पलकैं न टुरानी।
ललितकिशोरी' चित्र लिखी सी, मोल–तोल दधि–दूध भुलानी॥[३]

मान लीला–

४. मानिनी! मान न कीजियै सुपनेहु, जुवतिन कौ सिंगार री आली।
भृकुटी भाल चढ़ैयै न भामिनि, पल–पल सौ–सौ बार री आली॥
वंक सुभाव, अनख इतरानौ, कटुक वचन को बान री आली।
'ललितकिशोरी' कानि–मानि धन, तुम्हरी तजै बलाय री आली॥[४]

लोकधर्मी रचनाएँ–श्रीललितकिशोरीजी की रचनाओं में लोकधर्मिता अधिक है। उनकी कुछ रचनाएँ तो शुद्ध लोक शैली की हैं, जो लोक–धुनों में कथित हैं। उदाहरणार्थ, उनकी 'बारहमासी'

---

१. अभिलाष माधुरी, पृष्ठ २१९।
२. वही, पृष्ठ २२१।
३. अभिलाष माधुरी, पृष्ठ २३८।
४. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ ३०६।

नामक रचना का कुछ अंश प्रस्तुत है–
बारहमासी–

५. लगा असाढ़, बाढ़ जमुना अति, वरषा रितु आई।
रिमझिम रिमझिम मेहा बरसै, बूंदैं सुखदाई॥
सु दामिनि–दमक लगै प्यारी।
कोयल कूकि, मोरिला कुहकनि, पिक–पुकार न्यारी॥
बनै बन भींजत हुलसाहीं।
स्यामा–स्याम रसिक रंग भीने, दीनैं गलबाँहीं॥१॥
सावन मास सुहावन भावन, झींगुरवा बोलैं।
दादुर सोर मचावैं, बन–बन इंद्र–बधू डोलैं॥
सखिन द्रुम डारि दिये झूला।
झमकि–झमकि झूलैं, झुकि गावैं, झोंटा समतूला॥
सखी बिच झीने सुर गाहीं।
स्यामा–स्याम रसिक रँग भीने, दीनैं गलबाँहो[१]॥२॥

उर्दू की नज्में–ललितकिशोरीजी कृत उर्दू भाषा की अनेक नज्में भी उपलब्ध हैं। इनमें से एक 'गजल' का कुछ अंश यहाँ दिया जाता है–

६. दिल ले गया हमारा, नँदलाल हँस्ते–हँस्ते।
वृन्दावन–विपिन की कुंजों में, जाती थी रस्ते–रस्ते॥
वहाँ आ गया अचानक, जूड़े को कस्ते–कस्ते।
चित छुट पड़ा बदन पर, बालों में फँस्ते–फँस्ते॥
मुश्किल से बची, नागिन–अलकों से डस्ते–डस्ते।
दिल ले गया हमारा, नँदलाल हँस्ते–हँस्ते[२]॥

३७. नारायण स्वामी (सं० १८८५–सं० १९५७)–वे पंजाबी सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका जन्म सं० १८८५ में रावलपिंडी नगर में हुआ था। यद्यपि वे विवाहित थे, तथापि गार्हस्थिक कार्यों से

१. अभिलाष माधुरी, पृष्ठ ८१।
२. अभिलाष माधुरी, पृष्ठ २९३।

उदासीन रहते थे। सं० १९१६ में वे घर–बार से विरक्त होकर ब्रज में निवास करने के लिए वृन्दावन आ गये थे। उन्हें भिक्षा–वृत्ति से अरुचि थी, अतः जीवन–निर्वाह के लिए उन्होंने लालाबाबू मन्दिर के कार्यालय में नौकरी कर ली थी। उसके एवज में वे ठाकुरजी का प्रसाद लिया करते थे। रुपया–पैसा का वे स्पर्श भी नहीं करते थे।

कुछ समय तक मन्दिर की देख–भाल करने के अनन्तर उनका शेष समय भगवद्–भजन, मानसी ध्यान, सत्संग और भक्ति–काव्य की रचना करने के साथ–साथ रासलीलानुकरण की आनन्दानुभूति में बीतता था। बाद में वे संन्यासी हो गये थे। तब उन्होंने मन्दिर की सेवा से भी अवकाश ले लिया था। उनका निवास केशीघाट के निकट खपाटिया घेरे की एक छतरी में था। संन्यासी होने पर भी उनका मन श्रीराधा–कृष्ण की लीलाओं के चिन्तन और उनके रास–विलास में अधिक रमता था। वे उसी के आनन्द में निमग्न रहा करते थे।

वे विरक्त सन्त, रसिक भक्त और सरल स्वभाव के परोपकारी महात्मा थे। जो कोई उनसे मिलता था, वह उनकी सरलता, आत्मीयता और माधुर्य–भक्ति से आकर्षित होकर उनका भक्त बन जाता था। वे अपने उपास्य श्रीकृष्ण को 'लाल जी' कहा करते थे। जो व्यक्ति उनसे मिलता, उसे भी वे 'लाल जी' के नाम से ही सम्बोधित करते थे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे समस्त जगत् को कृष्णमय देखते थे। उन्हें रास के प्रति बड़ी निष्ठा थी। वे अत्यन्त श्रद्धा–भक्ति पूर्वक रासलीलानुकरण का प्रदर्शन देखते थे। जब तक कार्यक्रम चलता रहता था, वे रास–मंच के निकट खड़े रहते थे और जब 'स्वरूप' विराजमान होते, तब वे पंखा झला करते थे।

ब्रज में आने पर उनका अधिकांश जीवन वृन्दावन में बीता था। वे प्रायः ४० वर्ष तक यहाँ रहे थे। अपने अन्तिम काल में वे सं० १९५५ में गोवर्धन चले गये। वहाँ की लता–कुंजों में उनका मन ऐसा

रमा कि वे स्थायी रूप से कुसुम सरोवर के निकटवर्ती उद्धवजी के मन्दिर में रहने लगे थे। उसी स्थल पर उनका देहावसान सं० १९५७ की फाल्गुन कृ० ११ को हुआ था। वहाँ उनकी समाधि बनी हुई है।

नारायण स्वामीजी ब्रजभाषा, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फारसी के अच्छे विद्वान थे। भक्ति–काव्य की रचना करने में वे निपुण थे और संगीत का अच्छा ज्ञान रखते थे। उन्होंने श्रीराधा–कृष्ण की विविध लीलाओं के बहुसंख्यक पदों की रचना की, जो विभिन्न राग–रागिनियों में निबद्ध हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने भजन, रसिया, लावनी आदि लोकगीतों को भी पर्याप्त संख्या में रचा था। वृन्दावन में वे प्रायः टिकारी वाले मन्दिर की रासमण्डली के साथ रहते थे और रासधारियों द्वारा अपनी रचनाओं का गायन एवं अभिनय कराते थे। वे स्वयं भी उनके गायन, नृत्य एवं अभिनय में योग देते थे। उनकी रचनाएँ भक्तजनों में बड़ी लोकप्रिय हुई थीं। प्रत्येक रासमण्डली को अपने प्रदर्शन की सफलता के लिए उनकी रचनाओं का गायन और उनके द्वारा नृत्य एवं अभिनय का निर्देशन कराना अनिवार्य हो गया था।

गोस्वामी राधाचरण जी ने 'नव भक्तमाल' नामक रचना में नारायण स्वामीजी के भक्तिपूर्ण गेय काव्य और उनके नृत्य की प्रशंसा करते हुए कहा है–

अक्षर अर्थ अनूप, अलंकारन सु अलंकृत।
भाव हृदय गंभीर, अनुप्रासन–गुन–गुंफित॥
राग नवीन–नवीन, प्रवीनन कौ मन मोहै।
नृत्य करत गति भरत, रासमंडल अति सोहै॥
देस–विदेस प्रचार अति, श्री वृन्दावन विश्राम।
'नारायण स्वामी' नवल (पद), रचना ललित ललाम॥

नारायण स्वामी की अधिकांश रचनाएँ 'ब्रज विहार' नामक

ग्रन्थ में संकलित मिलती हैं। कुछ गेय रचनाएँ 'राग रत्नाकर' ग्रन्थ में भी संकलित हुई हैं। उनके गजलों का पृथक् संकलन उपलब्ध है। ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। ब्रज के रासधारी रासलीलानुकरण के प्रदर्शन में सर्वश्री नागरीदास, ब्रजवासीदास, चाचा वृन्दावनदास और ललितकिशोरीजी की रचनाओं के साथ–साथ नारायण स्वामी की रचनाओं का भी उपयोग करते हैं।

ब्रज–विहार–नारायण स्वामी के इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में ४३ लीलाएँ संकलित एवं प्रकाशित हुई हैं। इनमें से अधिकांश लीलाओं की कथा–वस्तु का उपयोग रासधारीगण लीलानुकरण के प्रदर्शन में किया करते हैं। श्री रामनारायण अग्रवाल ने ऐसी ३१ लीलाओं की सूची दी है, जो इस प्रकार है–

१. माखन चोर लीला, २. उराहनौ लीला, ३. आँख मिचौनी लीला, ४. श्री लालजी की उत्थापन लीला, ५. पनघट लीला, ६. नवल सखी की दान लीला, ७. छद्म लीला, ८. देवी पूजन लीला, ९. नव दुलहन लीला, १०. मान लीला, ११. खंडिता मान लीला, १२. संभ्रम लीला, १३. रूप गर्विता मानलीला, १४. पनिहारी लीला, १५. श्याम विरहिनी लीला, १६. युगल छद्म लीला, १७. प्रथमानुदार लीला, १८. चौसर लीला, १९. सखी खंडिता लीला, २०. वंशी लीला, २१. निकुंज हिंडोरा लीला, २२. शयन लीला, २३. साँवरी छद्म–झूलन लीला, २४. बन–झूलन लीला, २५. वसंत लीला, २६. होरी लीला, २७. गली की होरी लीला, २८. प्रेम–परीक्षा लीला, २९. रास–पंचाध्यायी लीला, ३०. सखी अनुराग लीला और ३१. साँझी लीला।[1]

पूर्वोक्त सूची से ज्ञात होता है कि नारायण स्वामी ने बड़े व्यापक दृष्टिकोण से रासलीलाओं के प्रणयन एवं मंचन का कार्य किया था। उनके जीवन–काल में ही रासधारियों ने उनकी अनेक

---

१. ब्रज का रास रंगमंच, पृष्ठ २२७।

लीलाओं का प्रदर्शन स्वयं उनके निर्देशन में ही किया था। उससे रास–प्रेमी भक्तजनों के साथ–ही–साथ सामान्य प्रेक्षकों ने भी आनन्द की अनुभूति की थी। वे अपने समय में रासलीला के प्रधान रचयिता एवं प्रमुख गायक थे। उन्होंने लीलाओं की प्रासंगिक व्यवस्था में गद्य–वार्ताओं का भी प्रयोग किया है, जिससे वे अधिक प्रभावपूर्ण हो गई हैं।

'ब्रज विहार' के अनेक संस्करण अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इसका पंचम संस्करण वृन्दावन के निम्बार्कीय मासिक पत्र 'श्री सर्वेश्वर' के विशेषांक रूप में निकला है। इस ग्रन्थ में वर्णित कतिपय लीलाओं के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं, जिनसे नारायण स्वामी की कथन–शैली का आभास हो सकेगा।

कृष्ण–जन्म बधाई–

१. **चलौ महरि–घर दैन री बधाई।**
सुभ लच्छन सुंदर सुत जायौ, बड़ भागिनि है जसुमति माई॥
वृद्धा नारि सबै जुरि आईं, जथा–जोग कुल–रीति कराई।
दान–मान विप्रन कों दीनौ, मनि–मुक्ता–भूषन मन भाई॥
मृगनैनी कल कोकिल बैनी, करि सिंगार बैठीं अँगनाई।
लै–लै नाम नंद–जसुमति कौ, गावत गारी परम सुहाई॥
ध्वज–पताक, तोरन–मनिमाला, द्वारन बंदनवार बँधाई।
'नारायण' ब्रज आनँद छायौ, प्रगट भए वर कुँवर कन्हाई॥[1]

दान–लीला–

२. **हमरौ दान देहु ब्रज–नारी।**
मदमाती गजगामिनि डोलै, तू दधि बेचनहारी॥
रूप तोहिं बिधना नें दीयौ, ज्यों चंदा उजियारी।
मटुकी सीस कटीले नयना, मोतिन माँग सँवारी॥
हार–हमेल गले में राजैं, अलकैं घूंघरवारी॥

१. ब्रज विहार, पृष्ठ ३७०।

या ब्रज में जेती सुंदरि हैं, हम सब देखी भारी।
'नारायण' तेरी या छबि पर, नँदनंदन बलिहारी॥[1]

३. पहिलैं मेरौ दान चुका री, पीछें बतरइयो तू प्यारी।
तो समान तूही देत दिखाई, नव जोवन नव सुंदरताई,
और कहाँ लौं करौं बड़ाई, मोहन कौ मन मोहनहारी।
अति बाँके हैं नयन तिहारे, सान धरे पेने अनियारे,
जिन हमसे घायल करि डारे, इन समान नहिं बान कटारी।
'नारायण' जिन देर लगावो, देहु दान अपने घर जावो,
क्यों मटुकी चौपट गिरवावो, देख हँसेंगे पुर नर-नारी॥[2]

४. क्यों रे छैला! मेरी मटुकिया पटकी।
करिकै ढिठाई, मग दधि बिखराई,
सब चूरी मुरकाईं, सुकुमार बैंयाँ झटकी॥ क्यों रे छैला०
अबहिं जसोदा ढिंग, पकरि लैं जाऊँ तोहि,
एक न सुनूंगी तेरी, बात नटखट की।
बदलौ लऊँगी, न डरूँगी मैं 'नारायण'
कौन सी गरज मेरी, तो सों अब अटकी॥ क्यों रे छैला०[3]

मार्ग-रोकन लीला-

५. जनि मग रोको नंदकिशोर।
तोहि उरझन की बान परी है, साँझ तकत नहिं भोर॥
देर लगत मोहिं, सास रिसावै, तुम्है छैल नित रार सुहावै,
इन कुचाल कछु हाथ न आवै, गागरिया दई फोर॥
तुम अति चंचल छैल बिहारी, कैसै कूख रहे महतारी,
यह अचरज मोकों है भारी, घर-घर तेरौ सोर।
'नारायण' अब क्यों इतरावो, भई सो भई मत बात बढ़ावौ,
ताही कों तुम आँख दिखावो, जो होय तेरी बंदोर॥[4]

---

१. ब्रज विहार, पृष्ठ ३७।
२. ब्रज विहार, पृष्ठ ९९।
३. ब्रज विहार, पृष्ठ ६४।
४. ब्रज विहार, पृष्ठ ३७।

६. सुनि लै यसोदा रानी! तू लाल की बड़ाई।
सब लोक–लाज वानें, यमुना में धो बहाई॥
भोरेहिं मैं गई जो जल भरवे काज भैना।
पीछे सों आ अचानक उन मूंदे मेरे नैना॥
डरपी मैं हाय को है, तब बोले टेढ़े ही बैना।
हौं तो रही अकेली, वा संग ग्वाल सैना॥
तब सबनें हो–हो करिकै तारी मेरी बजाई।
सुनि लै यसोदा रानी, तू लाल की बड़ाई॥
पुनि बैयाँ मोरी झटकी, गागर धरनि गिराई।
कबहूँ कहै बता री, तू क्यों अकेली आई॥
तू चल भवन हमारे, करि मोसों मित्रताई।
विधना नें तेरी–मेरी, जोरी भली बनाई॥
'नारायण' बाकी ये बातैं, सुनि मैं अतिहिं लजाई।
सुनि लै यसोदा रानी, तू लाल की बड़ाई॥[1]

छद्म लीला–

७. देखि री आजु नव नागरी वेष धरि, लली के छलन हित ललन कैसे सजैं।
पहिर भूषन–वसन, दृगन कजरा दिऐं, निरखि सिंगार सुर–बधू मन में लज॥
मंद मुसिक्यान मग चलत गति ठुमकि कै, मधुर धुनि किंकनी चरन नूपुर बजैं।
रूप अभिराम 'नारायण' लखि स्याम कौ, कौन सी माननी मान जो ना तजैं॥

मान लीला–

८. इतनौ न मान कीजै, वृषभानु की दुलारी॥
तेरे मनाइवे में, मोहि स्रम भयौ है भारी।
प्रीतम कों आज तो बिन, पल–छिन न चैन आवै॥
हँस–बोलिवौ कहाँ कौ, नहिं खान–पान भावै।
हाथन में चित्र तेरौ, पुनि–पुनि हिए लगावै॥
अति विकल ह्वै रह्यौ है, वह साँवरौ विहारी।
इतनौ न मान कीजै, वृषभानु की दुलारी॥

१. राग रत्नाकार, पृष्ठ ४०।

मान की लावनी–

१. उठो अब मान तजो गोरी। रही है रैनि बहुत थोरी॥
सदा सों तुम मन की भोरीं। कहूँ मैं सपथ खाय तोरी॥
दोहा– औरन के बहँकाव तें, करि बैठत हो रोष।
झूठ–साँच परखत नहीं, वृथा देत हौ दोष॥
यही मोहि अचरज है भारी।
तनक हँस चितवो सुकुमारी। ससी मुख पै हौं बलिहारी॥
दोहा– अपनी ओर निहारिकै, देहु अजय वरदान।
क्षमा करो सब चूक अब, जो कछु भई अजान॥
इतनी विनती मानो मोरी।
तिहारे गुन नित प्रति गाऊँ। बिना आज्ञा न कहूँ जाऊँ॥
दोहा– ताहू पै दृग अरुन कर, भ्रकुटी लेत चढ़ाय।
जोरावर सों निबल की, काहू विधि न बसाय॥
हारे हू हार जीते हू हारी।
जिन्हें तुम समझौ हितकारी। सोई अति कपटी ब्रजनारी॥
दोहा– मन में फूट कराइ कै, आपु अलग मुसक्यात।
'नारायण' तुमने करी खरी न्याव की बात॥
भले कौं दंड, बुरे पै प्यार![1]

होरी लीला– रसिया कों नारि बनावो री।
कटि लहँगा, गल माँहि कंचुकी, चुँदरी सीस उढ़ावो री॥
गाल गुलाल, दृगन में अंजन, बेंदी भाल लगावो री।
'नारायण' तारी बजाइकै, यसुमति निकट नँचावो री॥[2]

३८. **ललित लड़ैती जी (प्रायः सं० १९००–सं० १९६०)**–उनका मूल नाम इन्द्रभान था और वे पूर्ववर्ती पंजाब स्थित डेरा गाजी खाँ के निवासी थे। उनकी रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में हैं, जिनसे ज्ञात होता

---

१. राग रत्नाकार, पृष्ठ ८३।
२. राग रत्नाकार, पृष्ठ ११९।

है कि उनका ब्रज–वृन्दावन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। उन्होंने चैतन्य सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी और पंजाबी भक्त–कवि नारायण स्वामी के प्रति उनका श्रद्धा–भाव था।

उन्होंने 'दम्पति विलास' नामक एक बृहद् ग्रन्थ की रचना सं० १९४५ के लगभग की थी, जो विविध राग–रागिनियों में निबद्ध है। इसके पाँच भाग हैं। प्रथम भाग में विनय एवं सिद्धान्त के पद और प्रिया–प्रियतम की ब्रज लीलाओं का सरस वर्णन है। दूसरे भाग में वसंत, होली, हिंडोरा, सांझी और रासविषयक लीलाओं का कथन है। तीसरे भाग में छद्म लीलाएँ हैं; चौथे में शयन लीला है, और पाँचवें में चेतावनी के पद हैं। बीच–बीच में 'वार्तिक' के रूप में ब्रजभाषा गद्य भी मिलता है। इस ग्रन्थ की रचना ब्रज के प्राचीन भक्त–कवियों की वाणियों पर आधारित है; अतः इसमें मौलिकता कुछ कम है। वैसे यह अत्यन्त सरस काव्य–कृति है।[1] इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

माखन चोरी लीला–

१. चले करन माखन की चोरी।
अचक–अचक पग धरत द्वार पै, नूपुर–धुनि नहिं नैक भयो री॥
उझकि–उझकि इत–उत में झाँकत, पाई छींके धरी कमोरी।
माखन खाय सखनि सँग मोहन, आँगन माँहि मटुकिया फोरी॥
धूम मचावत देखि सबन कों, चकित होय उठि बैठी गोरी।
'ललित लड़ैती' उत नँद नंदन, भाजि चले करिकैं बरजोरी॥

छद्म लीला–

२. स्याम रूप धरि लीनौं प्यारी।
मोर मुकुट कटि सोहै काछिनी, पीतांबर की दमकन न्यारी॥
नख–सिख कियौ सिंगार मनोहर, जाहि देखि हुलसत हिय नारी।
'ललित लड़ैती' वाही भेष सों, संग सखी नँद–भवन सिधारी॥[2]

---

१. लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृष्ठ ३३२।

२. वही, पृष्ठ ३३३–३३४।

३९. ग्वारिया बाबा (सं० १९००-सं० १९९५)—वे ब्रज में निवास करने वाले एक संत–संगीताचार्य थे। ब्रज में आने से पहले का उनका जीवन–वृत्त अनिश्चित है। ऐसा अनुमान होता है कि वे दतिया राज्य के एक ब्राह्मण थे। उन्होंने संगीत के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। दतिया का राजा भवानीसिंह उनका बड़ा सम्मान करता था।

ब्रज में आने पर वे अधिकतर वृन्दावन में रहे थे और वहाँ पर सख्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना–भक्ति किया करते थे। वे अपने को 'ब्रजराज कुमार का ग्वारिया सखा' कहते थे और ग्रामीण ग्वाले के भेष में रहा करते थे। इसलिए वे 'ग्वारिया बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। वे सदैव ब्रजभाषा बोलते थे और उसी में लिखते थे। उनका रहन–सहन बड़ा अद्‌भुत था और उनके कार्य–कलाप एक अलमस्त फक्कड़ जैसे ही नहीं, वरन् एक विक्षिप्त व्यक्ति की भाँति हुआ करते थे। वस्तुतः वे अपने आपे को छिपाये हुए एक सिद्ध कोटि के महात्मा थे। उनकी कथनी और करनी का वास्तविक रहस्य कभी किसी ने नहीं जाना था।

उन्हें रासलीलानुकरण से अत्यधिक अनुराग था। लीला–आयोजन करना और लीलाओं का प्रदर्शन देखना उनका दैनिक कार्य था। संगीताचार्य होने के कारण वे संगीत के तीनों अंग—गान, वाद्य एवं नृत्य में पारंगत थे। इनका प्रशिक्षण वे रास–लीला के स्वरूपों को दिया करते थे। उनके कारण रासलीलानुकरण का प्रदर्शन अत्यन्त कलात्मक हो गया था। उनके समकालीन प्रायः सभी रासधारीगण उनसे लाभान्वित हुए थे। उन्होंने रास मंच के गायन, वादन एवं नर्तन को समृद्ध कर उसे जो तकनीकी देन दी, उसके लिए 'ग्वारिया बाबा' का नाम सदा स्मरणीय रहेगा।

४०. भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी (सं० १९०७-सं० १९४१)—वे अपने ३४ वर्ष के अल्प जीवन–काल में जितने विभिन्न विषयों के कार्य कर

गये, उतने संसार के शायद ही किसी महापुरुष ने किये हों! उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी; किन्तु साहित्य के क्षेत्र में वह अत्यधिक फलवती हुई थी। उन्होंने कम से कम १४० छोटे–बड़े ग्रन्थों की रचना की है। इनमें ७० काव्य, २० नाटक और ५० विविध विषयों के गद्य–पद्यात्मक ग्रन्थ हैं। ऐसी स्थिति में उनके वैष्णव हृदय और कलाप्रिय मन में रासलीला के प्रति कैसे अनुराग जागृत नहीं होता। फलतः उनकी अलौकिक प्रतिभा का प्रसाद रासलीलानुकरण के धार्मिक कला–रूप को भी मिला। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नांकित रचनाओं का नामोल्लेख किया जा सकता है–

१. चंद्रावलि नाटिका, २. कृष्ण–चरित, ३. देवी छद्म लीला, ४. रानी छद्म लीला, ५. दान लीला, ६. तन्मय लीला आदि।

इनके अतिरिक्त निम्नांकित रचनाओं के कई सौ छन्द, पद और गीत आदि भी रासमंच के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं–

१. प्रेम माधुरी, २. प्रेम तरंग, ३. प्रेम फुलवारी, ४. प्रेमाश्रु, ५. वेणु गीत, ६. होली और वर्षा विनोद।

श्री रामनारायण अग्रवाल ने लिखा है–'भारतेन्दुजी की इन रचनाओं को अभी रासमंच पर लीलाओं के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया; क्योंकि किसी समर्थ रासधारी की दृष्टि इन पर नहीं पड़ी है। किन्तु उनकी 'चन्द्रावली' नाटिका रासधारियों में बड़ी लोकप्रिय रही हैं और उसे रासमंच पर 'बड़ी चन्द्रावलि लीला' के रूप में बड़े रस के साथ प्रस्तुत किया जाता रहा है। उनके कवित्त–सवैया आदि का विरह रस की लीलाओं में सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है।'[१]

४१. बौहरे ब्रजलाल (सं० १९२९-सं० १९९७)—वे अलीगढ़ जिला के फौजुआ ग्राम निवासी पालीवाल ब्राह्मण थे। समृद्धशाली जमींदार होने के कारण वे 'बौहरेजी' के नाम से प्रसिद्ध थे। अपने आरम्भिक जीवन में ही वे माधुर्य भक्ति, भाव–साधना और रास–

---

१. ब्रज का रास रंगमंच, पृष्ठ २२८।

लीलानुकरण के प्रति आकृष्ट हो गये थे; अतः वे वृन्दावन में रहने लगे थे। वहाँ की 'किशोरी कुंज' में उनका निवास था। उनकी आस्था निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रति थी। श्री हरिव्यासजी कृत 'महावाणी' के आधार पर वे अपनी कुंज में रासलीलानुकरण का आयोजन कराते थे। उनका मंचीय प्रदर्शन स्वामी केशवदेव रासधारी एवं मोहनलाल रासधारी किया करते थे। 'अष्टयाम' की लीलाओं के प्रदर्शन और समाज–गान के प्रति भी बौहरेजी की बड़ी अभिरुचि थी।

'खेरिया' गाँव के स्वामी दामोदरजी ने सं० १९७५ के लगभग बौहरे ब्रजलाल के संरक्षण में एक निम्बार्कीय रासमण्डली का गठन किया था। निम्बार्कीय महात्माओं की 'वाणी' में से लीला–पदों को संकलित कर उन पर आधारित प्रिया–प्रियतम की लीलाओं का प्रदर्शन करना उस मण्डली का उद्देश्य था। उसके माध्यम से बौहरेजी ने रासलीलानुकरण में अनेक अभिनव प्रयोग किये थे। ''रास मंचीय लीलाओं के संगीत पक्ष की अभिव्यक्ति में 'महावाणी' के आधार पर विविध 'कुंजों' की परिकल्पना भी बौहरे ब्रजलाल की मौलिक सूझ का परिणाम थी।''[१]

ब्रज की रासमण्डलियों में आज वल्लभ सम्प्रदाय के पश्चात् जो निम्बार्क सम्प्रदाय का बोलवाला है, उसका प्रमुख श्रेय बौहरे को ही है।

४२. बांकेपिया (सं० १९३६–सं० २११० के लगभग)—उनका पूरा नाम बांकेबिहारी लाल और काव्योपनाम 'बांकेपिया' था। वे लखनऊ के कायस्थ थे और रेलवे में सेवारत थे। उन्होंने वृन्दावन के राधारमणी गोस्वामी अनन्तलालजी से चैतन्य सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी। वे परम धार्मिक, रसिक भक्त और साहित्यकार थे। उन्होंने गद्य–पद्य में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। रेलवे की सेवा से अवकाश लेने के उपरान्त उनका उत्तर जीवन धर्मोपासना और

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ ३१६।

ग्रन्थ–रचना करने में ही बीता था। उनकी काव्य–रचना सरस और मनोहारी है। वे अपने ग्रन्थों को स्वयं छपवाकर भक्तजनों में अमूल्य वितरित किया करते थे।

उनकी अनेक रचनाओं में से कुछ 'रासलीलानुकरण' से भी सम्बन्धित हैं। ऐसी ही एक रचना 'निकुंज माधुरी छद्म' है। इसमें चार छद्म लीलाओं का संकलन है। ये लीलाएँ हैं—१. निकुंज माधुरी छद्म, २. मणि मन्दिर छद्म, ३. प्रेम–परीक्षा छद्म और ४. सलोनी नारि छद्म। इसका प्रकाशन सं० १९८१ में हुआ है। उदाहरण के लिए 'प्रेम परीक्षा छद्म' का कुछ अंश प्रस्तुत है—

श्री वृन्दावन बनराज, रम्य रसनिधि सुखदाई।
ऋतु वसंत जेहि ठौर, रहत निसि–वासर छाई॥
सघन विटप जहँ हरे–भरे फूले बहु भाँती।
नव पल्लव अंकुरित, लता झूमैं मदमाती॥
सीतल–मंद समीर लिएँ सौरभ–कन डोलत।
पिक–सारिका औ कीर, जहाँ मधुरे स्वर बोलत॥
सुंदर ललित निकुंज, सघन बहु भाँतिन सोहैं।
सहित परम माधुर्य, कल्पतरु की चित मोहैं।
कुंज माधवी बैठि, लाल प्यारी–मग जोहत।
कोमल पुष्पन सेज रचत, पुनि पुनि टकटोबत॥

४३. हरि बाबा (सं० १९४१–सं० २०३६)—विद्वद्वर डॉ० अवधबिहारी लाल कपूर ने ब्रज–भक्तों से सम्बन्धित अपनी पुस्तक–माला के पंचम खण्ड में सन्त हरि बाबा का विस्तृत वृत्तान्त लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि हरि बाबा का जन्म होशियारपुर (पंजाब) के मेंगरवाल ग्राम निवासी एक सिक्ख परिवार में हुआ था। उनका पूर्व नाम दीवान सिंह था। उन्होंने डाक्टरी की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी; किन्तु उनका मन सांसारिक कार्यों में नहीं लगा। वे घर–बार से विरक्त होकर संन्यासी हो गये और विभिन्न स्थानों में घूमते–फिरते

ज्ञानार्जन करने के साथ–ही–साथ जन–हित के कार्य करते रहे थे। उनके अथक परिश्रम से बुलंदशहर जिला के खादर में ४५ मील का एक विशाल बाँध बना था, जिससे गंगा की बाढ़ पर काबू पाया जा सका था।

यद्यपि वे ज्ञानमार्गी संन्यासी थे, तथापि उनकी निष्ठा हरि–भक्ति और हरि–कीर्तन के प्रति अधिक थी। उसकी प्रेरणा उन्हें सुप्रसिद्ध संत उड़िया बाबा जी और माँ आनन्दमयीजी से प्राप्त हुई थी। हरि–कीर्तन में अधिक रुचि होने के कारण वे 'हरि बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। अपने उत्तर जीवन में वे वृन्दावन आ गये थे; वहाँ पर उनकी रुचि रासलीलानुकरण के प्रति अत्यधिक हो गई और वे रास–रस में निमग्न रहने लगे। श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं को रासमंच पर प्रदर्शित होता देखकर उनकी इच्छा श्री चैतन्यदेवजी की 'गौरांग लीलाओं' को भी उसी शैली में प्रदर्शित कराने की हुई; किन्तु उसके लिए चैतन्य–चरित पर आधारित विविध लीलाओं का प्रणयन कराने और रासधारियों को उनका प्रशिक्षण दिलाने का गुरुतर कार्य करना था। संयोग से उसी काल में वृन्दावन के विरक्त सन्त स्वामी प्रेमानन्द के मन में भी वैसा ही विचार उत्पन्न हुआ था। अतएव उन्होंने हरिबाबा की इच्छानुसार कई छोटी–बड़ी गौरांग लीलाओं को ब्रजभाषा में रचा और रासधारियों को उनका प्रशिक्षण देकर उनसे उन्हें रासमंच पर प्रदर्शित कराया था। इस प्रकार हरि बाबा की प्रेरणा से रासलीलानुकरण के क्षेत्र का विस्तार हुआ और 'गौरांग लीला' के रूप में रासानुकरण के नये अध्याय का शुभारम्भ किया गया। इस समय कृष्ण–लीलाओं के साथ ही साथ गौरांग लीलाएँ भी समान रूप से लोकप्रिय हैं। इसका श्रेय हरि बाबा और स्वामी प्रेमानन्द जैसे दो सन्त महानुभावों को है।

'कृष्ण लीला' हो अथवा 'गौरांग लीला' हरि बाबा इन सबका अत्यन्त भक्ति–भाव से रसास्वादन करते थे। वे लीला–

प्रदर्शन के समय आरम्भ से अन्त तक रास मंच के निकट चँवर अथवा पंखा लिए हुए खड़े रहते थे। जब 'स्वरूप' सिंहासन पर विराजमान होते, तब वे उन पर चँवर डुलाते अथवा पंखा झला करते थे। उनका वह नियम उनके अन्तकाल तक चलता रहा था। सं० २०१६ में वे अत्यन्त रुग्ण हो गये थे। उस समय माँ आनन्दमयी जी काशी में थीं। जब उन्हें हरि बाबा की रुग्णता का समाचार मिला, तब वे बड़ी चिन्तित हुईं और अपने भक्तजनों को भेजकर उन्हें काशी बुला लिया। वहाँ उनका यथोचित उपचार किया गया; किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। अन्त में ३ जनवरी सन् १९७० को वे अपने नश्वर शरीर को छोड़कर परम धाम को प्रस्थान कर गये।

४४. ठा० अभयराम (विद्यमानता २०वीं शताब्दी उत्तरार्ध)—उनका निश्चित समय और प्रामाणिक जीवन–वृत्त अज्ञात है। ऐसा जान पड़ता है; वे ठाकुर जाति के सामान्य भक्त–कवि थे और वृन्दावन में एक बगीची में रहा करते थे। उनकी वृन्दावन–निष्ठा अनुपम थी। जिस किसी का भी वृन्दावन से सम्बन्ध था, उन सबमें वे पूज्य भाव रखते थे। उनका एक छोटा–सा ग्रन्थ 'श्री वृन्दावन रहस्य विनोद' है, जो उनकी भावना का द्योतक है। इसके तीन भाग हैं। प्रथम भाग में वृन्दावन के मन्दिर–देवालयों के प्रति पूज्य भाव प्रकट किया गया है द्वितीय भाग में वृन्दावन के पशु–पक्षी, जीव–जन्तु आदि का गुण–गान किया गया है और तृतीय भाग में विभिन्न जातियों तथा धन्धे वालों की प्रशंसा है।

अभयरामजी को इस प्रकार के कथन करने की प्रेरणा कदाचित् भक्तवर नागरीदासजी कृत 'बन–जन–प्रशंसा' नामक ग्रन्थ से प्राप्त हुई थी। किन्तु नागरीदासजी का कथन अभयरामजी की अपेक्षा अधिक कवित्तपूर्ण है। उदाहरण के लिए 'डुकरिया' वृद्धा से सम्बन्धित दोनों की रचनाएँ प्रस्तुत हैं–

नागरीदासजी–

धन–धन वृन्दावन की डुकरियाँ।
निर्विकार निरदूषित तन ह्वै, अति कृश कूब सुकरियाँ॥
पूस मास में जमुना न्हावैं, डरत नहीं मरिवे सों।
काल हू कौ बस चलत न तिन पै, परम भक्ति करिवे सों॥
लै लठिया कर, कटि नवाय कै, बड़े भोर ही धावें।
चार कोस परिक्रमा दै कै, नित 'नागर' घर आवें॥

अभयरामजी–

धन–धन वृन्दावन की डुकरियाँ।
प्रात होत जमुना में नहावैं, सुकरी जाय सुकरियाँ॥
आसन–बासन इनके नाँही, ना हड़ियाँ ना परियाँ।
'अभयराम' ये हू बड़भागिन, इनकौं त्यार लकड़ियाँ॥

अभयरामजी के कथन की शैली विनोदपूर्ण है। इसीलिए रासलीलानुकरण में हास्य–विनोद का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए उनकी रचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। उनका ग्रन्थ 'वृन्दावन रहस्य विनोद' सं० २००९ में वृन्दावन से प्रकाशित हो चुका है।

४५. स्वामी प्रेमानन्द (वर्तमान[1])–ये एक विरक्त सन्त हैं, किन्तु 'रासलीलानुकरण' में अत्यधिक अनुरक्त रहे हैं। रासमंचीय लीला साहित्य के आधुनिक रचयिताओं में इनका प्रमुख स्थान है। इनकी रचना–चातुरी और मौलिक सूझ–बूझ अनुपम है। इनके कृतित्त्व को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–

१. श्रीकृष्ण–लीला, २. श्रीगौरांग लीला और ३. प्रासंगिक प्रवचन।

१. श्रीकृष्ण–लीला–ये लीलाएँ मूलतः परम्परागत हैं, किन्तु इन पर प्रेमानन्दजी का रंग दृष्टव्य है। इनकी संख्या अधिक है। इनमें प्रमुख हैं–१. पाण्डे लीला, २. चोरी माधुरी लीला, ३. गोचारण लीला, ४. गोमय शृंगार लीला, ५. फुलवारी लीला, ६. फल–दान

१. यह तथ्य पुस्तक लेखन के समय का है अतः उसी परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जाय।

लीला, ७. महारास लीला और ८. उद्धव लीला। इनमें रसिया आदि लोकगीतों की बहार है। 'गोमय शृंगार लीला' मंचीय लीला साहित्य की नवीन कृति है। इसमें गोपियों द्वारा (गोबर) से श्रीकृष्ण का शृंगार किये जाने का भावपूर्ण वर्णन है।

२. श्री गौरांग लीला—गौरांग महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवजी के अलौकिक चरित्र पर आधारित इन लीलाओं की रचना की गई है। श्री हरि बाबा की भाँति स्वामी प्रेमानन्द भी महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवजी के प्रति अनुरक्त हैं। इन दोनों महात्माओं के कारण रासमंच के लिए नई भाव-भूमि प्राप्त हुई है।

३. प्रासंगिक प्रवचन—यह स्वामी प्रेमानन्दजी की मौलिक देन है। इन प्रवचनों को ब्रजभाषा गद्य में रचा गया है। लीलानुकरण के अवसर पर प्रासंगिक रूप से प्रेम-भक्ति की सैद्धान्तिक व्याख्या के लिए ये प्रवचन अत्यन्त सार्थक सिद्ध होते हैं। इनसे दर्शक के हदय में भक्ति-भावना जागृत होती है।

स्वामी प्रेमानन्दजी अपनी इन नवीन कृतियों का प्रशिक्षण भी रासमण्डलियों के 'स्वामियों' और उनके स्वरूपों को देते रहे हैं। इससे उनके प्रदर्शन में सुविधा हुई है। इस प्रकार स्वामीजी का अभिनयात्मक योगदान भी महत्त्वपूर्ण है।

४६. स्वामी जयरामदास (वर्तमान[१])—ये अयोध्या में जन्मे हुए रामानन्दी सन्त हैं; किन्तु विगत अनेक वर्षों से वृन्दावन में निवास कर भजन-ध्यान और भक्ति-काव्य की रचना करने में प्रवृत्त रहे हैं। पहले इन्होंने गो० तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' के अनुकरण पर 'श्री रामानन्दायन' ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें स्वामी रामानन्दजी का पावन चरित्र वर्णित है। चूँकि जयरामदासजी रामानन्दी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, अतः इनकी निष्ठा भगवान रामचन्द्रजी के प्रति होनी स्वाभाविक है; किन्तु ये परब्रह्म श्रीकृष्ण के प्रति भी समान रूप से आस्थावान रहे हैं। इन्होंने इन दोनों दिव्य

---

१. यह तथ्य पुस्तक लेखन के समय का है अतः उसी परिप्रेक्ष्य में पढ़ा जाय।

विभूतियों की लीलाओं का कथन रास–शैली में किया है।

भगवान राम की लीला से सम्बन्धित इनकी एक रचना 'फुलवारी लीला' है, जिसमें जनकपुर की पुष्प–वाटिका में राम–सीता के प्रथम मिलन की लीला का भावपूर्ण कथन ब्रजभाषा के माध्यम से किया गया है। 'रामलीला' के अवसर पर कुछ रासमण्डलियाँ इस 'फुलवारी लीला' का प्रदर्शन करती हैं। कृष्ण–रास की शैली पर राम–कथा को लीला–मंच पर प्रदर्शित कराने में स्वामी जयरामदासजी को पर्याप्त सफलता मिली है। 'फुलवारी लीला' का प्रकाशन भी वृन्दावन से किया जा चुका है।

लीला–पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से सम्बन्धित स्वामी जयरामदास जी की एक रचना 'चित्रा सखी की लीला' है, जिसे श्री रामनारायण अग्रवाल ने स्वामी हरिद्वारीलाल की रासमण्डली द्वारा सफलता पूर्वक प्रदर्शित होते हुए देखा है। इससे सम्बन्धित उनके कथन का सारांश इस प्रकार है–

'एक बार बालक कृष्ण ने माता यशोदा से कहा कि वे उनके खेलने के लिए उनका एक चित्र बनवा दें। इस पर यशोदाजी ने ब्रज की विख्यात चित्रालेखन करने वाली बाल ब्रह्मचारिणी गोप–बाला चित्रा सखी को बुलवाया और उससे चित्र बनाने को कहा। चित्रा सखी ने पूछा–इसके एवज में उसे क्या मिलेगा?' यशोदाजी ने उत्तर दिया–'मैं तुझे मुँहमाँगा पुरस्कार दूँगी।' चित्रा सखी राजी हो गई। चित्र की रूप–रेखा तैयार करने के लिए जब वह बालक कृष्ण के पास गई; तब उनके अलौकिक रूप–सौन्दर्य को देखकर वह मुग्ध हो गई। उसका ब्रह्मचर्य विचलित होने लगा और वह चेष्टा करने पर भी चित्रालेखन नहीं कर सकी। अन्त में राधाजी की कृपा प्राप्त कर वह चित्र बनाने में सफल हो सकी थी। जब उसने उस चित्र को यशोदाजी को दिया, तो वे उसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होंने चित्रा सखी से पुरस्कार माँगने को कहा। उसने श्रीकृष्ण को

ही माँगा। उसकी विचित्र माँग पर यशोदाजी चकित रह गईं; किन्तु वचनबद्ध होने के कारण वे विह्वल होकर कहने लगीं–

मो निरधनि कौ धन गिरिधारी।
मेरौ छगन–मगन मनमोहन, मम आँगन कौ चंद बिहारी॥
लखि याकौ मुख–चंद जियत हौं, या बिन सब जग में अँधियारी।
या के बदले जो कछु चाहैं, देऊँ रतन–धेनु धन भारी॥

किन्तु चित्रा सखी और कुछ लेने को राजी नहीं हो रही थी। अन्त में श्रीकृष्ण ने उसे वरदान देकर कहा–'मैं तुझसे कभी दूर नहीं होऊँगा।' तब वह प्रसन्नतापूर्वक बिना कुछ लिए ही चली गई। यह लीला किसी पौराणिक कथा पर आधारित नहीं है; वरन् स्वयं लेखक ने अपनी अनुभूति और भावना से इसकी रचना की है।[१]

स्वामी जयरामदासजी ने इन लीलाओं के अतिरिक्त गो० तुलसीदास कृत 'विनय पत्रिका' के अनुकरण पर 'श्रीकृष्ण विरह पत्रिका' नामक एक और ग्रन्थ भी लिखा है, जो उनकी कृष्ण–भक्ति की तीव्रता को द्योतक है।

४७. आचार्य पुरुषोत्तम गोस्वामी (वर्तमान)–आप वृन्दावन के अत्यन्त प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध धर्माचार्य हैं। आप चैतन्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं और श्री राधारमणजी के मन्दिर के सेवाधिकारी गोस्वामी हैं। आपने श्रीमद्‌भागवत के कथा–प्रवचन करने में अच्छी ख्याति अर्जित की है। वृन्दावन के ऐतिहासिक स्थल 'जयसिंह घेरा' को प्राप्त कर आपने उसमें 'गम्भीरा' नामक विशाल रंगमंच का निर्माण कराया है, जो आधुनिक साज–सज्जा और उपकरणों से सुसज्जित है। यहाँ प्रतिवर्ष श्रावण और फाल्गुन के महीनों में आप रासलीलानुकरण के विविध कार्यक्रम अपने निर्देशन में सम्पन्न कराते हैं। इनमें श्रीराधा–कृष्ण की 'अष्टयाम सेवा' और 'श्रीगौरांग लीला' के लीलाभिनय विशेष रूप से दर्शनीय होते हैं।

---

१. ब्रज का रास रंगमंच, (पृष्ठ २३१–२३२) पर आधारित।

आप संस्कृत, ब्रजभाषा और बंगला के अच्छे विद्वान हैं और इन भाषाओं के भक्त–कवियों की रचना से आपने रासलीलानुकरण को सजाने–सँवारने में अपनी प्रतिभा का सदुपयोग किया है। आपने रासमंच को 'काकमाल लीला' 'राधाकुण्ड मिलन लीला' तथा 'बाजीगर लीला' जैसी नवीन लीलाएँ प्रदान की हैं। सारांश यह है कि आपने रासलीलानुकरण और रासमंच को विविध प्रकार से समृद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आपके यशस्वी पुत्र डॉ० श्रीवत्स गोस्वामी सब प्रकार से आपके सुयोग्य उत्तराधिकारी हैं।

४८. श्री रामनारायण अग्रवाल (वर्तमान)—आप मथुरा के एक मध्यमवर्गीय अग्रवाल वैश्य परिवार से सम्बन्धित हैं। आपका जन्म सं० १९८० में हुआ है। आप जन्मजात कलाकार हैं। बचपन से ही आपकी रुचि रामलीला और रासलीला के साथ ही साथ 'सांगीत' एवं 'भगत'–नौटंकी आदि कला–रूपों के प्रति रही है और समय–समय पर इनमें सक्रिय योग भी देते रहे हैं। रासलीला–नुकरण के प्रति आपकी अधिक अभिरुचि है। ब्रज के प्रसिद्ध रासधारी स्व० लक्ष्मण स्वामीजी, स्व० लाड़िलीशरणजी तथा वेदरामजी, हरिगोविन्दजी, रामस्वरूपजी आदि से आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जब आप 'आकाशवाणी' की सेवा में ब्रज–कार्यक्रम का संचालन करते थे, तब आपको अनेक–कलाकारों के सम्पर्क में आने का अनुपम सुयोग प्राप्त हुआ था। उससे आपकी कलाभिरुचि और भी अधिक समृद्ध हो गई है।

आपने 'ब्रज कला केन्द्र' की स्थापना कर उसके अन्तर्गत 'ब्रजलीला–मंच' नामक रासमण्डली का संचालन भी कुछ समय तक किया था। उक्त रासमण्डली द्वारा विगत 'वल्लभ–सूर पंचशती' के अवसर पर आपकी रची हुई 'वल्लभ लीला' और 'सूरदास लीला' का अभिनयात्मक प्रदर्शन किया गया था, जो अत्यन्त सफल रहा था। उसी अवसर पर 'कुरुक्षेत्र में श्याम–श्यामा मिलन' की लीला का भी प्रदर्शन हुआ था। इन सभी लीलाओं का प्रस्तुतीकरण

स्वामी हरिगोविन्दजी और स्वामी रामस्वरूपजी जैसे कुशल रासधारियों की मण्डलियों ने किया था।

आपने काव्य, नाटक और लोक–साहित्य से सम्बन्धित कई ग्रन्थों की रचना की है। इनमें 'कूवरी' (ब्रजभाषा प्रबन्ध काव्य), 'सूरदास' (नाटक), 'सांगीत' (लोक नाट्य) और 'ब्रज का रास रंगमंच' (रासलीलानुकरण) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। इन विविध कला–रूपों की उन्नति करने के लिए आपसे अभी बहुत–कुछ आशाएँ हैं।

'लीला'-प्रदर्शक कलाकार और उनकी रास-मण्डलियाँ–

'लीला'-प्रदर्शन की पृष्ठभूमि–भक्तिमाल में जब कृष्णो–पासक धर्माचार्यों एवं कृष्ण–भक्त महानुभावों ने श्रीकृष्ण की लुप्तप्राय रासलीला को पुनः प्रचलित करने का निश्चय किया, तब वे रासलीला–नुकरण की आयोजना करने का उपक्रम करने लगे। उसके लिए उन्होंने अपने अनुयायी कतिपय ब्राह्मण कलाकारों को उसके अभिनयात्मक प्रदर्शन की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्त्व सौंपा था। वे धर्मप्राण उक्त उत्तरदायित्त्व की पूर्ति के लिए गायन एवं नृत्य–नाट्य निपुण कुछ ब्राह्मण कलाकार बालकों की खोज करने लगे। किन्तु उनके मिलने में उन्हें बड़ी कठिनाई होने लगी। उसके समाधान के लिए उन्होंने अपने ही बालकों को गायन एवं नृत्य–नाट्य की शिक्षा देकर उनसे कृष्ण, राधा और गोपियों के रूप में अभिनयात्मक प्रदर्शन कराना आरम्भ किया। वे 'लीला'–प्रदर्शक कलाकार 'रासधारी' कहे जाने लगे और अभिनयकर्त्ता बालकों को 'स्वरूप' कहा जाने लगा। उन रासधारियों के कई 'घराने' बने और उनकी रासमण्डलियों का गठन हुआ। मण्डलियों के मुखिया 'स्वामीजी' कहे जाते थे। जो विविध भक्ति–सम्प्रदायों से सम्बन्धित होते थे। वे अपने बालकों को यथोचित प्रशिक्षण देकर उनसे श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का अभिनयात्मक प्रदर्शन कराते थे, जो प्रायः उनकी साम्प्रदायिक

मान्यताओं के अनुकूल होता था। उनकी रासमण्डलियाँ सेवा–भावी थीं, किन्तु कुछ का गठन व्यावसायिक आधार पर भी किया गया था।

रास-मण्डलियों की परम्परा—अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि रास–मण्डलियों की परम्परा का आरम्भ ब्रज के करहला ग्राम निवासी कुछ वल्लभ सम्प्रदायी ब्राह्मण परिवारों ने किया था। उनके अनुकरण पर कुछ अन्य स्थानों में भी रास–मण्डलियों का गठन हुआ था। वे मण्डलियाँ सं० १६२० के लगभग प्रकाश में आई थीं; इसके कुछ स्फुट प्रमाण मिलते हैं। इस ग्रन्थ के विगत पृष्ठ ७५ में गो० श्री विठ्ठलनाथजी द्वारा उनके तत्कालीन निवास–स्थल अड़ैल में कराये गये जिस 'रासानुकरण' का उल्लेख हुआ है, उसे किसी रासमण्डली ने नहीं, वरन् स्वयं विठ्ठलनाथजी ने ही सम्पन्न किया था। उस आयोजन का काल सं० १६२० से कुछ पहले का है। किन्तु विगत ब्रज के चन्द्र सरोवर पर और पृष्ठों पर उज्जैन में रासानुकरण के जिन आयोजनों का उल्लेख हुआ है, वे रास–मण्डलियों द्वारा ही कराये गये थे। उनका काल सं० १६२५ से सं० १६३० तक के लगभग ज्ञात होता है। वे मण्डलियाँ सम्भवतः करहला के वल्लभ सम्प्रदायी रासधारियों की थीं।

रास–मण्डलियों के गठन की परम्परा से सम्बन्धित अब तक जो प्रमाण मिले हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि पहले करहला गाँव के वल्लभ सम्प्रदायी कलाकारों ने, फिर वृन्दावन–कामबन के राधावल्लभीय कला–कोविदों ने और तत्पश्चात् अन्य स्थानों के विविध सम्प्रदायी कला–मर्मज्ञों ने अपनी–अपनी रास–मण्डलियों का गठन कर रासानुकरण एवं लीलानुकरण की परम्परा को आगे बढ़ाया था। यहाँ पर उक्त रास–मण्डलियों का क्रमानुसार संक्षिप्त विवरण लिखा जाता है।

करहला की वल्लभ सम्प्रदायी रास-मण्डलियाँ—'रास–सर्वस्वकार ने पहले घमण्डदेवजी के प्रसंग में करहला निवासी

उदयकरण–खेमकरण नामक दो ब्राह्मण बन्धुओं की और फिर नारायण भट्ट जी के प्रसंग में उसी गाँव के रामराय–कल्याणराय की रास–मण्डलियों का उल्लेख किया है। सर्वश्री घमण्डदेव जी और नारायण भट्ट जी के काल की संगति से उक्त रासमण्डलियों का गठन १७वीं शती के उत्तरार्द्ध के पश्चात् होना सम्भव नहीं है। किन्तु 'रास–सर्वस्व' में उदयकरण के पुत्र विक्रम को आमेर के सवाई राजा जयसिंह के समय में विद्यमान बतलाया गया है, जिसका काल १८वीं शती का अन्तिम दशक होता है।

कालावधि की इस विसंगति के कारण ही हमने विगत पृष्ठों में घमण्डी नामक कई महानुभावों के होने की सम्भावना व्यक्त की है। उन्हीं में से एक घमण्डी स्वामी करहला निवासी थे, जिन्होंने वहाँ के कलाकार उदयकरण–खेमकरण के सहयोग से रासमण्डली का गठन किया था। वे घमण्डी स्वामी और उदयकरण–खेमकरण वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। करहला गाँव की इन मण्डलियों का उल्लेख यहाँ कुछ विस्तार से किया जाता है।

घमण्डी स्वामी और उदयकरण–खेमकरण की रास–मण्डलियाँ—ब्रज की उन प्रारम्भिक रासमण्डलियों के संगठनकर्त्ता घमण्डी स्वामी और उदयकरण–खेमकरण नामक ब्राह्मण बन्धुओं की विद्यमानता का निश्चित काल अज्ञात है। किन्तु अनुमानतः वे गो० विट्ठलनाथजी के उत्तर काल (सं० १६२०–सं० १६४२) में उपस्थित रहे होंगे। 'रास–सर्वस्व' कार ने उदयकरण के पुत्र का नाम विक्रम बतलाया है और उसे आमेर के सवाई राजा जयसिंह के उत्कर्ष काल (सं० १७८०–सं० १८००) में विद्यमान कहा है। किन्तु सवाई जयसिंह के काल की संगति से विक्रम उदयकरण का पुत्र न होकर उसका कोई वंशज जान पड़ता है। उनका घराना वल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी था; और उनकी रास–मण्डलियाँ सम्भवतः व्यवसायी थीं।

जैसा पहले इस ग्रन्थ में लिखा जा चुका है कि 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अन्तर्गत दो वार्ताओं में रास–मण्डलियों और उनके द्वारा 'लीलानुकरण' के प्रदर्शन किये जाने के उल्लेख मिलते हैं। उनमें से पहला उल्लेख 'चतुर्भुजदास की वार्ता' का है। उसके अनुसार गोवर्धन क्षेत्रवर्ती चन्द्रसरोवर पर रासधारियों ने प्रदर्शन किया था।[१] उसका काल सं० १६२७ ज्ञात होता है।

दूसरा उल्लेख 'कृष्ण भट्ट की वार्ता' का है। उससे ज्ञात होता है कि कृष्ण भट्ट के निवास स्थान उज्जैन में रासधारियों ने दो बार 'लीलानुकरण' का प्रदर्शन किया था।[२] उनका काल सं० १६३० के लगभग जान पड़ता है। उक्त प्रसंगों से ज्ञात होता है कि सं० १६२७ से कुछ पहले ही रासधारियों की व्यवसायी मण्डलियों का गठन हो चुका था, जो ब्रजमण्डल और उससे बाहर भी 'लीलानुकरण' किया करती थीं। वे मण्डलियाँ वल्लभ सम्प्रदाय में आस्था रखने वाले करहला निवासी रासधारियों की हो सकती हैं।

विक्रम की रासमण्डली–विक्रम अपने समय का यशस्वी रासधारी था। पहले वह अपने पिता की रासमण्डली में कृष्ण का 'स्वरूप' बनकर अभिनय करता था। बाद में उसने अपने निजी मण्डली का गठन कर लिया, जिसका वह 'स्वामी' बना था। उसने आमेर–नरेश सवाई राजा जयसिंह को अपनी कला–कुशलता से प्रसन्न कर उनके द्वारा अपने गाँव करहला में 'महल–हवेली' का निर्माण कराया था। उसके वंशज 'महल वारे' और 'हवेली वारे' रासधारी कहलाते हैं। उन प्राचीन महल–हवेलियों के ध्वंसावशेष करहला क्षेत्र में अब भी देखे जा सकते हैं।

करहला की चैतन्य सम्प्रदायी रासमण्डली–'रास–सर्वस्व' से ज्ञात होता है कि चैतन्य सम्प्रदायी दाक्षिणात्य विद्वान श्री नारायण

१. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (द्वारकादास पारीख) तृतीय खण्ड, पृष्ठ ३४५
२. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (द्वारकादास परीख) प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४८।

भट्ट जी ने करहला के दो सनाढ्य ब्राह्मण रामराय एवं कल्याणराय को अपना शिष्य बनाकर उनसे एक रासमण्डली का गठन कराया था। उन रामराय एवं कल्याणराय का उल्लेख 'रास–सर्वस्व' के अतिरिक्त भक्तमालादि किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता है। नाभाजी कृत भक्तमाल में जिन रामराय और कल्याण राय नामक भक्तजनों का उल्लेख हुआ है, वे इन्हीं नामों के पूर्वोक्त रासधारियों से भिन्न थे।

नाभाजी ने रासानुकरण से सम्बन्धित जिन भक्त–कलाकारों की चर्चा की है, उनमें सर्वप्रथम श्री नारायण भट्ट जी और फिर उनके प्रीति–भाजन ब्रजवल्लभ नर्त्तक के नाम हैं। इस प्रकार रासलीला–नुकरण का आयोजन करने वाले प्रामाणिक कलाकारों में उन दोनों का महत्त्व निर्विवाद है। उनका सम्बन्ध करहला गाँव से नहीं था; फिर भी वहाँ के रामराय एवं कल्याणराय को ही रासमण्डली–गठन के लिए उपयुक्त समझकर उन्होंने करहला की रास विषयक विशेषज्ञता को स्वीकार किया है। वस्तुतः करहला में ही रासधारियों की समृद्ध परम्परा रही है; चाहे वे वल्लभ सम्प्रदायी हों और चाहे चैतन्य सम्प्रदायी।

वृन्दावन-कामवन की राधावल्लभीय रासमण्डलियाँ– राधावल्लभ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में रासमण्डलियों के गठन की प्रेरणा देने वाले और स्वयं 'रासलीलानुकरण' में रुचि रखने वाले अनेक भक्तजनों का उल्लेख मिलता है। उनमें से एक श्री हितहरिवंशजी के प्रिय सखा भैगाँव निवासी नरवाहन का वंशज सुलखान था। उसका उपस्थितिकाल १७वीं शती का अन्तिम दशक है। चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'रसिक अनन्य परिचावली' नामक रचना के एक छप्पय में सुलखान और उसके द्वारा 'रास रचने' का उल्लेख इस प्रकार है–

विदित वास भैगाँव, सकल ब्रज जन मन भावै।
महत सभा में रंग चोज, चाइनु बरसावै॥

नरवाहन–कुल उदित, भजन–रस गुन कर भारी।
श्री हरिवंश प्रसाद, भक्ति प्रेमा अधिकारी॥
परिकर जुत हरि–भृत्य पद, दिन–दिन जाकी अधिक रति।
'रास–रचन' कों विपुल मति, गान–गहर सुलखान अति॥१९३॥[1]

कामवन निवासी मोहनदास–माधुरीदास की रासमण्डली– राधावल्लभीय साहित्य में रासधारियों के ऐसे कई घरानों का उल्लेख है, जिनकी परम्परागत रास–मण्डलियाँ थीं। वे मण्डलियाँ व्यावसायिक आधार पर गठित हुई थीं। उनमें से एक मण्डली राधावल्लभीय गोस्वामी दामोदर वरजी (सं० १६३४–सं० १७१४) के शिष्य कामबन निवासी मोहनदास नामक ब्राह्मण की थीं। उसकी रासमण्डली में उसके रूपवान पुत्र राधाजी का वेश धारण कर अभिनय करता था। इसका उल्लेख गोविन्द अली कृत 'भक्त–गाथा' (सं० १८४०) में इस प्रकार हुआ है–

श्री हित मोहनदास, विप्र कामाँ के बासी।
सुत माधुर्य सरूप, सकल गुन–गन के रासी॥
प्रिया वेश अति फवै, रास मण्डली बनाई।
मिटे त्रिगुन विस्तार, रहै हरिवंश सहाई॥
रसिकन मुख ऐसी सुनी, सर्वस महा प्रसाद की।
श्री दामोदर वर कृपा तें, पगे भावना रास की॥[2]

गो० दामोदर वरजी हितजी के प्रपौत्र थे। वे रास के बड़े प्रेमी और प्रोत्साहनकर्त्ता थे। उनके स्थान पर मोहनदास का नियमित रूप से रास हुआ करता था। उन्होंने अपने उत्तराधिकार–पत्र में भी उसी प्रकार के आयोजन होते रहने की व्यवस्था की थी।[3] मोहनदास के बाद उसके पुत्र माधुरीदास ने रासमण्डली का संचालन किया

---

१. श्रीकिशोरीशरण 'अलि' के लेख–'रासलीलानुकरण का उदय और उसकी परम्परा (ब्रज भारती, मार्गशीर्ष सं० २०१६)।
२. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य; पृष्ठ २८८।
३. श्रीकिशोरीशरण 'अलि' का लेख (ब्रज–भारती, मार्गशीर्ष सं० २०२६) पृष्ठ ५८

था। वह बचपन से ही रास में भाग लिया करता था, अतः वह इस कला का विशेषज्ञ था। चाचा वृन्दावनदास कृत 'रसिक अनन्य परिचावली' में माधुरीदास को रास–विलास का प्रकाशक और रसिक भक्तों को सुख देने वाला बतलाया गया है–

मोहन सुत माधुरी, फुरी रसबानी गानी।
रास विलास, प्रकास, रसिक भक्तन सुख दानी॥[1]

किशोरीदास–हरिनाथ की रासमण्डली–राधावल्लभीय रासधारियों का दूसरा घराना किशोरीदास का था। चाचा वृन्दावनदासजी ने किशोरीदास को श्री हितहरिवंशजी के छोटे पौत्र श्री ब्रजभूषणजी (विद्यमानता १७वीं शती) का शिष्य बतलाया है और उसके द्वारा स्थान–स्थान पर रासलीला किये जाने का इस प्रकार उल्लेख किया है–

ठौर–ठौर ब्रजभूमि, विलास द्रगन दरसाये।
श्रीराधाबल्लभ इष्ट भाव सों सदा लड़ाये॥
श्री हरिवंश गिरा प्रसंग, गायक बहु भायन।
नित्य केलि बनराज अखंडित बरनी चायन॥
श्री ब्रजभूषन परसाद गुरु, लीला प्रकट प्रकास कों।
रास–रचन सुख–सचन मति, यह कृपा किसोरीदास को॥[2]

श्री किशोरीदास की रासमण्डली द्वारा होरी–वसंत की रंग भरी लीलाओं का प्रदर्शन बड़े उल्लास के साथ रासमंच पर किया जाता था। इसका उल्लेख चाचा वृन्दावनदास ने इस प्रकार किया है–

होरी के रंग मन रँग्यौ जास। अस कोविद रसिक किसोरीदास।
ब्रज जनन भीर रहै सदा पास। रसिकन मिलि रचैं बसंत रास॥

(बसंत प्रबन्ध, सं० ४१)

किशोरीदास के बाद उसके पुत्र हरिनाथ ने रासमण्डली का

---

१. वही, पृष्ठ ५८।
२. रसिक अनन्य परिचावली, छप्पय सं० १५६।

संचालन किया था। चाचाजी ने हरिनाथ को युगलदासजी का समकालीन बतलाते हुए उसकी रासलीला की प्रशंसा की है—

सुवन किशोरीदास के, अति रसज्ञ हरिनाथ।
निरखै रास—विलास बहु, जुगलदास रहि साथ॥

(गुरु कृपा चरित्र बेली)

प्रगट रास—लीला करन, को दूजौ हरिनाथ बिनु।

(रसिक अनन्य परिचावली)

श्री किशोरीरमण 'अलि' ने युगलदास के उपस्थिति काल (सं० १७९२) के आधार पर हरिनाथ का समय सं० १७६० तक अनुमानित किया है। हरिनाथ के चार पुत्र नवनीतदास, ब्रजदास, शोभाराम और कृष्णदास थे। उन्होंने हरिनाथ के बाद रासमण्डली का संचालन किया था। वे सं० १८०० तक विद्यमान थे।[१]

वृन्दावन निवासी स्वामी बालकृष्ण की रासमण्डली— स्वामी बालकृष्ण राधावल्लभीय गोस्वामी हरिलालजी के शिष्य थे। वे विरक्त साधु तथा रसिक भक्त थे और वृन्दावन के रासमण्डल नामक स्थल पर निवास करते थे। उन्होंने अपनी निजी रासमण्डली का गठन किया था। उसके साथ वे देशाटन करते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय की प्रेमोपासना और रस—भक्ति का प्रचार विविध लीलाओं के प्रदर्शन द्वारा किया करते थे। उनके शिष्य विख्यात लोक—कवि एवं लोक—गायक चंदसखीजी थे। उनकी रचनाओं की कवि—छाप 'चंदसखी भज बालकृष्ण छवि' ने उनके नाम के साथ उनके गुरु श्री बालकृष्ण स्वामी के नाम को भी अमर कर दिया है। बालकृष्ण स्वामी की विद्यमानता का काल १८वीं शती का पूर्वार्द्ध है।

चाचा वृन्दावनदास जी ने गो० हरिलाल जी के कृपा—पात्र श्री बालकृष्ण स्वामी और उनकी रास—मंडली का उल्लेख इस प्रकार किया है—

---

१. ब्रज—भारती (मार्गशीर्ष, सं० २०१६)।

धस्यौ कर गुरु श्री हरिलाल माथ। भए बालकृष्ण स्वामी सनाथ॥
फिरैं रासमण्डली लिए साथ। फागुन सुखेल की सोंज हाथ॥[1]

चंदसखीजी की रासमण्डली (विद्यमानता सं० १७००–१७९०)—वे बालकृष्ण स्वामी के शिष्य और राधावल्लभ सम्प्रदाय के निष्ठावान सेवक थे। उनका जीवन–वृत्त इस ग्रन्थ के विगत पृष्ठों में लिखा जा चुका है। वे रासमण्डली और अपने साथी सन्तों की जमात के साथ देशाटन करते हुए प्रेमोपासना एवं रस– भक्ति का प्रचार किया करते थे। उन्होंने अनेक पदों और लोकगीतों की रचना की थी; जिन्हें वे तथा उनके संगी–साथी गाते थे और उनके आधार पर उनकी रासमण्डली श्रीराधा–कृष्ण की विविध लीलाओं का अभिनयात्मक प्रदर्शन करती थी। इस प्रकार उन्होंने ब्रजमण्डल, राजस्थान, बुन्देलखण्ड और मालवा के विस्तृत भू–भाग को रससिक्त कर दिया था।

चंदसखी जी की रासमण्डली सहित वृन्दावन एवं कामबन की पूर्वोल्लिखित सभी मण्डलियाँ व्यवसायी न होकर सेवा–भावी थीं। किन्तु वृन्दावन की कतिपय व्यवसायी रासमण्डलियों ने भी 'रासलीलानुकरण' के प्रचार–प्रसार में अच्छा योग दिया था।

अन्य स्थानों एवं इतर सम्प्रदायों की रासमण्डलियाँ—चंदसखीजी के समय तक ब्रजमण्डल के अनेक स्थानों में रास–मण्डलियों का गठन किया जा चुका था। वे मण्डलियाँ अधिकतर वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित थीं। श्री नारायण भट्ट जी की प्रेरणा से रामराय–कल्याणराय ने जिस रासमण्डली का गठन किया था, वह चैतन्य सम्प्रदाय से सम्बन्धित थीं। उन सब मण्डलियों का उल्लेख इस ग्रन्थ के विगत पृष्ठों में किया जा चुका है।

श्री नारायण भट्ट जी के समय से बरसाना में जिस 'बूढ़ी लीला' का प्रदर्शन किया जाने लगा था, उसका आयोजन निम्बार्क

---

१. वसंत का 'चतुर्थ प्रबन्ध' छन्द सं० सं० ५१।

सम्प्रदायी मण्डलियाँ करती रही हैं। इन मण्डलियों के सम्प्रदायों की पहचान उनके 'स्वामियों और 'स्वरूपों' के भाल पर लगे हुए तिलकों से होती है। तिलकों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के स्वरूपों द्वारा धारण किये हुए मुकुटों की 'लटक' (झुकाव) से भी उनके सम्प्रदायों की पहचान की जाती है। जैसे वल्लभ सम्प्रदायी रासमण्डलियों के मुकुटों का झुकाव दाहिनी ओर को होता है, जबकि राधा–वल्लभीय, चैतन्य और निम्बार्क सम्प्रदायी वृन्दावन की रासमण्डलियाँ श्रीकृष्ण के मुकुट को बायीं ओर झुका हुआ रखती हैं। कालान्तर में 'मुकुट की लटक' के प्रश्न ने गम्भीर विवाद का रूप धारण कर लिया था। तब से अनेक मण्डलियाँ विवाद को बचाने के लिए अपने मुकुटों को दायाँ–बायाँ न रखकर सीधा रखने लगी हैं।

करहला और वृन्दावन–कामबन की रासमण्डलियों का उल्लेख विगत पृष्ठों में किया जा चुका है। उन स्थानों के अतिरिक्त ब्रज के कमई, छाता, चिकसौली, पिसाया, हथिया, गोवर्धन, राधाकुण्ड, परासोली, नौहझील, भरतपुर आदि छोटे–बड़े स्थानों में भी बहुसंख्यक रासमण्डलियों का समय–समय पर गठन हुआ था। वे सभी मण्डलियाँ ब्रजमण्डल के विभिन्न स्थानों के साथ–साथ दूरस्थ नगरों में भी रासलीलानुकरण के प्रदर्शन करती रही हैं। उनके प्रदर्शन वर्ष के प्रायः आठ महीनों तक अन्य स्थानों में और चातुर्मास्य के चार महीनों में ब्रज में हुआ करते हैं। उस समय देश के अनेक स्थानों से लाखों यात्री ब्रज में आते हैं। वे मथुरा–वृन्दावन के मन्दिरों में ठाकुरजी के दर्शन के साथ–साथ रासलीलानुकरण का भी आनन्द प्राप्त करते हैं। उसी अवसर पर ब्रज–यात्रा का भी आयोजन होता है। उसमें भी रासलीलाओं के कार्यक्रम होते रहते हैं। इन मण्डलियों के स्वामियों में से अधिकांश अपने मूल स्थानों को छोड़कर वृन्दावन में आकर बस गये हैं। कारण यह है कि यहाँ पर उन्हें धार्मिक, कलात्मक और व्यावसायिक आदि सभी सुविधाएँ सरलता से प्राप्त हो जाती हैं।

'लीला'-रचयिता रासधारी और उनकी अभिनेय कृतियाँ–

रासलीलानुकरण के परम्परागत रूप का जब से पुनर्प्रचलन हुआ है, तभी से 'लीला'–रचयिता और 'लीला'–प्रदर्शक प्रायः पृथक्–पृथक् वर्गों के कलाकार रहे हैं। 'लीला'–रचयिता विद्वान् कलाकार अपनी कृतियों को प्रमुख रूप से पठन–पाठन एवं गायन के लिए रचते रहे हैं। उनकी दृष्टि उन्हें अभिनेय बनाने की ओर प्रायः नहीं रहती है। जब रासधारीगण उन रचनाओं को रासमंच पर प्रदर्शित करते हैं, तब पहले उनमें कुछ परिवर्तन करना उन्हें आवश्यक होता है, ताकि वे उनका सफलतापूर्वक अभिनय कर सकें। उस कार्य में वे कभी–कभी बड़ी कठिनाई का अनुभव करते हैं। उसके निराकरण के लिए कुछ विद्वान रासधारी स्वयं ऐसी लीलाओं की रचना करने लगे, जो उनकी दृष्टि में पूर्णतया रास–मंचोपयोगी थीं। इस प्रकार के 'लीला'–रचयिता कुछ रासधारियों और उनकी कतिपय अभिनेय कृतियों का उल्लेख यहाँ क्रमानुसार किया जाता है।

१. बिहारीलाल (सं० १८८५-सं० १९३५)–वे करहला ग्राम के प्रसिद्ध रासमण्डली के 'स्वामी' और रास–सर्वस्वकार राधाकृष्ण रासधारी के पिता थे। उन्होंने अपनी रासमण्डली द्वारा रासलीलानुकरण की पहल उसके परम्परागत रूप में पुनर्प्रचलित करने में की थी। उसकी प्रेरणा उन्हें कुसुम सरोवर (गोवर्धन) के बाबा श्यामदास से मिली थी। जैसा पहले लिखा जा चुका है, उक्त बाबा जी रासलीलानुकरण के बड़े प्रेमी और प्रचारक थे। उन्होंने ब्रज के प्राचीन महात्माओं और भक्त–कवियों की रचनाओं में से लीला सम्बन्धी पदों का संकलन कर उन्हें लीलाभिनय के लिए बिहारीलाल को दिया था। उन्होंने स्वयं भी प्राचीन वाणियों में से लीला–विषयक स्फुट पद संकलित किये थे, जिनका उपयोग वे लीलाभिनय के अवसर पर किया करते थे। किन्तु उन्होंने किसी सम्पूर्ण लीला की रचना की हो, इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

२. राधाकृष्ण (प्रायः सं० १९१०-सं० १९७०)—वे उपर्युक्त स्वामी बिहारीलाल के सुपुत्र और अपने समय के प्रसिद्ध रासधारी थे। उनकी ऐतिहासिक कृति 'रास–सर्वस्व' है, जिसकी रचना उन्होंने रासधारियों में प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर की है। इसलिए 'रास–सर्वस्व' को पूर्णतया प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। फिर भी रासानुकरण के प्रचलन और उसके प्रचार–प्रसार से सम्बन्धित एकमात्र उपलब्ध कृति होने के कारण उसका महत्त्व निर्विवाद है। इसकी रचना सं० १९५० में हुई है। 'रास–सर्वस्व' के अतिरिक्त उन्होंने रासमंच पर प्रदर्शनार्थ 'विदुषी लीला' नामक एक विद्वत्तापूर्ण कृति का प्रणयन किया था। इस लीला की रचना संस्कृत भाषा के श्लोकों पर आधारित दार्शनिक भाव–भूमि पर हुई है।

३. माखनचोर दास (अनुमानतः सं० १९१०-सं० १९६५)—वे ब्रज के मंडोई ग्राम के निवासी प्रसिद्ध रासधारी थे। उन्होंने 'खण्डिता मान लीला' नामक एक अभिनेय कृति को रचा था। श्री रामनारायण अग्रवाल के लिखे अनुसार 'यह लीला भाषा–शैली', रस–परिपाक, अलंकार–सौष्ठव के साथ अद्‌भुत नाटकीयता से परिपूर्ण है। इसमें श्री राधाकृष्ण का परिहासपरक तथा श्लेषात्मक कथोपकथन है, जो दर्शकों को हँसाने में बेजोड़ है।[१]

४. सुन्दरलाल वैद्य—वे भी मंडोई निवासी थे और माखनचोर दास के प्रायः समकालीन थे। वैद्य होने के साथ ही साथ वे कवि, गायक और रासधारी थे। उन्होंने ध्रुव, प्रह्लाद, मोरध्वज, हरिश्चन्द्र जैसे भक्तजनों के पावन चरित्रों से सम्बन्धित जो रचनाएँ की थीं, उन्हें लीलाओं की बजाय 'लीला–नाटक' कहना अधिक सार्थक है। कारण यह है कि उनमें लीला–तत्त्व की अपेक्षा नाट्य–तत्त्व की अधिकता है। सुन्दरलालजी की अपनी रासमण्डली भी थी, जिसके द्वारा वे अपने लीला–नाटकों का प्रदर्शन करते थे। उन्होंने अपनी मण्डली के साथ देशाटन भी किया था।[२] उनकी वे रचनाएँ उस

१. ब्रज का रास रंगमंच, पृष्ठ २३६।

२. सांगीत (श्री रामनारायण अग्रवाल) पृष्ठ ८१।

समय के लीथो प्रेस में मुद्रित हुई थीं; किन्तु वे अब अनुपलब्ध हैं। उनकी जीर्ण–शीर्ण दो–एक प्रतियाँ ब्रज के पुराने घरानों में मिल जाती हैं।

५. **गिरिवरनंदन**—वे गोवर्धन क्षेत्रवर्ती राधाकुण्ड निवासी रासधारी थे। उन्होंने अपनी रासमण्डली के लिए कुछ लीला–नाटकों की रचना की थी, जिनका अभिनयात्मक प्रदर्शन वे किया करते थे। उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा पद्यों के साथ–ही–साथ ब्रजभाषा गद्य में वर्णित कुछ 'संवाद' भी मिलते हैं। उनकी 'ध्रुव लीला' नामक रचना मथुरा के तत्कालीन 'रामायण प्रेस' द्वारा लीथो में छापी गई थी। उसका प्रकाशन नई सड़क (मथुरा) के किसी कालूराम बुकसेलर ने किया था। इस पुस्तक की भूमिका में प्रकाशक ने रास–शैली में रची गई उस समय की २८ लीलाओं को अपने यहाँ से प्राप्त होने की सूचना दी है। वे लीलाएँ अब अप्राप्य हैं। 'ध्रुवलीला' के आवरण पृष्ठ पर उन लीलाओं में से कुछ की सूची दी गई है, जिसकी कतिपय लीलाएँ निम्नांकित हैं–

धनुष यज्ञ लीला, बलि लीला, प्रह्लाद लीला, हरिश्चन्द्र लीला, मोरध्वज लीला, कुब्जा लीला, सुदामा लीला, दुर्वासा लीला, सुभद्रा–हरण लीला, ऊषा–हरण लीला, द्रौपदी लीला आदि।[1] इन लीलाओं को किन रासधारियों ने रचा था, इसका उल्लेख नहीं मिलता है।

श्री रामनारायण अग्रवाल ने लिखा है–'गिरिवरनंदन द्वारा रचित ध्रुव–प्रह्लाद जैसे पुराणकालीन भक्तों की अनेक लीलाएँ उनके समकालीन मथुरा के घासीराम बुकसेलर ने छपवाई थीं। उन लीलाओं का प्रदर्शन गिरिवरनंदन की रासमण्डली किया करती थी। किन्तु उक्त लीलाओं की समाप्ति उस मण्डली के समाप्त होने के साथ ही हो गई थी। बाद के रासधारियों ने उन लीलाओं को नहीं अपनाया था।[2]

१. 'सांगीत' (श्री रामनारायण अग्रवाल), पृष्ठ ८३।
२. 'ब्रज का रास रंगमंच' में लेखक का 'आत्मनिवेदन', पृष्ठ १२।

६. बाबा कृष्णानन्द—वे रास–रसिक विरक्त साधु थे। उन्होंने रासलीलानुकरण के प्रचारार्थ एक रासमण्डली का गठन किया था, जिसमें सुप्रसिद्ध कलाकार लक्ष्मणजी–रामधनजी सारंगी–वादन करते थे। उन्होंने कुछ लीलाओं की भी रचना की थी, जिनके नाम 'प्रेम–सम्पुट', 'कुंजन कौ वर्णन' तथा महारास के प्रसंग में 'आसुरी महादेव संवाद' मिलते हैं।[१]

७. लक्ष्मण स्वामी (सं० १९५१-सं० २०२६)—वे अपने समय के कुशल कलाकार, प्रसिद्ध रासधारी और रासमण्डली के 'स्वामी' थे। उनका जन्म मथुरा जिला के धमसिंघा गाँव में हुआ था। वे जीवनपर्यन्त रासानुकरण से सम्बन्धित रहकर विभिन्न स्थितियों में उसकी सेवा करते रहे थे। अपने बाल्यकाल में उन्होंने स्वामी मुरलीधर की रासमण्डली में 'स्वरूप' बनकर अभिनय किया था। जब उन्होंने अपनी निजी रासमण्डली का गठन कर लिया, तब वे सारंगी–वादन करते हुए मण्डली का संचालन करते थे। साथ ही 'महादेव लीला' में स्वयं महादेव बनकर अभिनय किया करते थे। उस समय वे अपनी कला–कुशलता से दर्शकों को मुग्ध कर देते थे। 'गोप देवी लीला' के प्रदर्शन में उनकी मण्डली को वैशिष्ट्य प्राप्त था।

डॉ० वसंत यामदग्नि ने लिखा है कि लक्ष्मण स्वामी रासमंच के कुशल अभिनेता और गायक होने के साथ लीला–साहित्य के रचयिता भी थे।[२]

८. स्वामी मेघश्याम (सं० १९५७-सं० २०१९)—वे कमई (जि० मथुरा) निवासी स्वामी मदनलालजी के पुत्र थे। उन्होंने रासानुकरण और रासमंच के प्रचार–प्रसार में जितना महत्त्वपूर्ण योग दिया है, उसका शब्दों में उल्लेख करना सम्भव नहीं है। वे अपने जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक विविध स्थितियों में

---

१. 'ब्रज का रास रंगमंच', पृष्ठ २३७।

२. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ ३२२।

और विभिन्न प्रकारों से रासानुकरण को समृद्ध करते रहे थे। बाल्यकाल में वे अपने पिताजी की रासमण्डली में कृष्ण का 'स्वरूप' बनकर अभिनय करते थे। तभी उनके गायन, नृत्य और अभिनय की धूम मच गई थी। डॉ० वसंत यामदग्नि ने लिखा है—मेघश्यामजी को श्रीकृष्ण के रूप में लीलाभिनय करते देखकर तत्कालीन छतरपुर नरेश श्री विश्वनाथ सिंह जी इतने मुग्ध हुए कि उन्हें सं० १९७२ में अपने साथ छतरपुर ले गये थे, जहाँ उन्हें अपनी कला को निखारने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था। प्रारम्भ से ही रासमंच पर नये—नये प्रयोग करना और रासाभिनय एवं रास—साहित्य की श्रीवृद्धि करना स्वामी मेघश्यामजी के लिए छतरपुर महाराज की छत्र—छाया में ही सम्भव हो सका था।[१]

बड़े होने पर वे अपने पिताजी की रासमण्डली के 'स्वामी' बने थे। तब अपनी कला—कुशलता और संगठन—शक्ति से उन्होंने उक्त मण्डली की कीर्ति के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिया था। इसके साथ ही वे अन्य रासमण्डलियों के भी प्रेरणा—स्रोत तथा मार्गदर्शक सिद्ध हुए थे। रासानुकरण के आरम्भ में जो 'नित्य रास' का कार्यक्रम होता है, उसे स्वामी मेघश्यामजी ने इतना सरल बना दिया कि उसे अन्य मण्डलियों ने भी निःसंकोच स्वीकार कर लिया था। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए श्री रामनारायण अग्रवाल ने लिखा है—

राधा— **बनि नाँचै नट नीकौ, आज नंद कौ किसोर।**
कृष्ण— **राधे! जगत नचायौ, तेरी भौंह की मरोर॥**
राधा— **ब्रज के किसोर, तो पै डारूँ तृन तोर।**
सुनि मुरली की घोर, मेरौ मन भयौ मोर॥बनि०॥
कृष्ण— **कमल की कली कौ, रंग, भानु की लली कौ,**
मुख चंद हूँ तें नीकौ, नैना मेरे री चकोर॥

१. रासलीला तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ ३१९।

राधा– नैनन बसाय, मूँदि राखूँगी छिपाय,
कहूँ भाजि कै न जाय, मेरी मुंदरी कौ चोर॥बनि०॥
कृष्ण– मोहन 'श्याम' राधे रंग, बाँधि राख्यौ अपुने संग।
कहाँ जायगी पतंग, तेरे हाथ में है डोर॥राधे॥[1]

स्वामी मेघश्यामजी ने अपनी रासमण्डली के लिए पर्याप्त लीलाओं की रचना की थी, जिनका अभिनयात्मक प्रदर्शन वे किया करते थे। उनमें से कुछ के नाम हैं–१. दान लीला, २. उराहनौ लीला, ३. चन्द्रावली लीला, ४. युगल जोरी लीला, ५. प्रेमयोगिनी लीला, ६. उद्धव लीला और ७. सुदामा लीला। इन मौलिक लीलाओं के अतिरिक्त उन्होंने अन्य प्रचलित लीलाओं को भी अपनी प्रतिभा से अधिक प्रभावोत्पादक बना दिया था। उनकी एक अविस्मरणीय देन उनके द्वारा रचे हुए लीला सम्बन्धी 'रसिया' हैं। इन सरस लोकगीतों की रचना में मेघश्यामजी का लीला–गायक व्यक्तित्व अधिक उजागर हुआ है। उनके रसिया वर्तमान रासमंच के अनिवार्य अंग बन गये हैं, वे उनके समय में और उनके बाद भी रासमंच पर छाये हुए हैं। उनके बहुसंख्यक रसियाओं में से केवल एक यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। इसे मेघश्यामजी के सुपुत्र स्वामी रामस्वरूपजी अपनी रसीली धुन में गाया करते हैं। इसमें एक मदमाती ब्रज–वाला का रूप–चित्र उभरा है–

छबीली! तेरी चितवन में, चित्त भूल्यौ।
झोका खाय चलै दगरे में, मनों मन्मथ–गज हूल्यौ री॥ छबीली०
अंगिया उतंग कुच, पीठ घुंघरारे कच,
हिय में हमेल कछु धूम–सी रही है मच।
सारी जरतारी की किनारी में कसूमी रंग,
झनर–झनर करै, बाजूबंद नीचे जंग,
बारी री उमरि, गोरी! अब ही तें ऐसे ढंग,
रूप कमल–दल फूल्यौ री॥ छबीली तेरी चितवन०

१. ब्रज का रास रंगमंच, पृष्ठ २३८।

स्वामी मेघश्यामजी ने रसियाओं के अतिरिक्त पद, कवित्त, सवैया, भजन तथा गजलों की भी रचना की थी। उनके द्वारा रचा हुआ साहित्य कई भागों में प्रकाशित किया जा चुका है। स्वामी मेघश्यामजी के यशस्वी पुत्र स्वामी रामस्वरूपजी हैं, जो अपने गौरवशाली पिताजी की कीर्ति में चार चाँद लगा रहे हैं।

९. स्वामी चेतराम—वे रासमण्डली के 'स्वामी' और रास सम्बन्धी संगीत एवं साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उसके साथ ही वे रास–शैली के आदर्श शिक्षक भी थे। उनकी रासमण्डली ने अपनी कला–कुशलता से अच्छी ख्याति अर्जित की थी। वृन्दावन के श्री कल्याण प्रसाद शर्मा 'किशोरी' अपने बाल्यकाल में उनकी रास–मण्डली में श्री राधाजी का 'स्वरूप' बना करते थे। वृद्ध होने पर स्वामी चेतराम ने रासानुकरण के कार्य से अवकाश ले लिया था। तब उनकी रासमण्डली का संचालन विपिनबिहारी ने किया।

१०. स्वामी कुँवरपाल—ये मथुरा जिला के छाता कस्बे के निवासी और प्रसिद्ध रासमण्डलीकार हैं। अपने बाल्यकाल में ये कृष्ण का 'स्वरूप' बनकर अभिनय करते थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन ही रासलीलानुकरण के प्रचार–प्रसार के निमित्त समर्पित कर दिया है। इन्होंने रास सम्बन्धी कई लीलाओं की रचना की है और इन्हें रासमंच पर प्रदर्शित किया है। इनके द्वारा रची हुई लीलाओं में पदों, रसियाओं आदि लोकगीतों तथा गद्य–वार्तिकों की बहार है। इनके द्वारा रचित और प्रदर्शित लीलाओं में शंकर लीला और उद्धव लीला अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ रचनाएँ 'रसिया रस–विहार' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई हैं। डॉ० वसंत यामदग्नि ने लिखा है—श्री हरिबाबा के आग्रह से स्वामी कुँवरपाल ने 'प्रेम प्रकास लीला' की रचना की थी और उन्हीं के आग्रह से ये 'चैतन्य लीला' भी करते थे।[१]

---

१. ब्रज तथा रासानुकरण विकास, पृष्ठ ३२४।

आधुनिक काल के कुछ प्रमुख रासधारी और उनकी रासमण्डलियाँ–

आधुनिक काल के दिवंगत और वर्तमान रासधारियों की संख्या अत्यधिक है। इनकी रास–मण्डलियों ने 'रासलीलानुकरण' के प्रचार–प्रसार में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इनमें से कुछ रास–मण्डलियों ने तो देशव्यापी ख्याति अर्जित की है। ये सभी रासधारी गण मूल रूप से ब्रज के ग्रामीण अंचलों के निवासी हैं; किन्तु सुविधा और प्रचार की दृष्टि से इनमें से अधिकांश अब वृन्दावन में निवास कर रहे हैं। ये सभी रासमण्डलियाँ व्यावसायिक स्तर पर गठित हैं; किन्तु इनका दृष्टिकोण सेवा–भावना का भी है। यहाँ पर कुछ प्रमुख रासधारियों और उनकी रासमण्डलियों का उल्लेख किया जाता है।

१. दामोदर स्वामी—वे ब्रज के खेरिया ग्राम के निवासी थे। उन्होंने बोहरे ब्रजलालजी के संरक्षण में एक निम्बार्कीय रासमण्डली का गठन सं० १९७५ में किया था। वे श्री हरिव्यास देवजी कृत 'महावाणी' के आधार पर लीलाओं का आयोजन एवं प्रदर्शन करते थे। उनके द्वारा प्रदर्शित 'अष्टयाम लीला' का प्रस्तुतीकरण अत्यन्त भावपूर्ण होता था। उन्होंने रासमण्डली के स्वामी के रूप में अच्छी ख्याति अर्जित की थी।

२. श्री कल्याण प्रसाद शर्मा 'किशोरी'—ये वृन्दावन के प्रसिद्ध रासानुरागी एवं रासलीलानुकरण तथा रासमण्डलियों से सम्बन्धित महानुभाव हैं। अपने बचपन में पहले इन्होंने स्वामी प्रियाशरणजी की रासमण्डली में सखी का और फिर स्वामी चेतरामजी की रासमण्डली में राधाजी का स्वरूप बनकर अभिनय किया था। स्वामी मेघश्यामजी की रासमण्डली से भी ये सम्बन्धित रहे और एक रासमण्डली का संचालन भी कर चुके हैं। इस प्रकार इन्हें रासलीलानुकरण का पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान है। ये लीला–लेखक और लीला–रचयिता भी हैं। इनकी लिखी हुई ब्रजभाषा गद्य में

अनेक लीलाएँ वृन्दावन के निम्बार्कीय मासिक पत्र 'श्री सर्वेश्वर' में निरन्तर कई वर्ष तक धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुकी हैं।

इन्होंने श्रीराधा–कृष्ण और श्रीगौरांग महाप्रभु की कुछ लीलाओं की भी रचना की है। इनमें से एक 'सुबलवेश लीला' अधिक प्रसिद्ध है। इन्होंने 'रसिया' नामक लोकगीतों को पर्याप्त संख्या में रचा है। इनके रचे हुए लीला सम्बन्धी रसियाओं के दो संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। इस समय ये रासलीलानुकरण से अवकाश लेकर वृन्दावन में धार्मिक कार्यों में संलग्न रहते हैं। 'आकाशवाणी' पर इनकी वार्ताएँ जब–तब प्रसारित हुआ करती हैं।

३. रामधन स्वामी–वे पूर्वोक्त लक्ष्मण स्वामी के साथी एवं सहकारी थे। अपने बाल्यकाल में उन्होंने लक्ष्मण स्वामी के साथ 'स्वरूप' बनकर अभिनय किया था। बड़े होने पर वे उनके साथ ही सारंगी–वादन करने लगे थे। जब लक्ष्मण स्वामी ने अपनी निजी रासमण्डली का गठन कर लिया, तब सम्भवतः वे उसके संचालन में भी सहयोगी एवं सहकारी रहे थे।

४. धूरी स्वामी–वे मंडोई गाँव के निवासी थे। कहते हैं, रास–संगीत के वे बेजोड़ गायक थे। उनके जैसा गायक उस समय दूसरा नहीं था। बाद में वे रासमण्डली से अवकाश लेकर नाथद्वारा में श्रीनाथ जी के कीर्तनीया हो गये थे। उनका देहावसान हो चुका है।[१]

५. स्वामी लाड़िलीशरण (सं० १८४८–सं० २०३५)–वे प्राचीन परम्परा के रासमण्डली के स्वामी और एक लब्ध–प्रतिष्ठ कलाकार थे। उन्होंने दामोदर स्वामी के साथ कई वर्षों तक रासमण्डली का संचालन किया था। लीलानुकरण के वे प्राचीन भक्त–कवियों की वाणियों का गायन कराते थे और आधुनिक लोक गीतों के गायन को उचित नहीं समझते थे। वे रास–शैली के आदर्श शिक्षक भी थे।

---

१. ब्रज का रास–रंगमंच, पृष्ठ ३५८।

उन्होंने जीवनपर्यन्त रासानुकरण की परम्परागत शैली का निर्वाह किया था। वृद्धावस्था में उन्होंने रास से अवकाश ले लिया था और वृन्दावन में भगवद्‌भजन करते रहे थे। उनका निधन ८४ वर्ष की परिपक्व आयु में हुआ था।

६. स्वामी किशनलाल—पुरानी पीढ़ी के रासधारियों में इनका नाम प्रसिद्ध है। ये उत्कृष्ट गायक एवं वादक होने के साथ कुशल अभिनेता भी रहे हैं। 'उद्धव–लीला' में उद्धव बनकर भावपूर्ण अभिनय करने में इनकी बड़ी ख्याति है। इन्होंने अपनी मण्डली को श्रीनाथ जी के मुकुट प्राप्त करने का गौरव मिला है। इस समय इनकी मण्डली का संचालन इनके पुत्र स्वामी मोहनलाल करते हैं।

७. स्वामी हरिवल्लभ—ये गोवर्धन क्षेत्रवर्ती जतीपुरा के निवासी हैं। इनकी ख्याति उत्कृष्ट गायक और कुशल सारंगी–वादक के रूप में रही है। इन्होंने स्वामी किशनलाल की रासमण्डली के साथ रहकर यशोपार्जन किया है। अब इन्होंने रासलीलानुकरण के कार्य से अवकाश ले लिया है।

८. स्वामी हरिगोविन्द—वर्तमान रासमण्डलियों के स्वामियों में इनका नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है। इनका जन्म भरतपुर राज्य के जनूथर गाँव में हुआ था; किन्तु अब ये पर्याप्त समय से वृन्दावन में निवास करते हैं। रासलीलानुकरण के प्रति इनकी अभिरुचि बाल्यकाल से ही रही है। जब ये 10–11 वर्ष के बालक थे, तब कृष्ण का स्वरूप बनकर अभिनय करते थे। बड़े होने पर इन्होंने अपनी निजी मण्डली का गठन किया और इसके द्वारा ये रासलीलानुकरण की प्राचीन परम्परा का अनुकरण करते हुए इसके प्रचार–प्रसार में सतत संलग्न रहे हैं।

इन्होंने कृष्ण–लीलाओं के साथ ही साथ गौरांग लीलाओं का प्रस्तुतीकरण भी बड़ी सफलतापूर्वक किया है। इनकी रासमण्डली ने भारत के विभिन्न स्थानों में अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करने के

अतिरिक्त सुदूरवर्ती अण्डमन–निकोबार द्वीप–समूह में भी लीला–प्रदर्शन किया है। वहाँ इनके अभिनय की धूम मच गई थी। इनकी कई लीलाओं को दूरदर्शन पर भी दिखाया जा चुका है। विगत वल्लभ–सूर पंचशती के अवसर पर इन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्यजी और महात्मा सूरदासजी के जीवन–वृत्तों पर आधारित लीलाएँ प्रस्तुत की थीं। रासलीलानुकरण सम्बन्धी इनकी सेवाओं के लिए इन्हें भारत सरकार की संगीत–नाटक अकादमी द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत किया जा चुका है।

९. **स्वामी रामस्वरूप**–ये दिवंगत स्वामी मेघश्यामजी के सुपुत्र हैं; अतः रासलीलानुकरण की दक्षता इन्हें पैतृक उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। जब से इन्होंने होश सम्भाला है, तभी से रासमण्डली में अभिनय एवं गायन–वादन करते रहे हैं। इनकी रासमण्डली की बड़ी ख्याति है। उच्चकोटि के कलाकार होते हुए भी ये अत्यन्त विनम्र और मधुर स्वभाव के हैं। ये विख्यात हारमोनियम–वादक हैं और शास्त्रीय एवं लोकधर्मी दोनों प्रकार के गायन में अत्यन्त कुशल हैं। अपने सुरीले कण्ठ से जब ये गायन करते हैं. तब उसे सुनकर श्रोतागण मन्त्रमुग्ध से हो जाते हैं। अपने पिता स्वामी मेघश्यामजी के रसियों एवं भजनों का गायन करने में इन्हें विशेषज्ञता प्राप्त है।

इनके द्वारा संचालित रासमण्डली जिन लीलाओं का अभिनयात्मक प्रदर्शन करती है, उनकी संख्या अत्यधिक है। ये लीलाएँ श्रीराधा–कृष्ण के साथ–ही–साथ गौरांग महाप्रभु, श्री वल्लभाचार्य जी के पावन चरित्रों पर आधारित हैं। इनकी रासमण्डली में अन्य कलाकारों के साथ ही इनके दोनों पुत्र भी अभिनय करते हैं। इस मण्डली ने देश के विभिन्न स्थलों में रासलीलानुकरण का प्रदर्शन कर पर्याप्त यशोपार्जन किया है। स्वामी रामस्वरूपजी को इनकी कला–कुशलता और रास सम्बन्धी सेवाओं के लिए सरकार तथा विभिन्न संस्थानों द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत भी किया जा

चुका है। इनके द्वारा गाये जाने वाले रसियाओं एवं भजनों के कइ संकलन प्रकाशित हो चुके हैं।

अन्य प्रमुख रासधारी और उनकी मण्डलियाँ—जिन कतिपय रासधारियों का अब तक उल्लेख किया जा चुका है, उनके अतिरिक्त और भी बहुत से प्रमुख रासधारी हैं; जिन्होंने रासलीलानुकरण के प्रदर्शन में यथेष्ट ख्याति प्राप्त की है। इन सबका नामोल्लेख करना सम्भव नहीं है। अतः थोड़े से विशिष्ट रासधारियों के नाम ही यहाँ लिखे जाते हैं—

सर्वश्री कन्हैयालाल, हरद्वारीलाल, फतेहकृष्ण, रामप्रसाद, देवकीनन्दन, मोहनलाल, वेदराम, कुंजविहारी, कृष्णजीवन, विपिनविहारी, मनसुखलाल, रामजीलाल, प्रसादी लाल, श्रीचंद, फतेहराम, बाबूलाल, गिरिराज, चूड़ामणि, श्यामसुन्दर, वल्लभलाल, रूपलाल, घनश्याम, चुन्नीलाल, भारतभूषण आदि।

वर्तमान रासधारियों में सर्वाधिक संख्या वल्लभ सम्प्रदायियों की है। इनके पश्चात् निम्बार्कीय, राधावल्लभीय, हरिदासी एवं चैतन्य सम्प्रदायी रासधारी हैं। ये अपने–अपने सम्प्रदायों के प्रति आस्थावान होते हुए भी इनका दृष्टिकोण अत्यन्त उदार है। रासलीला–नुकरण के कई कार्यक्रम ऐसे हैं, जिन्हें कई रासमण्डलियाँ सम्मिलित रूप में करती हैं। जैसे 'महारास' लीला के आयोजन में कई मण्डलियों के कलाकारों की आवश्यकता होती है; किन्तु एक–साथ करने में इनका साम्प्रदायिक दृष्टिकोण बाधक नहीं होता है।

रासलीलानुकरण का विकास, ह्रास और पुनर्विकास—

आरम्भिक स्थिति (सं० १५५० से सं० १६५० तक)—रास–लीलानुकरण सतत विकासमान एक धर्माश्रित कलात्मक विधा है। यह निरन्तर गतिशील रही है; किन्तु इसकी विकास–यात्रा में समय–समय पर कुछ ऐसी रुकावटें भी आती रही हैं, जिन्होंने इसे अस्थायी रूप से ह्रासोन्मुखी कर दिया था। किन्तु तत्कालीन कला–कोविद

धार्मिक मनीषियों ने उन रुकावटों को हटाकर पुनः इसे अपने मार्ग पर अग्रसर कर दिया था। इससे इसकी विकास–यात्रा निरन्तर चलती रही है।

रासलीलानुकरण के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इसका अभिनयात्मक प्रदर्शन करने वाली रासमण्डलियों के 'स्वामी' आरम्भ में सेवा–भावी थे। वे स्वयं तो अपना और अपने कुटुम्ब–परिवार का भरण–पोषण किसी प्रकार कर लेते थे; किन्तु अभिनेता 'स्वरूपों' और गान–वाद्य करने वाले 'समाजियों' की व्यवस्था करने में उन्हें कठिनाई होती थी। उससे रासानुकरण की गतिशीलता में रुकावट पड़ जाती थी। उस कठिनाई का समाधान करने के लिए अनेक स्वामियों को उस सेवा–भावी कला–रूप में कुछ व्यावसायिकता का समावेश करना आवश्यक हो गया था। तभी वे कृष्ण, राधा, गोपी एवं ग्वालों का अभिनय करने वाले 'स्वरूपों' और गान–वाद्य कलाओं में निष्णात 'समाजियों' को कुछ पारिश्रमिक देने की स्थिति में हो सके थे। किन्तु उनका दृष्टिकोण पूर्णतया व्यावसायिक नहीं था। उन्हें भेंट–दक्षिणा में जो कुछ मिल जाता था, उसी से वे अपना काम चला लेते थे।

दृष्टिकोण में परिवर्तन—युग के प्रभाव से रासधारियों के दृष्टिकोण में क्रमशः परिवर्तन होता गया। वे अधिक भेंट–दक्षिणा प्राप्त करने के लालच में कुछ ऐसे निम्नस्तरीय प्रदर्शन भी करने लगे थे, जो रास की मूल भावना के अनुरूप नहीं थे; किन्तु उन्हें कामुक प्रवृत्ति के दर्शकगण रुचिपूर्वक देखते थे। उस प्रकार की शोचनीय स्थिति भक्तवर श्री हरिरामजी व्यास के देहावसान काल (सं० १७५५) से कुछ पूर्व हो गई थी।

यह वह काल था, जब महाप्रभु वल्लभाचार्य, महाप्रभु चैतन्य देव, गोस्वामी विट्ठलनाथ आदि कला–मर्मज्ञ रसिकाचार्यों का निधन हो चुका था। भक्तवर श्री हरिराम व्यास दीर्घजीवी होने के कारण तब

तक विद्यमान थे। उन्होंने अपने लम्बे जीवन–काल के आरम्भ में रासलीलानुकरण को शुद्ध रूप में प्रदर्शित होते हुए देखा था और अन्त में उसका विकृत रूप भी वे देख सके थे। उसके कारण वे बड़े दुःखी रहा करते थे। उनकी वाणी में ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं, उस काल की दूषित परिस्थिति पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार के दो दोहे निम्नांकित हैं–

१. **'व्यास' रसिक सब चल बसे, नीरस रहे कुबंस।**
बग–ठग की संगति भई, परिहरि गये जु हंस॥११०॥
(भक्त–कवि व्यासजी, पृष्ठ ४१५)

२. **'व्यास' जहाँ प्रभु कौ भजन, होते रास–विलास।**
ते कामिनि–बस ह्वै गये, ऊत–पितर के दास॥१३७॥
(भक्त–कवि व्यासजी, पृष्ठ ४१७)

वह स्थिति श्री व्यासजी के निधनोपरान्त और भी अधिक बिगड़ गई थी। किन्तु उसे तत्कालीन धार्मिक मनीषियों एवं भक्त महानुभावों ने सम्भाल लिया था। ऐसे महानुभावों में वल्लभ सम्प्रदायी गोस्वामी गोकुलनाथजी (सं० १६०८ से १६९०), निम्बार्कीय आचार्य परशुराम देवजी (सं० १६२० से १६८०), राधावल्लभीय भक्त–कवि ध्रुवदासजी (सं० १६३० से १७००) और हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी नरसिंहदासजी (सं० १६४० से १७४१) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

किन्तु बाद में फिर स्थिति बिगड़ने लगी थी। उसका प्रमुख कारण तास्सुखी मुगल सम्राट औरंगजेब का ब्रजमण्डल में भीषण दमन–चक्र चलाना था। सं० १७२६ में उसने मथुरा के सुप्रसिद्ध श्री केशवरायजी के मन्दिर को नष्ट करा दिया था और गोवर्धन–वृन्दावन के समस्त देवस्थानों की स्थिति असहनीय कर दी थी। उस विषम परिस्थिति से पार पाने के लिए सभी धर्म–सम्प्रदायों के आचार्य और उनके अनुगामी भक्तजनों एवं कलाकारों को ब्रजमण्डल

से हटकर अन्यत्र चले जाने को विवश होना पड़ा था। तभी यहाँ के अधिकांश रासधारी भी उनके साथ चले गये थे। जो थोड़े रह गये थे, वे अपनी जीविका चलाने के लिए तत्कालीन लोक–रुचि के अनुरूप अपने 'स्वरूपों' से भद्दे प्रदर्शन कराने लगे और कामुकता पूर्ण लोक–गीतों का गायन करने लगे थे। जो थोड़े से सन्त–महात्मा उस काल में ब्रज के रह गये थे, वे रासधारियों की कुचेष्टाओं से बड़े दुःखी रहा करते थे।

उसके उपरान्त जब मुसलिम आक्रांता अहमदशाह अब्दाली ने सं० १८१३–१४ में ब्रजमण्डल पर भीषण आक्रमण कर यहाँ भयंकर मार–काट की थी; तब स्थिति बद से बदतर हो गई थी। उसका प्रभाव यहाँ के रासधारियों की मनोवृत्ति पर भी पड़ा था।

श्रीकिशोरीशरण 'अलि' ने उस काल की दुःखद स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है–''जो रासलीला कभी रसिकों की उपभोग्य, भक्तों को भक्तिदायिनी और सर्वसाधारण की त्रिताप–मोचनी समझी जाती थी, तब वह बहुत अंशों में लोगों के मनोविनोद का साधन बन गई थी! लीला साहित्य, अनुकरण–रूप और संगीत–इन तीनों ही अंगों पर युग का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा था। अतः ब्रज के रास–रसिक उस अनुकरणात्मक रास से विरत होने लगे थे। 'सेवक–चरित्र' प्रवक्ता श्री प्रियादासजी ने तत्कालीन रास के स्वरूप का चित्रण करते हुए उससे अपनी विरक्ति इस प्रकार अभिव्यक्त की है–'ता पाछै एक दिवस श्री गुसाईंजी के मन्दिर में रासधारिन के 'समाजी' गायवे कूं आये, सो वे ख्याल–बाल गावन लगे। हमकूं भजन में बड़ौ खेद भयौ। तब हम उहाँ ते उठिकै श्री महाराज दामोदर वर जू के रास में लता–मन्दिर में आइ बैठे। अगहन वदी १४ सं० १८३६।''१

१. श्री किशोरीशरण 'अलि' का लेख–'रासलीलानुकरण और उसका प्रागट्य' (हिताश्रम रजत जयन्ती स्मारिका, पृष्ठ १०३)।

तक विद्यमान थे। उन्होंने अपने लम्बे जीवन–काल के आरम्भ में रासलीलानुकरण को शुद्ध रूप में प्रदर्शित होते हुए देखा था और अन्त में उसका विकृत रूप भी वे देख सके थे। उसके कारण वे बड़े दुःखी रहा करते थे। उनकी वाणी में ऐसे कई उल्लेख मिलते हैं, उस काल की दूषित परिस्थिति पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार के दो दोहे निम्नांकित हैं–

१. **'व्यास' रसिक सब चल बसे, नीरस रहे कुबंस।**
वग–ठग की संगति भई, परिहरि गये जु हंस॥११०॥

(भक्त–कवि व्यासजी, पृष्ठ ४१५)

२. **'व्यास' जहाँ प्रभु कौ भजन, होते रास–विलास।**
ते कामिनि–बस ह्वै गये, ऊत–पितर के दास॥१३७॥

(भक्त–कवि व्यासजी, पृष्ठ ४१७)

वह स्थिति श्री व्यासजी के निधनोपरान्त और भी अधिक बिगड़ गई थी। किन्तु उसे तत्कालीन धार्मिक मनीषियों एवं भक्त महानुभावों ने सम्भाल लिया था। ऐसे महानुभावों में वल्लभ सम्प्रदायी गोस्वामी गोकुलनाथजी (सं० १६०८ से १६९०), निम्बार्कीय आचार्य परशुराम देवजी (सं० १६२० से १६८०), राधावल्लभीय भक्त–कवि ध्रुवदासजी (सं० १६३० से १७००) और हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी नरसिंहदासजी (सं० १६४० से १७४१) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

किन्तु बाद में फिर स्थिति बिगड़ने लगी थी। उसका प्रमुख कारण तास्सुखी मुगल सम्राट औरंगजेब का ब्रजमण्डल में भीषण दमन–चक्र चलाना था। सं० १७२६ में उसने मथुरा के सुप्रसिद्ध श्री केशवरायजी के मन्दिर को नष्ट करा दिया था और गोवर्धन–वृन्दावन के समस्त देवस्थानों की स्थिति असहनीय कर दी थी। उस विषम परिस्थिति से पार पाने के लिए सभी धर्म–सम्प्रदायों के आचार्य और उनके अनुगामी भक्तजनों एवं कलाकारों को ब्रजमण्डल

से हटकर अन्यत्र चले जाने को विवश होना पड़ा था। तभी यहाँ के अधिकांश रासधारी भी उनके साथ चले गये थे। जो थोड़े रह गये थे, वे अपनी जीविका चलाने के लिए तत्कालीन लोक–रुचि के अनुरूप अपने 'स्वरूपों' से भद्दे प्रदर्शन कराने लगे और कामुकता पूर्ण लोक–गीतों का गायन करने लगे थे। जो थोड़े से सन्त–महात्मा उस काल में ब्रज के रह गये थे, वे रासधारियों की कुचेष्टाओं से बड़े दुःखी रहा करते थे।

उसके उपरान्त जब मुसलिम आक्रांता अहमदशाह अब्दाली ने सं० १८१३–१४ में ब्रजमण्डल पर भीषण आक्रमण कर यहाँ भयंकर मार–काट की थी; तब स्थिति बद से बदतर हो गई थी। उसका प्रभाव यहाँ के रासधारियों की मनोवृत्ति पर भी पड़ा था।

श्रीकिशोरीशरण 'अलि' ने उस काल की दुःखद स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है–''जो रासलीला कभी रसिकों की उपभोग्य, भक्तों को भक्तिदायिनी और सर्वसाधारण की त्रिताप–मोचनी समझी जाती थी, तब वह बहुत अंशों में लोगों के मनोविनोद का साधन बन गई थी! लीला साहित्य, अनुकरण–रूप और संगीत–इन तीनों ही अंगों पर युग का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा था। अतः ब्रज के रास–रसिक उस अनुकरणात्मक रास से विरत होने लगे थे। 'सेवक–चरित्र' प्रवक्ता श्री प्रियादासजी ने तत्कालीन रास के स्वरूप का चित्रण करते हुए उससे अपनी विरक्ति इस प्रकार अभिव्यक्त की है– 'ता पाछै एक दिवस श्री गुसाईंजी के मन्दिर में रासधारिन के 'समाजी' गायवे कूं आये, सो वे ख्याल–बाल गावन लगे। हमकूं भजन में बड़ौ खेद भयौ। तब हम उहाँ ते उठिकै श्री महाराज दामोदर वर जू के रास में लता–मन्दिर में आइ बैठे। अगहन वदी १४ सं० १८३६।''[१]

१. श्री किशोरीशरण 'अलि' का लेख–'रासलीलानुकरण और उसका प्रागट्य' (हिताश्रम रजत जयन्ती स्मारिका, पृष्ठ १०३)।

उस काल में रासलीलानुकरण अपने परम्पगरात मार्ग से भटक गया था। उसे पुनः सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न ब्रज के जिन सन्त–महात्माओं और भक्तजनों ने किया था, उनमें राधावल्लभीय गोस्वामी किशोरीलालजी (सं० १७७७–सं० १८८५), हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी ललितमोहिनीदासजी (सं० १७८०–सं० १८५८), चैतन्य सम्प्रदायी भक्तवर नीलसखी, दक्षसखी–ललित–सखीजी और रास–प्रेमी भक्तराज माधवजी सिंधिया (सं० १८१६–सं० १८५३) के नाम उल्लेखनीय हैं।

किन्तु उपर्युक्त महानुभावों के प्रयत्न अस्थायी सिद्ध हुए थे और रासलीलानुकरण पुनः अवनति के गर्त्त में गिरने लगा था। उस अभूतपूर्व विषम स्थिति का उल्लेख रासधारी राधाकृष्ण कृत 'रास–सर्वस्व' में किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि तब ब्रजमण्डल में ऐसे प्रभावशाली सुरुचिपूर्ण धर्माचार्य एवं भक्तजन नहीं रहे थे, जो उस काल के पथ–भ्रष्ट रासधारियों पर अंकुश लगाकर उन्हें उचित मार्ग पर अग्रसर करते। फलतः तत्कालीन रासधारीगण निर्द्वन्द्व होकर मनमानी करने लगे थे और लोभ के वशीभूत होकर रासानुकरण के प्रदर्शन की परम्पगरात विशुद्ध पद्धति को भ्रष्ट करने पर उतारू हो गये थे। वे अपने कुरुचिपूर्ण यजमानों एवं दर्शकों से भेंट–दक्षिणा प्राप्त करने के लिए उनका मनोरंजन करने के उद्देश्य से 'स्वरूपों' द्वारा निम्न कोटि के गजल, रेखता, लावनी आदि लोकगीतों को गवाते थे। उनके 'सखी' पात्र आँख–नाक मटकाकर भद्दे भावों को प्रदर्शित करते थे। इसका उल्लेख 'रास–सर्वस्व' में इस प्रकार किया गया है–

ह्वै गये सब निर्द्वन्द, रासधारी जब ही तें।
भ्रष्ट करी सब रीति, लोभ वश ह्वै तब ही तें॥
गजल–रेखता आदि गाय, पामर सुख मानै।
कोई एक सुंदर सखी ढूँढ़, लावनी सिखावै॥
आँख–नाक मटकाइ, सबन आगै जु बतावै॥

वह स्थिति पर्याप्त समय तक रही थी। बाद में 'रास–सर्वस्व' कार राधाकृष्ण के लिखे अनुसार उनके पिता बिहारीलालजी (सं० १८८५–सं० १९३५) ने उसमें सुधार किया था। वे विभिन्न स्थानों में जाकर रासानुकरण को शुद्ध रूप में प्रदर्शित करते थे। उससे सम्बन्धित 'रास–सर्वस्व' का उल्लेख इस प्रकार है–

इहि विधि जग में लूप्त भौ, त्रिशत वर्ष रस–मंथ।
विप्र बिहारीलाल पुन, प्रगट कियौ यह पंथ॥
देस–देस में जाय, रास की रीति दृढ़ाई।
कहँ लगि वर्णन करौं, सुखद अति अमित बड़ाई॥

इस उल्लेख में राधाकृष्णजी द्वारा अपने पूज्य पिता की अनुचित प्रशंसा करने का भाव हो सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति उससे अधिक भिन्न नहीं थी। फिर भी सभी रासमण्डलियाँ पथभ्रष्ट होकर भद्दे प्रदर्शन करने लगी हों, ऐसी बात भी नहीं थी। कुछ मण्डलियाँ अनेक विघ्न–बाधाओं के होते हुए भी परम्परागत रीति से उत्तम प्रदर्शन करती हुई अपने निश्चित पथ पर अग्रसर हो रही थीं। ऐसी ही स्थिति कुछ सीमा तक अब भी है। इससे रासलीलानुकरण की विकास–यात्रा में उसकी सतत गतिशीलता का परिचय मिलता है।

रासलीलानुकरण को देखने की विभिन्न दृष्टियाँ–इस सम्बन्ध में श्रीअच्युत रामनिवास ढंढारिया का मत है कि रास को देखने की दो दृष्टियाँ हैं–एक स्थूल दृष्टि और दूसरी भाव–दृष्टि। स्थूल दृष्टि हम रासलीला के मंच की आकर्षणता, पात्रों के अभिनय की उत्कृष्टता, संगीत की कर्णप्रियता, वस्त्राभूषणों की रूप–सज्जा की श्रेष्ठता, लीला–मण्डली के स्वामी के कण्ठ की मधुरता, व्यवहार–कुशलता को ही देख पाते हैं और वह आवश्यक भी है; पर उससे भी महत्त्वपूर्ण है भाव–दृष्टि। इसके माध्यम से लीलानुकरण को श्री राधा–माधव की साक्षात् लीला के रूप में हम अनुभव कर सकते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव में यह बात देखी गई है कि श्री राधा–माधवरूपी पात्रों

द्वारा सम्पन्न लीलानुकरण को देखकर भावुक भक्त समाधिस्थ हो गये हैं—भाव विह्वल होकर प्रेमाश्रु पूरित हो गये हैं—गद्गद कण्ठ से जय–जयकार करने लगे हैं तथा अपने को लीला का परिकर अनुभव करने लगे हैं। रासलीला का भाव पक्ष कुछ ऐसा ही है।

आज की रासलीला व्यावसायिकता का माध्यम बन रही है—वास्तव में रासलीला श्री राधा–माधव के अनुगत होने की, उनके प्रति समर्पित होने की और उनकी लीला के परिकर बनने की सबसे सरल साधना है। आज भी उसका अपना महत्त्व है, पर अब उसके प्रदर्शन में नाटकीयता अधिक आ गई है, उसका साधना–पक्ष धीरे–धीरे कमजोर हो रहा है। इसके लिए दर्शक और लीला के स्वामीगण दोनों ही समान रूप से दोषी हैं। सभी लीला–स्वामी या सभी दर्शक दोष के भागी हैं, ऐसा नहीं है पर यह सत्य है कि लीला–मंचन अब व्यावसायिकता का माध्यम बनता जा रहा है। कतिपय लीला–स्वामी गण रासलीला–प्रदर्शन के लिए खुलकर अनुबन्ध करने लगे हैं—उनकी दृष्टि अब दक्षिणा या न्यौछावर प्रधान हो गई है—अर्थ–प्राप्ति उनका ध्येय बन गया है। लीलानुकरण के पावन स्वरूप को क्षति पहुँचाकर भी वे दर्शकों की हल्की रुचि को अधिक महत्त्व देने लगे हैं। इससे लीलानुकरण का स्तर एवं उद्देश्य दोनों पराभूत हो रहे हैं। फिल्मी धुनों पर आधारित गीत, हास्य के लिए हल्के सम्वाद, साज–सज्जा में आधुनिक चाकचिक्य की ओर अधिक रुझान तथा अर्थोपार्जन के लिए बार–बार झाँकी के दर्शनों का आयोजन, आज की रासलीला के अंग बनते जा रहे हैं। यह रासलीला के विकास के लिए मांगलिक लक्षण नहीं है। यदि रास–स्वामियों ने कृपापूर्वक मूल स्वरूप एवं भाव को सुरक्षित रखने के लिए सभी अपेक्षित मर्यादाओं का पालन नहीं किया, तो शनैः–शनैः लीलानुकरण के प्रति दर्शकों की समर्पित निष्ठा को गहरा धक्का लगेगा और अंततोगत्वा वे अपनी इस पावन धरोहर को नष्ट करने के उत्तरदायी होंगे।

सही निर्णय की आवश्यकता—ब्रज की रासलीला के प्रति लोगों के मन में श्रद्धा है, लीला के स्वरूपों के प्रति ठाकुर–ठकुरानी का भाव है। श्रीकृष्ण–लीलाएँ तो अन्य संगठनों द्वारा भी सम्पादित होती हैं और तकनीकी दृष्टि से ब्रज की रासलीलाओं से आकर्षक भी होती हैं, पर उनके प्रति दर्शकों का भाव केवल मनोरंजन का होता है—श्रद्धा का नहीं। अतएव ब्रज की रासमण्डलियों के स्वामियों को यह निर्णय लेना होगा कि वे अपने को ब्रज–प्रेमियों का श्रद्धाभाजन बनाये रखना चाहते हैं या केवल अर्थोपार्जन के व्यामोह में अपने गरिमामय स्वरूप को धूमिल होने देना चाहते हैं? पहल उनके हाथ में है।

●

['ब्रज की रासलीला' का द्वितीय 'कला' खण्ड समाप्त]

तृतीय खण्ड

साहित्य

रास सम्बन्धी साहित्य–

रास-साहित्य का प्रेरणा स्रोत–रास की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के लिए ब्रज के धार्मिक मनीषियों एवं भक्त–कवियों ने ब्रजभाषा में जिस विशाल साहित्य की रचना की है; उसका प्रधान प्रेरणास्त्रोत भागवत–दशम स्कन्ध की 'रास–पंचाध्यायी' है। यह साहित्य अधिकतर गान–वाद्यपरक गेय रचनाओं के रूप में और कुछ छन्दोबद्ध वाच्य कृतियों के रूप में है। वैसे इन दोनों प्रकार की रचनाओं का पठन–पाठन एवं वाचन भी होता रहा है और अब भी होता है। उस साहित्य के रचयिताओं में से कुछ ने सम्पूर्ण रास–पंचाध्यायी का प्रबन्ध–शैली में कथन किया है; किन्तु अधिकांश ने उसके आधार पर मुक्तक शैली में पदों एवं छन्दों की रचना की है। इनमें से कुछ ने अपने कथन में मौलिक उद्भावनाओं का भी समावेश किया है। यहाँ पर पहले प्रबन्ध शैली के कृतिकारों का और फिर मुक्तक–शैली के रचनाकारों का सम्प्रदाय क्रम से उल्लेख किया जायेगा।

प्रबन्ध-शैली के रचनाकार और उनकी कृतियाँ–

प्रबन्ध–शैली में रास–पंचाध्यायी का कथन करने वाले कवियों की संख्या अत्यल्प है। अब तक के अनुसन्धान से इस प्रकार के केवल ६ कवियों का पता चला है। इनमें से ५ की रचनाएँ उपलब्ध हैं; किन्तु छठे की कृति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। वे रचनाकार निम्नांकित हैं–

सूरदास (सं० १५३५-सं० १६४०)–जैसा विगत पृष्ठ ११९–१२० में लिखा गया है, वे प्रमुख रूप से मुक्तक–शैली क

रचनाकार हैं; किन्तु उनके कुछ पदों एवं छन्दों से प्रबन्ध–शैली का भी आभास मिलता है। यदि इन पदों एवं छन्दों को रास–पंचाध्यायी के कथा–क्रम से संकलित कर लिया जाय, तब इनसे सूरदास कृत प्रबन्ध–शैली की 'रास पंचाध्यायी' प्रस्तुत की जा सकती है। उनके कुछ बड़े पदों में सम्पूर्ण 'रास पंचाध्यायी' का सार भी मिलता है। ऐसा एक पद यहाँ दिया जाता है–

(राग बिहागरौ)–

सरद चाँदनी रजनी सोहै, वृन्दावन श्री कुंज।
प्रफुलित सुमन बिबिध रँग, जहँ–तहँ कूजत कोकिल पुंज॥
जमुना–पुलिन स्याम–घन सुंदर, अद्‌भुत रास उपायौ।
सप्त सुरनि बंधान सहित हरि, मुरली टेरि सुनायौ॥
थक्यौ पवन, सुर थकित भए, नभ–मण्डल, ससि–रथ थाक्यौ।
अचल चले चल थकित भए, सुनि धरनि उमगि धर काँप्यौ॥
खग–मृग–मीन जीव जल–थल के, सब तन सुरति बिसारी।
सूखे द्रुम पल्लव फल लागे, नव–नव साखा डारी॥
सुनि ब्रज–बधू तज्यौ आरज–पथ, सुत–पति–नेह न कीन्हौं।
प्रगट्यौ अंग अनंग, बिकल भईं, तन–मन सब हरि लीन्हौं॥
जो जैसें, तैसें उठि धाईं, तन–मन सुरति बिसारी।
मुरलि–नाद करि टेर लई हरि, ब्रज–नव–जुवति–कुमारी॥
आँजत नैन अधर दुहुँ के बिच, सारंग–सुत तहँ लाग्यौ।
मानहु अलि बैठ्यौ बंधुक पर, पियत सुमन–रस पाग्यौ॥
कटि–कंचुकी, उरज लहंगा कसि, चरननि हार सँवार्‌यौ।
उलटे भूषन अंगनि साजे, फेर न काहू निहार्‌यौ॥
चलीं सबै तिय आधी रतियाँ, जहँ नव कुंज–बिहारी।
आनि हजूर भईं कानन में, जहाँ स्याम सुखकारी॥
देखि सबै ब्रज–नारि स्याम–घन, चितये बुद्धि सँवारी।
क्यों आईं वृन्दावन भीतर, तुम सब पिय की प्यारी॥

तुम कुल–बधू भवन हीं नीकी, रैनि कहाँ सब आईं।
अपने अपने घर पति–जन सौं, कैसें निकसन पाईं॥
बेनु–सब्द स्त्रवननि मग ह्वै उर, पैठि हमहिं लै आयौ।
अपने अपने घर पति–जन सौं, कैसें निकसन पाईं॥
बेनु–सब्द स्त्रवननि मग ह्वै उर, पैठि हमहिं लै आयौ।
आस तुम्हारी जानि चपल चित, चंचल तुरत चलायौ॥
अपनौ पुरुष छाँड़ि जो कामिनि, अन्य पुरुष मन लावै।
अपजस होइ जगत जीवन भरि, बहुरि अधम गति पावै॥
अजहुँ जांहु सब घोष तरुनि फिरि, तुम तौ भली न कीन्ही।
रैन बिपिन नहिं बास कीजियै, अबलानि कौं नहिं लीन्ही॥
घर कैसै फिरि जाहिं स्याम जू, तन इहईं सब त्यागैं।
तुम तें कहौ कौन ह्याँ प्रीतम, जा सँग मिलि अनुरागैं॥
हम अनाथ, ब्रजनाथ नाथ तुम, चरन–सरन तकि आईं।
निठुर बचन जनि कहौ, पीया तुम जानत पीर पराई॥
दीन बचन सुनि स्त्रवन कृपानिधि, लोचन जल बरषाए।
धन्य–धन्य कहि–कहि नँद–नंदन, हरषति कंठ लगाए॥
मैं कीन्हौ अपमान तुम्हारौ, तुम नहिं जिय कछु आन्यौ।
सरिता जैसें सिन्धु भजै ढरि, तैसें तुम मोहि जान्यौ॥
द्वादस कोस रास परमित भई, ताकौ कहा बखानौ।
बोलि लईं ब्रज–बधू बिहँसि सब, तब मंडल बिधि बानौ॥
पानि–पानि सौं जोरि जुवति, द्वै–द्वै बिच स्याम बिराजै।
कंचन–खंभ खचित मरकत मनि, यह उपमा कछु छाजै॥
अंगहिं कोटि काम छबि लज्जित, मधि नायक गिरिधारी।
नृत्य करत रस–बस भए दोऊ, मोहन–राधा प्यारी॥
ब्रज बनिता मंडली बनी यौं, सोमा अधिक बिराजै।
नूपुर करि किंकिनी चलत गति, अरस–परस्पर बाजै।।
मोर–चंद्रिका सिर पर सोहै, जब हरि रुनझुन नाँचै।

अंग–जंग प्रति और–और गति, कोटि मदन छवि राचै॥
जमुना जल उलटी बही धारा, चंदा रथ न चलावै।
बानक अतिहि बन्यौ मनमोहन, मन्मथ पकरि नचावै॥
नृत्य करत रीझत मनमोहन, राधा कंठ लगाई।
रास बिलास करत सुख उपज्यौ, सब बस किये कन्हाई॥
अंतर ध्यान करत सुख बाढ़ै, राधा बर सुखकारी।
'सूरदास' प्रभु भक्त–बछलता, प्रकट करी गिरिधारी॥१७९९॥

सूरदास ने पदों के अतिरिक्त छंदों में भी रास का कथन किया है। उनके द्वारा रचित छंदोबद्ध 'रास–पंचाध्यायी' भी उपलब्ध है, जो इस प्रकार है–

सरद निसा आई जोन्ह सुहाई। वृंदावन घन में जदुपति–राई।।
सप्त सुरनि बिधि सों मुरलि बजाई। सुनि धुनि नारि चलीं ब्रज तजि आईं।।
(छन्द)– धुनि सुनत व्याकुल भईं जुवती, मदन तन आतुर करी।
विवस भईं तन–मन भुलानीं, भवन कारज परिहरी॥
उलटि भूषन सब बनाए, अंग की सुधि वीसरी।
नंद–सुत चित–वित चुरायौ, आइ भई सब हाजिरी॥
हाजिर आइ भईं जहँ बनवारी। निसि कहँ धाइ चलीं घोष–कुमारी॥
बचन सुनाए मोहन नागरि कौं। पति गृह त्यागे, गुरुजन–बागरि क्यौं॥
(छन्द)– गेह सुत–पति त्यागि आईं, नाहिनैं जु भली करी।
पाप पुन्य न सोच कीन्हौ, कहा तुम जिय यह धरी॥
अजहुँ घर फिरि जाहु कामिनी, काहु सों नहिं हम कहैं।
लोक–बेदनि विदित गावत, पर–पुरुष नहिं धनि लहैं॥
निठुर बचन सुनि ग्वालिनि ठिठुर भई। मुरझाइ रहीं सुधि बुधि सबै गईं॥
बिनय बचन कहि कै ग्वारि सुनाए, तुव चरननि मन दै सब बिसराए॥
(छन्द)– तुव दरस की आस पिय ब्रत नेम दृढ़ यह है धर्यौ।
कौन सुत को मातु को पति कौन तिय को किनि कर्यौ॥

कहाँ पठवत जाहिं काकैं, कहौ कहँ मन मानिहैं।
यहाँ बरु हम प्रान त्यागैं, आईं जहँ सोइ जानिहैं॥
हरि तब हँसि बोले धनि ब्रजनारी। मैं तुम बहुत कसी दृढ़–ब्रतधारी॥
मुख बहुत कही अंतर तुमहीं रहीं। जब जहँ देह धरौं तहँ तुम सँगहीं॥
(छन्द)– कहा कसि कोउ तुमहिं देखै, कनक बारह बानि हौ।
मेरे तौ तुम प्रान जानहु, और मन नहिं जानि हौ॥
तबहि हिलि मिलि रास कीन्हौ, जुवति बहु मंडलि जुरी।
कनक मरकत खम्भ रचि, बिच कान्ह बिच–बिच नागरी॥
अद्‌भुत रास रच्यौ गिरिधर लाड़िले। श्री बृषभानु–सुता सौं हरि चाड़िले॥
अति आनँद बढ़्यौ गोपी हरष भईं। निर्तत रीझे, भुज भरि स्याम लईं॥
जल थल पवन थक्यौ। खग मृग तरु बिथक्यौ॥
देखत मदन जक्यौ। चरननि सरन तक्यौ॥
(छन्द)– जीव सब तिहुँ भुवन मोहे, अमर नभ बिथकित छए।
चंद्रमा–रथ मध्य थाक्यौ, रास–बस मोहन भए॥
और तरुफल और लागे, और भए पल्लव कली।
स्याम स्यामा रास–नायक, गोपिका गन मंडली॥
(दोहा)– रास रंग रस अति बढ़्यौ, मन गर्बित सुकुमारि।
लेहु कंध प्रभु सौं कह्यौ, अंतर भए दैत्यारि॥
तब अंतर भए दैत्यारी। श्री राधा सँग तैं डारी॥
प्रभु संतनि के सुखकारी। दुष्टनि मन गर्ब प्रहारी॥
येई भक्त बछल बपुधारी। धरनी उद्धारनकारी॥
(दोहा)– चहुँ दिसि चितवत चकित ह्वै, स्याम संग कहुँ नाहिं।
आपु अकेले देखि कै, मुरछि परी धर माहिं॥
धर मुरछि परत नहिं जानी। दुख–सागर–माँझ समानी॥
हा कृष्न–कृष्न–रट लागी। हरि–अधर–पान अनुरागी॥
ललिता गहि बाहँ जगाई। तब चौंकि उठी अकुलाई॥
यह कहति उठी हरि आए। जियो मनौ रंक निधि पाए॥

(दोहा)– सावधान तिहिं छिनु भई, नैना दिये उघारि।
ललिता कौ मुख देखि कै, भई बिरह तनु–भारि॥
अति बिकल भई बेहाला। कहुँ देखे श्री गोपाला॥
मोहिं त्यागि गए नँदलाला। तन करत मदन जंजाला॥
मुख–सुंदर–बचन–रसाला। बर–लोचन–कमल–बिसाला॥
मिलि करहु न मोहि निहाला। ढूँढ़ति बन बीथिनि बाला॥
(दोहा)– जहाँ तहाँ खोजति फिरै, चरन–चिन्ह कहुँ पाइ।
बार बार अवलोकि कै, नैन चले ढहराइ॥
बन बेली बूझति जाई। कहुँ नाहिंन मिले कन्हाई॥
चंपकऽरु बकुल बट बूझे। तनु बिरह ब्यथा हिय गूझे॥
खोजे बन बारंबारा। कहि–कहि मुख नंदकुमारा॥
मोहिं नंदनँदन क्यौं त्यागी। मैं अतिहीं परम अभागी॥
(दोहा)– नंदनँदन बस प्रेम वे, प्रगट भए तिहि काल।
प्यारी कों मिलि सुख दियौ, मेटि विरह दुख जाल॥
मिलि मनमोहन ब्रजबाला। फिरि आपुहिं भए कृपाला॥
पुनि रास मंडल–विधि ठाट्यौ। सब काम–द्वंद–दुख काट्यौ॥
सुर–असुर नारि–नर मोहे। इहिं रस–विलास सब पोहे॥
दिवि दुंदुभि देव बजाई। सुर–नारि सुमन बरसाई॥
जै–जै धुनि लोकनि गाए। जस तिहूं भुवन भरि छाए॥
रस–रास–रसिक गुन भारी। श्रीराधा मोहन प्यारी॥
सहसानन कहत न आवै। जिहिं निगम नेति नित गावै॥
सुख आनँद–पुंज बढ़ायौ। क्यौं जात 'सूर' पै गायौ॥१८००॥

२. नन्ददास (सं० १५९०–सं० १६४०)—जैसा विगत पृष्ठों में लिखा जा चुका है, वे रास सम्बन्धी मुक्तक शैली के पदों और प्रबन्ध शैली की रचनाओं के साथ–साथ 'लीला' विषयक कृतियों के भी रचयिता थे। उनके द्वारा रची हुई विविध लीलाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहाँ पर उनके द्वारा रचित प्रबन्ध शैली की

'रास–पंचाध्यायी' का उल्लेख किया जावेगा। वस्तुत: उनका महत्त्व प्रबन्ध शैली के रचनाकार के रूप में ही है। इस शैली में रची हुई उनकी 'रास–पंचाध्यायी' साहित्य जगत् में प्रसिद्ध है। इस प्रकार की जो थोड़ी–सी रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनमें नन्ददासजी की कृति सर्वोत्तम है। इसकी रचना 'रोला' छन्द में हुई है और इसका रचना–काल सं० १६२७–१६२८ के लगभग है। इसमें श्रीकृष्ण द्वारा ब्रज–गोपिकाओं के साथ की गई रास–क्रीड़ा का अत्यन्त सरस कथन है, जो भागवत की 'रास–पंचाध्यायी' पर आधारित है। इसकी भक्ति–भावना वल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति– सिद्धान्त के अनुकूल है।

इसका आरम्भ श्री शुकदेव मुनि की वंदना से हुआ है। उसके उपरान्त वृन्दावन के स्वरूप और श्रीकृष्ण की अलौकिक शोभा का वर्णन है। तत्पश्चात् शरद की ज्योत्स्नामयी रजनी का कथन इस प्रकार किया गया है–

सहज माधुरी वृंदावन सब दिन सुखदाई।
तदपि रंगीली सरद समय मिलि अति छबि पाई॥
ज्यों अमोल नग जगमगाय सुंदर जराब सँग।
रूपवंत गुनवंत भूरि भूषन भूषित अँग॥
रजनी मुख सुख देत ललित मुकुलित जु मालती।
ज्यों नव जोबन पाइ, लसति गुनवती बालती॥
मंद–मंद चलि चारु चंद्रिका अरु छबि पाई।
उझकति हैं पिय रमा–रमन कौं मनु तकि आई॥

उसी मनमोहिनी शरद् निशा में रासोत्सव का आयोजन करने के लिए श्रीकृष्ण ने अपनी मधुर मुरली बजाई, जिसे सुनते ही ब्रज–गोपियाँ अपने–अपने घरों में से निकलकर उस वन्य प्रदेश की ओर दौड़ पड़ीं, जहाँ वह मदमाती वंशी बज रही थी। गोपियों के आगमन पर श्रीकृष्ण की दशा का सुन्दर कथन देखिये–

तिनके नूपुर नाद सुने, जब बचन सुहाए।
तब हरि के मन नैन, सिमटि सब स्त्रवनन आए॥
रुनुक–झुनुक पुनि भली भाँति सों प्रगट भई जब।
पिय के अँग–अँग सिमटि मिले हैं रसिक नैन तब॥

गोपियों के साथ रास करते हुए श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन कवि ने एक अनोखी उत्प्रेक्षा के साथ इस प्रकार किया है–

नव मरकत–मनि स्याम, कनक मनिगन ब्रजबाला।
वृंदावन कों रीझि, मनों पहराई माला॥
साँवरे पिय संग निर्त्तत चंचल ब्रज की बाला।
जनु घन–मंडल मंजुल खेलति दामिनी माला॥

रास–नृत्य के समय कवि ने श्रीकृष्ण और गोपियों के वस्त्रा–भूषण, वाद्य–यन्त्र और पद–ध्वनि के सम्मिलित नाद का जो मार्मिक कथन किया है, उसमें काव्य–सौन्दर्य के साथ नाद–सौन्दर्य भी उभर आया है। देखिये–

नूपुर कंकन, किंकिनि, करतल मंजुल मुरली।
ताल, मृदंग, उपंग, चंग एकहि सुर जुरली॥
मृदुल मुरज–टंकार, तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र के तार, भँवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पद–पटकनि, चटकनि करतारन की।
लटकनि, मटकनि, झलकनि कल कुंडल हारन की॥
हार हार में उरझि, उरझि बहियाँ में बहियाँ।
नील पीत पट उरझि, उरझि बेसर नथ महियाँ॥
मोहन पिय की मलकनि, ढलकनि मोर मुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे, फरकनि पियरे पट की॥

अन्त में इस रचना की फलश्रुति का कथन इस प्रकार किया गया है–

जो यह लीला गावै, चित दै सुनै सुनावै।
प्रेम–भगति सो पावै, अरु सब के मन भावै॥

यह उज्ज्वल रस–माल, कोटि जतनन कै पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ, यहि तारौ जिन कोई॥
अघ–हरनी मन–हरनी, सुंदर प्रेम वितरनी।
'नंददास' के कंठ बसै, नित मंगल–करनी॥

३. हरिराम व्यास (सं० १५६७–सं० १६५५)—उन्होंने रासलीला सम्बन्धी अनेक सुन्दर पदों की रचना की है। विगत पृष्ठों में उन्हें 'छद्म लीला' कार के रूप में लिखा जा चुका है। उनके एक बड़े पद में सम्पूर्ण 'रास पंचाध्यायी' का प्रबन्ध शैली में कथन किया गया है। यह पद सूरदास की नाम–छाप से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' में भी पद संख्या १७९८ पर मिलता है। वस्तुतः यह पद सूरदास का न होकर हरिराम व्यास का है। ऐसा जान पड़ता है, किसी लिपिक ने भ्रमवश इसे सूरदास का समझकर उनकी नाम–छाप से उनके पदों में संकलित कर दिया था। फिर वह उसी प्रकार सूरसागर में भी छाप दिया गया। इस पद के सूर–कृत न होने और व्यास जी द्वारा रचित होने का यह प्रमाण है कि इसकी ावना सूरदास की पुष्टिमार्गीय भक्ति के अनुकूल नहीं है, वरन् व्यास जी की सखी–भाव की उपासना के अनुरूप है, जिसमें 'हरिवंशी–हरिदासी' के सान्निध्य में रहने की कामना की गई है। इसका उल्लेख इस पद में इस प्रकार किया गया है—

'व्यास' आस करि वरनौं रास। चाहत है वृंदावन वास॥
करि राधे इतनी कृपा॥
निज दासी अपनी करि मोहि। नित प्रति स्याम सेऊँ तोहि॥
नव निकुंज सुख–पुंज में॥
हरिवंशी–हरिदासी जहाँ। मोहि करुना कर राखौ तहाँ॥
नित्य विहार अधार है॥

इस 'रास पंचाध्यायी' का कुछ अंश यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

सरद सुहाई आई राति। दस दिसि फूलि रही बन–जाति।
देखि स्याम मन सुख भयौ॥
ससि–गो–मंडित जमना कूल। बरषत बिटप सदा फल–फूल॥
त्रिविध पवन दुख–दवन है॥
राधा–रवन बजायौ बैन। सुनि धुनि गोपिन उपज्यौ मैन॥
जहाँ–तहाँ तें उठि चलीं॥
चलत न काहुहिं कियौ बनाव। हरि प्यारे सौं बाढ़्यो भाव॥
रास रसिक गुन गाइहौं॥
घर–डर बिसर्‌यौ बढ़्यौ उछाह। मन चीतौ पायौ हरि नाह॥
ब्रज नायक लायक सुने॥
दूध पूत की छाँड़ी आस। गोधन भर्त्ता करे निरास॥
साँचौ हित हरि सौं कियौ॥
खान पान तनु की न सम्हार। हिलग छँड़ायो गृह–व्यवहार॥
सुधि बुधि मोहन हरि लई॥
अंजन मंजन अँगन सिंगार। पट भूषन छूटे सिर–बार॥
रास रसिक गुन गाइहौं॥
एक दुहावत तें उठि भगी। और चलीं सोवत तें जगी।
उत्कंठा हरि सौं बढ़ी॥
उफनत दूध न धर्‌यौ उतारि। सीझी थुली चूल्हैहि डार।
पुरुष तज्यौ जैवँत हु तें॥
पय प्यावत बालक धरि चली। पति सेवा कछु करी अनभली।
धर्‌यौ रहौ भोजन भलौ॥
तेल उबटनौ न्हैवौ भूल। भागनि पाई जीवन–मूल।
रास रसिक गुन गाइहौं॥
नव कुंकुम जल बरसत जहाँ। उड़त कपूर–धूरि जहँ–तहाँ।
और फूल–फल को गनै॥

तहाँ स्यामघन रास जु रच्यौ। मर्कतमनि कंचन सौं खच्यौ।
सोभा कहत न आवही॥
जोरि मंडली जुवतिनि बनी। द्वै–द्वै वीच आपु हरि धनी।
अद्‌भुत कौतुक प्रगट कियौ॥
घ्ंघट मुकट विराजत सिरन। ससि चमकत मनौ कौतिक किरन।
रास रसिक गुन गाइहौं॥
भूषन बाजत ताल मृदंग। अंग दिखावत सरस सुधंग।
रंग रह्यौ न कह्यौ परै॥
कंकन, नूपुर, किंकिनि, चुरी। उपजत धुनि मिस्रित माधुरी।
सुनत सिराने स्रवत–मन॥
मुरली, मुरज, रवाब, उपंग। उघटत सबदि बिहारी संग।
नागर सब गुन आगरौ॥
गोपिन मंडल मंडित स्याम। कनक नील मनि जनौ अभिराम।
रास रसिक गुन गाइहौं॥
पग पटकत लटकत लट बाहु। भौंहन मटकत हँसत उछाहु।
अंचल चंचल झूमका॥
मीन कुंडल ताटंक बिलोल। मुख सुखरासि कहै मृदु बोल।
गंडनि मंडित स्वेद–कनि॥
चौंरी डोरी बिलुलित केस। घूमत लटकत मुकट सुदेस।
कुसुम खसे सिर तें घने॥
कृष्ण बधू पावन गुन गाइ। रीझत मोहन कंठ लगाइ॥
रास रसिक गुन गाइहौ॥
उलटि बह्यौ जमुना कौ नीर। बालक–बच्छ न पीवत छीर॥
राधा–रवन ठगे सबै॥
गिरिवर तरुवर पुलकित गात। गोधन थन तें दूध चुचात।
सुन खग–मृग मुनिव्रत धर्‌यौ॥
फूली मही, भूल्यौ गति पौन। सोवत ग्वाल तजत नहिं मौन।

रास–रसिक गुन गाइहौं॥
राग–रागिनी मूरतिवंत। दूलह–दुलहिन सरद–बसंत।
कोक–कला संगीत–गुरु॥
सप्त सुरनि की जात अनेक। नींकैं मिलवति राधा एक।
मन मोह्यौ हरि कौ सुघर॥
छंद ध्रुवनि के भेद अपार। नाँचत कुँवरि मिलैं झपतार।
सबै कह्यौ संगीत में॥
सरस सुमति धुनि उघटत सवद। पिकन रिझावत गावत सुपद।
रास रसिक गुन गाइहौं॥
चंदन चर्चित गोरी बाहुँ। सेत सुवास पुलकित तन नाहुं।
दै चुंवन हरि सुख लह्यौ।
नाँचति गावति गुन की खानि। राखति पियहिं कुचन बिच आनि।
रास रसिक गुन गाइहौं॥
अलि गावत पिक नादहिं देत। मोर–चकोर फिरत सँग हेत।
घन अरु जुन्हई हैं मनौं॥
हस्तक भेद ललित गति लई। मन भूषन तन की सुधि गई।
कच विगलित बाला गिरीं॥
हरि करुना करि लई उठाइ। श्रम–कन पौंछत कंठ लगाइ।
रास रसिक गुन गाइहौं॥
कह्यौ भागवत सुक अनुराग। कैसें समझैं बिनु बड़ भाग।
श्री गुरु सकल कृपा करी॥
'व्यास' आस करि बरनौं रास। चाहत हौं वृंदावन बास।
करि राधे इतनी कृपा॥
निजु दासी अपनी करि मोहिं। नित प्रति स्यामा सेऊँ तोहिं।
नव निकुंज सुख–पुंज में॥
हरबंसी, हरिदासी जहाँ। मोहि करुना करि राखौ तहाँ।
नित्य बिहार आधार है॥

कहत सुनत बाढ़े रस–रीति। स्रोतहि वक्तहि हरि–पद प्रीति।
रास–रसिक गुन गाइहौं॥

४. दामोदर स्वामी (सं० १६४०–सं० १७००)—वे राधा–वल्लभ सम्प्रदाय के विरक्त सन्त थे। उन्होंने समस्त 'रास पंचाध्यायी' का विस्तारपूर्वक कथन किया है। नन्ददास की भाँति दामोदर स्वामी ने भी इसे रोला छन्द में रचा है। यह रचना आकार में नन्ददासजी की कृति से भी बड़ी है; यद्यपि इसका काव्योत्कर्ष उतना श्रेष्ठ नहीं है। इसका रचनाकाल सं० १६८० के लगभग ज्ञात होता है। इसका कुछ अंश इस प्रकार है—

सुन्दर वर श्रीकृष्ण विलोकि सरद की रैनी।
मंजुल फूलनि फूलि मल्लिका रही सुख दैनी॥
रसिक सुदेस नरेस रमन कौं कियौ तबहिं मन।
भाग योगमाया सुदेस सुंदर साँवल तन॥
उदै भयौ उडुराज स्याम सुख काज बिराज्यौ।
अरु नभ मूक सुदेस अमल प्राची दिसि भ्राज्यौ॥
धाईं धामिनि छाँड़ि हियौ मोहन हरि लीनौ।
मारग वंसी सब्द तितहिं मन स्रवण सुदीनौ॥
चंचल कुंडल वेगि प्रीति अति हरि सों बाढ़ी।
तोरि चलीं अति सुदृढ़ यदपि कुल आगर गाढ़ी॥
उमगत भादौं धुनी सुनी कहूँ रोकी चलतें।
पवन कलस में मेलि रोकि किन राख्यौ बल तें॥
ऐसें गोपी चलीं, भली वृंदावन सोहीं।
कमल–नैन सुख–धाम स्याम अभिराम विमोही॥
सुंदर मोहन बैननि बोले नंद दुलारे।
ब्रज जन लोचन–तारे, प्यारे जगत–उजारे॥
महाभाग ब्रज कुसल, सबै तुम नीकै आईं।
आगम कारन कहौ, करौं तुम्हरे मन भाई॥

मात पिता पति बंधु बड़ौ डर ह्वै है तिनकौं।
देखत फिरि हैं सबै सदन तजि आईं जिनकौं॥
तातैं सदनहिं जाहु, रहौ तहाँ सोभा पावौ।
तात–मात परि–भ्रात सुजन गृह सबकों भावौ॥
ऐसे वचन किसोर बदन तें सुनि ब्रज नारी।
चकित थकित यौं भईं, मनहु गथ हारै ज्वारी॥

×

कियौ रास आरंभ अमल दस दिसा रहीं लसि।
कृष्ण बधू मुख मुदित उदित भए मनहु कोटि ससि॥
रास–विलास अपार रूप कछु कहत बनै ना।
लोचन कै नहिं जीभ, जीभ कै नाँहीं नैना॥

×

श्री वृंदावन सदन सहज सुंदर छवि छाई।
ब्रज वधुअन सँग करी कृष्ण क्रीड़ा सुखदाई॥
जो यह मन दै सुनै, गुनैं पुनि कहैं निरंतर।
कृष्ण–भक्ति रति बढ़ै दोष नासैं अभ्यंतर॥
अति रस रूप सुदेस सुखाकर पंचाध्याई।
श्री हरिवंस प्रताप सु 'दामोदर हित' गाई॥[1]

५. कृष्णदास कायस्थ (१८वीं १९वीं शती)—इस कवि के द्वारा रचित समस्त 'रास पंचाध्यायी' की एकमात्र प्रति फारसी लिपि में लिखी हुई उपलब्ध है, जो हमने श्री गोपाल चन्द्र सिन्हा के निजी संग्रह में देखी थी। उन्होंने इसका परिचयात्मक विवरण 'ब्रज भारती' (वर्ष ११ अंक ३–मार्गशीर्ष सं० २०१० वि०) में प्रकाशित कराया था। उनके लिखे अनुसार यह विविध छन्दों में कथित एक सरल काव्य–कृति है। इसका रचयिता जाति का सक्सेना कायस्थ था, जो ग्राम रामपुर (प्रसिद्ध नाम शमसाबाद, जि० फर्रुखाबाद

१. बाबा तुलसीदास द्वारा प्रकाशित 'श्रृंगार रस सागर', चतुर्थ खण्ड से उद्धृत।

उ०प्र०) का निवासी एक भक्त–कवि था। इसका उल्लेख उसने इस प्रकार किया है–

कृष्णदास मम नाम, हरिजन चरन सरोज–रज।
रहत रामपुर ग्राम, शम्साबाद प्रसिद्ध जो॥

इस कृष्णदास को कुछ विद्वानों ने अष्टछापी भक्त–कवि नन्ददास का पुत्र कृष्णदास समझा है और रामपुर को सोरों का निकटवर्ती रामपुर ग्राम बतलाया है।[1] किन्तु वे कृष्णदास सनाढ्य ब्राह्मण थे; जबकि यह कृष्णदास 'दूसरा सक्सेना कायस्थ' था; जैसा कि उसने स्वयं अपने वर्ण का परिचय देते हुए लिखा है–

करि कृपा पूछी वरन, वरन बताऊँ तोहि।
सक्सेना कायस्थ कुल, जानि दूसरो मोहि॥[2]

इसके उदाहरणार्थ एक छन्द प्रस्तुत है–

वरुनी नचाय, रितु ल्याइ ल्याइ,
सारद लजाइ, थकि बिच हारी।
नैनन निहार, अतुलित विचार,
मनसिज विसार दै सुधि सारी॥
थेइ थेइ पुकार, टटकार मार,
निरतत कुमार श्री बनवारी।
छवि रसिक रास, लालन विलास,
जन 'कृष्णदास' तन–मन प्यारी॥

कृष्णदास चालक (विद्यमानता १७वीं शती)–इस कवि का नामोल्लेख नाभा जी कृत 'भक्तमाल' (छप्पय सं० १२४) में हुआ है। इससे उसकी विद्यमानता पूर्वोक्त दामोदर स्वामी एवं कृष्णदास कायस्थ से पहले की सिद्ध होती है। नाभाजी का कथन है–''कृष्णदास

---

१. 'सरस्वती' (फरवरी १९५७) में प्रकाशित लेख–'कृष्णदास की रास–पंचाध्यायी'
२. १–'ब्रज–भारती' (आश्विन–मार्गशीर्ष सं० २०१०) में प्रकाशित लेख–'कृष्ण–दास कायस्थ और उनकी पंचाध्यायी।'
२–'सरस्वती' (नवम्बर १९५७) में प्रकाशित लेख–'पंचाध्यायी पर नवीन प्रकाश।'

चालक ने 'गोवर्धन लीला', 'कृष्ण–रुक्मिणी केलि' और 'भगवद् भोजन विधि' के साथ–साथ 'रास पंचाध्यायी' की रचना की थी। इन सभी कृतियों में उसकी नाम–छाप 'गिरिराज धरन' मिलती है।''[१] यह 'रास पंचाध्यायी' अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। सम्भव है, भविष्यत् अनुसन्धान में उसकी कोई प्रति उपलब्ध हो सके।

मुक्तक शैली के रचनाकार और उनका साहित्य–

मुक्तक शैली में रास सम्बन्धी रचना करने वाले कवियों की संख्या अत्यधिक है और उनके द्वारा रचित रास–साहित्य भी विपुल परिमाण में प्राप्त है। इस समग्र साहित्य की रचना पदों एवं छन्दों में हुई है और इसे ब्रज के सभी भक्ति–सम्प्रदायों के कवियों ने बड़ी रुचिपूर्वक रचा है। यहाँ पर इन रचनाकारों का उल्लेख सम्प्रदाय–क्रम से उनकी रचनाओं के उदाहरणों सहित किया जावेगा।

वल्लभ सम्प्रदायी रचनाकार–

अष्टछापी कवि–ब्रजभाषा भक्ति साहित्य में वल्लभ सम्प्रदायी भक्त–कवियों की रास सम्बन्धी रचनाएँ काल–क्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन और परिमाण में सर्वाधिक हैं। इनमें भी अष्टछापी कवियों की रचनाएँ काव्योत्कर्ष की दृष्टि से भी अनुपम हैं। अष्टछाप के मुकुटमणि महात्मा सूरदास थे। उनके अतिरिक्त सर्वश्री कुम्भनदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास अष्टछाप के वरिष्ठ भक्त–कवि और महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य के प्रमुख सेवक थे। उन चारों महानुभावों ने वृंदावन के भक्ति–सम्प्रदायों द्वारा रास के प्रचार का आयोजन करने से पूर्व ही तत्सम्बन्धी प्रचुर साहित्य प्रस्तुत कर दिया था। उनके बाद अष्टछाप के शेष चार सर्वश्री गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास ने तथा अन्य कवियों ने भी रास के पदों की रचना की थी। यहाँ पर उनका क्रमशः उल्लेख किया जाता है।

---

१. 'सक्र–कोप' सुठि चरत, प्रसिध पनि 'पंचाध्यायी।'
'कृष्ण–रुक्मिनी केलि' रुचिर 'भोजन–विधि' गाई॥
'गिरिराज धरन' की छाप, गिरा जलधर ज्यों गाजै॥१२४॥

सूरदास (सं० १५३५-सं० १६४०)—उनका जन्म दिल्ली के निकटवर्ती सीही ग्राम के एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे जन्मांध थे। श्री हरिरायजी कृत 'भाव प्रकाश' से ज्ञात होता है कि जन्मांधता और घर की निर्धनता के कारण वे अपने माता–पिता के लिए भार जान पड़ते थे; अतः वे बाल्यावस्था में ही घर से निकल गये थें। पहले वे सीही के पास के एक गाँव में रहे और फिर वहाँ से चलकर मथुरा–आगरा के मध्यवर्ती रुनकुता के निकट गऊघाट नामक स्थान पर आ गये, जहाँ वे अपनी ३१ वर्ष की आयु तक रहे थे। पूर्व संस्कार, जन्मजात निष्ठा एवं सत्संग से वे अनेक शास्त्रों के ज्ञाता तथा विविध विद्याओं और कलाओं में पारंगत हो गये थे। वे रस–सिद्ध कवि और शास्त्रीय संगीत के मधुर गायक थे। सं० १५६७ में उन्होंने श्री वल्लभाचार्यजी से पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा ली थी। श्री आचार्यजी ने उन्हें गोवर्धन स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर का प्रमुख कीर्तनकार नियुक्त किया था और आचार्यजी के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी ने उन्हें सं० १६०२ में 'अष्टछाप' में सम्मिलित किया था। उनका स्थायी निवास गोवर्धन में परासौली गाँव के चन्द्र सरोवर पर था। उनका देहावसान उसी स्थल पर सं० १६४० में हुआ था, जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है।

उन्होंने सैंकड़ों पदों की रचना की थी, जिसमें २०० से भी अधिक पद रास से सम्बन्धित हैं। इतने अधिक पद किसी अन्य कवि ने नहीं रचे हैं। इस पर भी वे रास–रस कथन में अपने को असमर्थ बतलाते हुए कहते हैं–

रास रस–रीति नहिं वरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं,
कहाँ इहि चित्त जिय भ्रम भुलावै॥१६२४॥

उन्होंने रास के तीनों रूप–नित्य रास, अवतरित रास और अनुकरणात्मक रास का कथन एवं गायन किया है। 'नित्य रास' का

कथन उनकी एक रचना 'सारावली' में हुआ है, जो इस प्रकार है–

अविगत, आदि, अनंत, अनूपम, अलख, पुरुष अविनासी।
पूरण ब्रह्म, प्रगट पुरुषोत्तम, नित निज लोक विलासी॥
जहाँ वृंदावन आदि अजर, जहाँ कुंज लता विस्तार।
तहाँ बिहरत प्रिया–प्रीतम दोऊ, निगम भृंग गुंजार॥
रतन–जटित कालिंदी कौ तट, अति पुनीत जहाँ नीर।
सारस–हंस–चकोर–मोर खग कूजत कोकिल–कीर॥
जहाँ गोवर्धन पर्वत मनिमै, सघन कंदरा सार।
गोपिन मंडल मध्य विराजत, निसि–दिन करत बिहार॥

उपर्युक्त पद में बतलाया गया है कि परब्रह्म कृष्ण 'आदि वृन्दावन' की कुंज–लताओं में नित्य विहार करते हैं। उनकी यह शाश्वत लीला दिव्य कालिंदी के रत्नजटित तटवर्ती मणिमय गोवर्धन पर्वत की सघन कंदराओं में गोपिका–मण्डल के मध्य अनादिकाल से अखण्ड रूप से हो रही है।

सूरसागर में जो पद मिलते हैं, वे प्रायः सभी 'अवतरित रास' के हैं। इनमें से कुछ को 'अनुकरणात्मक रास' से भी सम्बन्धित माना जा सकता है। 'रासलीलानुकरण' का प्रदर्शन करने वाले रासधारीगण आरम्भ से ही इनका उपयोग करते रहे हैं। रास के ये तीनों रूप अतीव आनन्ददायक हैं। इनके मर्म को समझने वाले मनीषी इनमें ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर आनन्द की अनुभूति करते हैं।

रास सम्बन्धी पदों को प्रस्तुत करने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कृष्ण–गोपियों की यह लीला किसी लौकिक काम–क्रीड़ा के सदृश नहीं है; वरन् यह शुद्ध आध्यात्मिकता पर आधारित है। ब्रज–बालाओं का वंशी–ध्वनि पर मुग्ध होकर आतुर भाव से कृष्ण के सान्निध्य में जाने का अभिप्राय जीवात्माओं का परमात्मा की ओर उन्मुख होना है। किन्तु लौकिक दृष्टि से देखने वाले व्यक्तियों को राधा–गोपियाँ 'परकीया' जान पड़ती हैं। इसलिए

उनकी दृष्टि में रास अनुचित ज्ञात होता है। ऐसे व्यक्तियों की शंका का समाधान करने के लिए सूरदास ने रास के बीच में कृष्ण और राधा–गोपियों का गन्धर्व विवाह करा दिया है। यह प्रसंग 'भागवत' में नहीं है; किन्तु सूरदास ने इसका कथन ब्रह्मवैवर्त पुराण एवं देवी भागवत के आधार पर किया है। उनके तत्सम्बन्धी पद इस प्रकार हैं–

जाकौं व्यास बरनत रास।
है गंधर्व विवाह, चित दै सुनौ विविध विलास॥
कियौ प्रथम कुमारिकनि ब्रत, धरि हृदय विस्वास।
नंद–सुत पति देहु, देवी! पूजि मन की आस॥
दियौ तब परसाद सबकौं, भयौ सबनि हुलास।
मिहिर–तनया–पुलिन बर–तर, विमल जल उछ्वास॥
धरी लग्न जु सरद–निसि की, सोधि करि गुरु रास।
मोर मुकुट सुमौर मानौ, कटक कंगन–भास॥
बेनु–धुनि सुनि स्रवन धाईं, कमल–बदन–प्रकास।
रूप प्रति–प्रति रूप कीन्हे, भुजा अंसनि बास॥
अधर–मधु मधुपरक करि कै, करत आनन हास।
फिरत भाँवरि करत भूषन, अग्नि मनौ उजास॥
नारि–दिवि कौतुकहिं आईं, छाँड़ि सुत–पति–पास।
जिय परी ग्रंथि कौंन छोरै, निकट ननद न सास॥
वरषि सुरपति कुसुम अंजुलि, निरखि त्रिदस अकास।
लेत या रस–रास कौ रस, रसिक 'सूरजदास'॥१६८९॥

(राग सूहौ)

यह ब्रत हिय धरि देवी पूजी। है कछु मन अभिलाष न दूजी॥
दीजै नंद–सुवन पति मेरैं। जो पै होइ अनुग्रह तेरैं॥
(छन्द) तब करि अनुग्रह वर दियौ, जब वरष जुवतिनि तप कियौ।
त्रैलोक्य–भूषन पुरुष सुंदर, रूप–गुन नाहिंन बियौ॥
इत उबटि खोरि सिंगारि सखियनि, कुँवरि चौरी आनियौ।

जा हित कियौ ब्रत नेम–संजम, सो धरी विधि बानियौ॥
मोर मुकुट रचि मौर बनायौ। माथे पर धरि हरि वर आयौ॥
तनु स्यामल पट गीत दुकूले। देखत घन–दामिनि मन भूले॥
(छन्द) तब देत भाँवरि कुंज–मंडप, प्रीति–ग्रंथि हियैं परी।
अति रुचिर परम पवित्र राका, निकट वृंदा सुभ घरी॥
गाए जु गीत पुनीत बहु विध, वेद–रुचि सुंदर–ध्वनी॥
श्री नंद–सुत वृषभानु–तनया रास में जोरी बनी॥
मनमथ सैनिक भए बराती। द्रुम फूले बन अनुपम भाँती॥
सुर बंदीजन मिलि जस गाए। मघवा बाजन अनंद बजाए॥
(छन्द) बाजहिं जु बाजन सकल सुर नभ पुहुप–अंजलि बरषहीं।
थकि रहे व्योम–विमान, मुनि–जन जय–सबद करि हरषहीं॥
सुनि 'सूरदासहि' भयौ आनन्द, पूजी मन की साधिका।
श्रीलाल गिरिधर नवल दूलह, दुलहिनि श्री राधिका॥१६९०॥

यह विवाद आदि पुरुष और आदि प्रकृति का चिरंतन शाश्वत प्रणय–सम्बन्ध है; अतः इसके लिए किसी विधि–विधान की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु सूरदास ने इसमें सभी लौकिक विधियों एवं लोकाचारों को भी सम्पन्न कराया है। वे कहते हैं–

प्रथम ब्याह विधि होइ रह्यौ हो कंकन–चार विचारि।
रचि–रचि पचि–पचि गूंथि बनायौ नवल निपुन ब्रजनारि॥
बड़े हुहो तौ छोरि लेहु, जौ सकल घोष के राइ।
कै कर जोरि करौ विनती, कै छुवौ राधिका–पाइ॥
यह न होइ गिरि कौ धरिवौ हो, सुनहु कुँवर ब्रजनाथ।
आपुन कौं तुम बड़े कहावत, काँपन लागे हाथ॥
बहुरि सिमिट ब्रज–सुंदरि सब मिलि दींही गाँठि घुराइ।
छोरहु बेगि कि आनहु अपनी, जसुमति माइ बुलाइ॥
सहज सिथिल पल्लव तैं हरि जू, लीन्हौ छोरि सँवारि।
किलकि उठीं तब सखी स्याम की, तुम छोरौ सुकुमारि॥

पचिहारी कैसें हु नहिं छूटत, बँधी प्रेम की डोरि।
देखि सखी यह रीति दुहुनि की, मुदित हँसीं मुख मोरि॥१६९१॥

श्रीकृष्ण का वह रास एकदम अद्भुत और अभूतपूर्व था। उससे समस्त ब्रह्माण्ड में ऐसी हलचल हुई, जैसी न पहले कभी देखी गई और न सुनी गई थी। उसके सम्बन्ध में सूरदास का कथन है—

मोहन रच्यौ अद्भुत रास।
संग मिलि वृषभानु–तनया, गोपिका चहुँ पास॥
एकही सुर सकल मोहे, मुरलि–सुधा प्रकास।
जलहु थल के जीव थकि रहे, गोपिनु मन ही उदास॥
थकित भयौ समीर सुनि कै, जमुना उलटी धार।
'सूर' प्रभु ब्रज–बाम मिली बन, निसा करत बिहार॥१७५१॥

आज हरि ऐसौं रास रच्यौ।
स्त्रवन सुन्यौ न, कहूँ अवलोक्यौ, यह सुख अब लौं कहाँ सँच्यौ॥
प्रथमहि सँचे, समाज साज सुर, सब मोहे, कोऊ न बच्यौ।
एकहि बार थकित थिर–चर कियौ? को जानै को कबहिं नच्यौ॥
गत गुन–मद–अभिमान, अधिक रुचि लै, लोचन मन तहँई खच्यौ।
शिव नारद–सारदा कहत यों, हम इतने दिन बादि पच्यौ॥
निरखि नैन रस–रीति रजनि रुचि, काम–कटक फिर कलह मच्यौ।
'सूर' धनुष धीरज न धरयौ तब, उलटि अनंग–अंगन तच्यौ॥१७५७॥

आजु हरि अद्भुत रास उपायौ।
एकहिं सुर सब मोहित कीन्हे, मुरली–नाद सुनायौ॥
अचल चले, चल थकित भए सब, मुनिजन ध्यान भुलायौ।
चंचल पवन थक्यौ नहिं डोलत, जमुना उलटि बहायौ॥
थकित भयौ चंद्रमा सहित मृग, सुधा समुद्र बढ़ायौ।
'सूर' स्याम गोपिन सुखदायक, लायक दरस दिखायौ॥१७५८॥

सूरदास ने दो प्रकार के रास–नृत्यों का कथन किया है। ये हैं—१. कृष्ण–राधिका का युगल रास–नृत्य और २. कृष्ण–राधा–

गोपियों का सामूहिक रास–नृत्य। यहाँ पर इन दोनों से सम्बन्धित पद प्रस्तुत हैं–

१. कृष्ण–राधिका का युगल रास–नृत्य–

नृत्यत हैं दोउ स्यामा–स्याम।
अंग मगन पिय तैं प्यारी अति, निरखि चकित ब्रज–बाम॥
तिरप लेत चपला–सी चमकति, झमकत भूषन अंग।
या छबि पर उपमा कहुँ नाहीं, निरखत बिबस अनंग॥
श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन।
संग तैं होत नहीं कहुँ न्यारे, भए रहत अति लीन॥
रस–समुद्र मानौ उछलति भयौ, सुंदरता की खानि।
'सूरदास' प्रभु रीझि थकित भए, कहत न कछू बखानि॥१६७८॥

नृत्यत स्याम स्यामा हेत।
मुकट–लटकनि, भृकुटि–मटकनि, नारि–मन सुख देत।
कबहुँ चलत सुधंग गति सौं, कबहुँ उघटत बैन।
लोल कुंडल गंड मंडल चपल नैननि सैन॥
स्याम की छबि देखि नागरि, रही इकटक जोहि।
'सूर' प्रभु उर लाइ लीन्ही, प्रेम–गुन करि मोहि॥१७६६॥

नृत्यत स्याम नाना रंग।
मुकट–लटकनि, भ्रकुटि–मटकनि, धरे नटवर अंग॥
चलत गति कटि कुनित किंनिनि, घुँघुरू झनकार।
मनौ हंस रसाल–बानी, अरस–परस बिहार॥
लसति कर पहुँची उपाजै, मुद्रिका अति जोति।
भाव सौं भुज फिरत जबही, तबहिं सोभा होति॥
कबहुँ नृत्यत नारि–गति पर, कबहुँ नृत्यत आपु।
'सूर' के प्रभु रसिक के मनि, रच्यौ रास प्रतापु॥१६७४॥

नृत्यत अंग अभूषन बाजत।
गति सुधंग सौं भाव दिखावत, इक तैं इक अलि राजत॥

कहत न बनै रह्यौ रस ऐसौ, बरनत बरनि न जाइ।
जैसेइ बने स्याम, तैसीयै गोरी, छबि अधिकाइ॥
अद्भुत धुनि उपजति इनि मिलि कै, भ्रमि–भ्रमि इत–उत जोहति।
सुनि–सुनि स्रवन रीझि मनहीं मन, राधा रास–रसैना।
'सूर' स्याम सबके सुखदायक, लायक गुननि गुनैना॥१६७६॥
गति सुधंग नृत्यति ब्रज–नारि।
हाव–भाव नैननि सैननि दै, रिझवति गिरिवर–धारि॥
पग–पग पटकि भुजनि लटकावति, फूंदा करनि अनूप।
चंचल चलत झूमका अंचल, अद्भुत है वह रूप॥
दुरि निरखत अँग, रूप परस्पर, दोऊ मनहीं मन रीझत।
हँसि–हँसि बदन बचन–रस वरषत, अंग स्वेद–जल भीजत॥
बेनी छूटि लटैं बगरानी, मुकुट लटकि लटकानौ।
फूल खसत सिर तैं भए न्यारे, सुभग स्वाति–सुत मानौ॥
गान करति नागरि रीझे पिय, लीन्ही अंकम लाइ।
रस बस है लपटाइ रहे दोउ, 'सूर' सखी बलि जाइ॥१६७५॥

कबहुँ पिय हरषि हिरदै लगावै।
कबहुँ लै–लै तान नागरि सुघर अति, सुघर नंद–सुवन कौ मन रिझावै॥
कबहुँ चुंबन देति, आकरषि जिय लेति, गिरति बिनु चेत, बरा ह्वेत अपनैं।
मिलति भुज कंठ दै, रहति अंग लटकि कै, जात दुख दूरि ह्वै झझकि सपनैं॥
लेति गहि कचनि बिच, देति अधरनि अमृत, एक कर चिबुक इक सीस धारै।
'सूर' की स्वामिनी, स्याम सनमुख ह्वेइ, निरखि मुख नैन इक टक निहारै॥१६८७॥

२. राधा–गोपी कृष्ण का सामूहिक नृत्य, जो मण्डल बाँध कर किया गया–

आजु निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मंद सुगंध पवन बहै, रोम–रोम सुखदाई॥
यमुना–पुलिन पुनीत परम रुचि, रचि मंडली बनाई॥
राधा बाम अंग पर कर धरि, मध्यहिं कुँवर कन्हाई॥

कुंडल सँग ताटंक एक भए, जुगल कपोलनि झाईं॥
एक उरग मानौ गिरि ऊपर, द्वै ससि उदै कराईं॥
चारि चकोर परे मनु फंदा, चलत हैं चंचलताईं॥
उड़पति गति तजि रह्यौ निरखि तजि, 'सूरदास' बलि जाईं॥१७५१॥

रास–मंडल बने स्याम–स्यामा।
नारि दुहुँ पास, गिरिधिरन बने दुहुँनि बिच, ससि सहस–बीस द्वादस उपामा॥
मुकुट की छबि निरखि कहा उपमा कहौं, बैन जानै नहीं नैन जानै।
सुभग नव मेघ ता बीच चपला चमक, निरखि नृत्यत मोर हरष मानै॥
करत आनंद पिय–संग ललना–पुंज, बढ़त रस–रंग छिन छिनहिं औरै।
'सूर' प्रभु रास रस नागरी मध्य दोउ, परस्पर नारि पति मनहिं चोरै॥१६५८॥

रास–मंडल मध्य स्यामा–राधा।
मनौ घन बीच दामिनी कौंधति सुभग, एक है रूप, द्वै नाहिं बाधा॥
नायिका अष्ट अष्टहु दिसा सोहही, बनी चहुँ पास सब गोप कन्या।
मिले सब संग नाहि लखत कोउ परसपर, बने षट–दस सहस कृष्ण सन्या॥
सजे शृंगार नव–सत जगमगि रहे अंग भूषन, रैनि बनी तैसी।
'सूर' प्रभु नवल गिरिधर, नवल राधिका, नवल ब्रज नारि मंडली जैसी॥१६७०॥

उघटत स्याम नृत्यति नारि।
धरे अधर उपंग उपजैं, लेत हैं गिरिधारि॥
ताल, मुरज, रबाब, बीना, किन्नरी रस सार।
सब्द संग मृदंग मिलवत, सुघर नंद–कुमार॥
नागरी सब गुननि आगरि, मिलि चलतिं पिय–संग।
कबहुँ गावतिं कबहुँ नृत्यतिं, कबहुँ उघटति रंग॥
मंडली गोपाल–गोपी, अंग–अंग अनुहारि।
'सूर' प्रभु घन, नवल भामिनि, दामिनी छबि डारि॥१६७७॥

जहाँ श्याम घन रास उपायौ। कुंकुम–जल सुख वृष्टि रमायौ॥
धरती–रज कपूर मय भारी। विविध–सुमन–छबि न्यारी–न्यारी॥
जुवती जुरि मंडली विराजें। बिच–बिच कान्ह तरुनि–बिच भ्राजैं॥

अनुपम लीला प्रगट दिखाई। गोपिन की कीन्ही मन भाई॥
बिच श्री स्याम नारि बिच गोरी। कनक–खंभ मरकत खचि खोरी॥
सोभा–सिंधु–हिलोर हिलोरी। 'सूर' कहा बरनै मति थोरी॥१६५७॥

इस प्रकार रास–विलास द्वारा श्रीकृष्ण ने ब्रज–बालाओं की मनोकामना पूर्ण की। अन्त में श्रम निवारणार्थ सबने यमुना में स्नान किया। सूरदास कहते हैं, वृन्दावन की यह भूमि धन्य है, जहाँ यमुना के तट पर यह रास–लीला हुई। इस पावन लीला का जो प्रेमपूर्वक गायन करते हैं, जो इसके वक्ता एवं श्रोता हैं, वे सब धन्य हैं।

नंद–कुमार रास रस कीन्हौ। ब्रज तरुनिनि मिलि कै सुख दीन्हौ॥
अद्भुत कौतुक प्रगट दिखायौ। कियौ स्याम सबहिनि मन भायौ॥
बिच गोपी, बिच मिले गुपाल। मनि कंचन सोभित सुभ माल॥
राधा–मोहन मध्य विराजैं। त्रिभुवन की सोभा ये भ्राजैं॥
रास–रंग–रस राख्यौ भारी। हाव–भाव नाना गति न्यारी॥
रूप गुननि करि परम उजागरि। नृत्यत अंग–थकित भई नागरि॥
उमंगि स्याम स्यामा उर लाई। बारंबार कह्यौ स्त्रम पाई॥
कंठ–कंठ भुज–भुज दोउ जोरे। घन–दामिनि छूटत नहि छोरे॥
'सूर' स्याम जुवतिनि सुखदाई। तिनके जिय अति गर्व बढ़ाई॥१७०२॥

रास रस स्त्रमित भइ ब्रजबाल।
निसि सुख दै जमुना–तट लै गए, भोर भयौ तिहि काल॥
मनकामना भई परिपूरन, रही न एकौ साध।
षोड़स सहस नारि सँग मोहन, कीन्हौ सुख अवगाध॥
जमुना–जल बिहरत नँदनंदन, संग मिलीं सुकुमार।
'सूर' धन्य धरनी वृन्दावन, रबि–तनया सुखकारि॥१७७४॥

रास–लीला को गाइ सुनाऊँ।
यह जस कहै, सुने मुख श्रवननि, तिहि चरननि सिर नाऊँ॥
कहा कहौं वक्ता–स्त्रोता फल, इक रसना क्यों गाऊँ।
अष्ट सिद्धि नव निधि सुख–संपति, लघुता करि दरसाऊँ॥

जो परतीति होइ हिरदै में, जप–माया धिक देखै।
हरि–जन दरस हरिहिं सम बूझै, अंतर कपट न लेखै॥
धनि वक्ता, तेई धनि स्रोता, स्याम निकट हैं ताके।
'सूर' धन्य तिहि के पितु–माता, भाव–भगति है जाकै॥

कुम्भनदास (सं० १५२५-सं० १६४०)—वे ब्रज के जमुनावती ग्राम निवासी गौरवा क्षत्रिय थे। उनका जन्म कृषक परिवार में हुआ था और वे भी खेती–बाड़ी द्वारा अपने कुटुम्ब–परिवार का पालन–पोषण करते थे। उन्हें नियमित रूप से अध्ययन करने का सुयोग नहीं मिला; किन्तु सत्संग और अध्यवसाय से ही उन्होंने धर्मोपासना तथा साहित्य और संगीत का गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया था। सं० १५५६ में जब श्री वल्लभाचार्यजी ने श्रीनाथजी की सेवा प्रचलित की, तब ये उनके शिष्य हुए थे। उसी समय आचार्यजी ने उन्हें श्रीनाथ जी का प्रथम कीर्तनकार नियुक्त किया। सं० १६०२ में उन्हें गो० विट्ठलनाथजी ने अष्टछाप में सम्मिलित किया था। उनकी बड़ी गृहस्थी थी और वे जीवनपर्यन्त निर्धन रहे थे; किन्तु संतोष, त्याग और अपरिग्रह वृत्ति से कभी विचलित नहीं हुए। मुगल सम्राट अकबर ने उन्हें सम्मानित करने के लिए अपनी तत्कालीन राजधानी फतेहपुर सीकरी में आदरपूर्वक बुलाया; किन्तु उन्होंने उसकी उपेक्षा की थी।

उनकी आसक्ति निकुंज–लीला के प्रति थी; अत: उन्होंने प्रिया–प्रियतम की मधुर लीलाओं के अत्यन्त सरस पदों की रचना की है। उनके समस्त पदों का संकलन कांकरौली विद्या विभाग द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है, जिसमें २२ पद रास के भी हैं। उनमें एक पद 'चलहुं राधिके सुजान' की टेक वाला भी है, जिसे श्री हित हरिवंशजी कृत माना जाता है। यहाँ उनके रास सम्बन्धी मुक्तक पदों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. **गोपाल तरनि–तनया–तीर रासमंडल रच्यौ,**
अधर कल मधुर सुन बैनु बाजै।

जुवति जन जूथ संग नृत्तत अनेक रंग,
निरखि अभिमान तजि काम लाजै॥
स्याम तन पीत कौसेय, सुभ पद नखनि,
चंद्रिका सकल भुव–तिमिर भाजै।
ललित अवतंस, भ्रुव धनुष, लोचन चपल,
चितवनि जनु मदन–बान साजे॥
मुखर मंजीर, कटि किंकिनी कुनित रव,
बचन गंभीर जनु मेघ गाजे।
'दास कुंभन' नाथ हरिदासवर्य–धर,
नख–सिख सुरूप अद्‌भुत बिराजै॥

२. गावति गिरिधरन संग परम मुदित रास–रंग,
उरप तिरप लेत गान नागर नागरी।
सरि–गम–पध–धनि, गम–पधनि, उघटित सप्त सुरनि,
लेति लाग, दाट, काल अति उजागरी॥
चर्बन तांबूल देत, ध्रुव तालहिं गतिहिं लेत,
गिड़ि–गिड़ि तत–थुंग–थुंग अलग लाग री।
सुरति–केलि रास–विलास, बलि–बलि 'कुंभनदास',
श्रीराधा–नंदनंदन वर सुहाग री॥

३. रास–विलास रंग भरि नाँचत नवल किसोर, नवल किसोरी।
एकहि बैस रूप सम एकहि, गिरिधर स्याम राधिका गोरी॥
नव पट पीत अरुन नव भूषन, नव किंकिन कटि तट धुनि थोरी।
सकल सिंगार विचित्र विराजति, मानहु शोभा त्रिभुवन चोरी॥
तान, बंधान, मान रव सों मिलि, बिधिना रची सरस ये जोरी।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्धनधर, सुरति–केलि कंचुकी छोरी॥

४. नव रंग दूलह रास रच्यौ।
आस–पास ब्रज–जुवती राजति, सुघर राग केदारौ सच्यौ॥
ललितादिक मृदंग बजावति, तान–तरंग, सुरंग खच्यौ॥
'कुंभनदास' प्रभु गोबर्धनधर, लाग–दाट मिलि नीकें नच्यौ॥

५. मंजुल कल कुंज देस, राधा हरि विसद वेस,
राका कुमुद–बंधु सरद–जामिनी।
साँवल दुति कनक रंग, बिहरत मिलि एक संग,
मानो नील नीरद मधि लसति दामिनी॥
अरुन पीत पट दुकूल, अनुपम अनुराग मूल,
सौरभ, सीतल अनिल मंद–मंद गामिनी।
किसलय–दल रचित सैन, बोलत पिक चारु वैन,
मान सहित प्रति पद प्रतिकूल कामिनी॥
मोहन मन्मथन–मार, परसत कुचनि बिहार,
वेपथु जुत बदति नेति–नेति भामिनी।
'कुंभनदास' प्रभु केलि, गिरिधर सुख–सिंधु झेलि,
सौरभ त्रैलोकनि को जगत–पाविनी॥
६. यह गति नाँचि–नाँचि लई।
वृन्दावन में रास–बिलास सुख बाढ़त सई॥
भाँति–भाँति राग गावत सुर अलापत कई।
उरप, तिरप, मान लेत ताता–तत–थई॥
स्यामसुंदर करत क्रीड़ा प्रेम–घटा छई।
'कुंभनदास' प्रभु गिरिवर छिनु–छिनु प्रति नई॥
७. चलहु नव नागरी रूप–गुन आगरी,
रास ठान्यौ घनस्याम सुभग जमुना तीर।
साजि भूषन सकल, मुदित करमुख कमल,
विविध सौरभ मिल्यौ पहिरि दच्छिन चीर॥
अधर मुरली लसै, प्रान तोमें बसै,
नाहिं भावै कछु, बढ़ी अति पीर।
जाइ मिलि विमल मति, छाँड़ि सब आन गति,
ज्यों जिय सुख लेहु, मीन पावै नीर॥
कटि जटित पीत पट, सीस लटकत मुकुट,
कुनित भर कुसुम मध्य मधुप, कोकिल, कीर।

'दास कुंभन' प्रभु सप्त सुर सों मिले
गावत है केदारौ राग गिरिवरधरन धीर॥

८. नाँचति रास में गोपाल संग मुदित घोष–नारी।
तरु तमाल स्यामलाल, कनक–बेलि प्यारी॥
चल नितंब, किंकिनि कटि लोल, बंक ग्रीवा।
राग, तान, मान–सहित बेनु–नाद सींवा॥
स्रम–जल–कन सुभग धरे रैनि–रंग सोहै।
'कुंभनदास' प्रभु गिरिधर ब्रज–जुवतिनि मोहै॥

९. कमलनयन प्यारे अवधर तान जानत।
अलग सों लाग, अरु राग सों रागिनि, बहुत अनागत आनत॥
रसिकराय सिरमौर, गुनिनि मँह गुनी तुमहिं जानत।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्धनधर, हरत लाल सब कौ मन, जब गानत॥

१०. गोपाल तरनि–तनया–तीर रासमंडल रच्यौ,
अधर कल मधुर सुन बैनु बाजै।
जुवति जन जूथ संग नृत्तत अनेक रंग,
निरखि अभियान तजि काम लाजै॥
स्याम तन पीत कौसेय, सुभ पद नखनि,
चंद्रिका सकल भुव–तिमिर भाजै।
ललित अवतंस, भ्रुव धनुष, लोचन चपल,
चितवनि जनु मदन बान साजे॥

३. परमानन्ददास (सं० १५५०–१६४१ वि०)—अष्टछापी कवियों में रचना–बाहुल्य की दृष्टि से सूरदास के पश्चात् परमानन्द दास का ही नाम आता है; किन्तु उनके रास सम्बन्धी पद अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। काँकरोली विद्या–विभाग द्वारा प्रकाशित 'परमानन्द सागर' में रास के केवल १८ पद मिलते हैं। इनमें से कतिपय पद यहाँ दिये जाते हैं—

१. रास रच्यौ बन कुँवर–किसोरी।
मंडल विमल सुभग वृंदावन, जमुना–पुलिन स्याम घन घोरी॥

बाजत वेणु–रबाब–किन्नरी, कंकन–नूपुर–किंकिनि सोरी।
ततथेई ततथेई सब्द उघटि पिय, भले बिहारी बिहारिनि जोरी॥
बरहा मुकुट चरन तट आवत, धरै भुजन में भामिनि भोरी।
आलिंगन–चुंबन–परिरंभन, 'परमानन्द' डारत तृन तोरी॥

२. रास विलास गहैं कर पल्लव, एक एक भुज ग्रीवा मेली।
द्वै–द्वै गोपी, बिच–बिच माधौ, नर्तत संग सहेली॥
टूटि परी मोतिन की माला, ढूँढ़ फिरीं सब ग्वारी।
बिगलित कुसुम–माल, कच बिलुलित, निरखि हँसे गिरधारी॥
सरद विमल नभ चंद विराजे, निर्त्तत नंद किसोरा।
'परमानंद' प्रभु बदन सुधानिधि, गोपी नैन चकोरा॥

३. निर्त्तत मंडल मधि नँदलाल।
मोर–मुकुट मुरली पीतांबर, उर गुंजा–बनमाल॥
मुरज–मृदंग संगीत बजत हैं, ततथेई बाजत ताल।
उरप–तिरप नाचत नटनागर, गंधर्व गुनी रसाल॥
बाम भाग बृषभानु–नंदिनी, गज–गति मनहु मराल।
'परमानंद' प्रभु की छवि निरखत, सुख पावत ब्रजबाल॥

४. निर्त्तत मोहन रास–विलास।
गुन गावति वृषभानु–नंदिनी, उघटत सब्द ताथेई तास॥
कर तल ताल मिलत मुरली सँग, बिच–बिच मोहन–मुख मृदु हास।
जै–जैसे करत कुसुम सुर बरसत, गुन गावत 'परमानंददास॥

४. कृष्णदास (सं० १५५३–१६३६ वि०)—वे श्रीनाथ जी के मन्दिर के अधिकारी और अपने समय में बल्लभ सम्प्रदाय के अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' से ज्ञात होता है कि रास की आध्यात्मिक भावना के प्रति उनकी अत्यन्त तन्मयता और आसक्ति थी। उक्त वार्ता के कई प्रसंगों में उनके रचे हुए रास के पद मिलते हैं। उनकी रचनाओं का संकलन काँकरोली विद्या विभाग से प्रकाशित हुआ है, जिसमें रास के भी १०५ पद हैं।

इस प्रकार परिमाण की दृष्टि से ही नहीं, वरन् काव्य और संगीत की दृष्टि से भी उनकी रास–सम्बन्धी रचनाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में उनका नाम सूरदास के बाद ही लिया जा सकता है। यहाँ पर उनके तत्सम्बन्धी कतिपय पद दिये जाते हैं–

१. साँवल मृदुल मनोहर मूरति नंद सुवन जुबतिन सँग गावत।
राग–रंग–रस रसिक रसकिनी राधा–मोहन प्रेम बढ़ावत॥
नूपुर रूनत, क्वणित कटि–किंकिनि सुर वर सों मिलि वेणु बजावत।
तान–मान बंधान अनागत, अवघर तान भेद उपजावत॥
कौतुक रास बिलास सुधानिधि, कमलनयन मनसिज–सर लावत।
त्याग मान प्यारी प्रिय पद रज, 'कृष्णदास' न्यौछावर पावत॥

२. नाँचत गोपाल संग, प्रेम सहित रास–रंग,
ततथेई ततथेई, करत घोष नागरी।
रूप–रासि अंग–अंग, तत तान वर सुधंग,
लास्य भेद निपुन कोक रस उजागरी॥
लेत सुलप उरप–तिरप अवनि उरज बदन फिरत,
मुखरित मनि–दाम मिले अलग लाग री।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर मोहि लिए, सुबस किए,
तरनि–तनया तीर बधू गुनन आगरी॥

३. रास रंग कान्ह संग, नाचति ब्रज–भामिनी।
मेघ चक्र मध्य बनी, मानहुँ सौदामिनी॥
अवधर गति उरप लेति, चपल भौंह बामिनी।
हुलसत मन मदन–केलि, सरद विमल जामिनी॥
गोवर्धन धरन लाल, रिझवति वर कामिनी।
थकित निरखि उडुपति मुख, 'कृष्णदास' स्वामिनी॥

४. रास रंग महँ निर्तत आवति।
रूप–रासि गुन–रासि भामिनी, नवल नंदसुत–मोद बढ़ावति॥
तत्तथेई तत्तथेई सप्त स्वर मिलवति, धिंधिंद्रण द्रण मृदंग बजावति।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर पिय कें, घोष–सुंदरी तन–मन भावति॥

५. बन्यौ रास पुलिन वर, कलिंद–नंदिनी।
जल–सीकर सहित मलय, वायु मंदिनी॥
कुसुमित द्रुम–रात्रि सह्रद, रैनि चंदनी।
मधुप–पाँति सुभग चरन, कमल बंदिनी॥
गोवर्धननाथ केलि, गज गयंदनी।
'कृष्णदास' सगन सरद–चंद फंदनी॥

६. बलिहारी रास–विलास की।
मरकत मनि कंचन मनिमाला, ग्रंथित नंद–कुमार की॥
सारंग राग अलापति गावति, सुविधि मिलन जति तान की।
नाँचति पिय सँग मिलह कपोलनि, लैन उदार उगाल की॥
जमुना–पुलिन मल्लिका मुकलित, विविध समीर सुढ़ार की।
'कृष्णदास' बलि गिरिधर नवरँग, सुरतिनाथ सुकुमार की॥

७. वृन्दावन कुसुमित बहु भाँति।
रच्यौ रासमंडल नँदनंदन, सुख–निधि सरस सरद की राति॥
उडुपति–कर संदोह सुरंजित, जमुना पुलिन प्रफुल्लित जाति।
चातक चकबि चहुँदिस आभासित, कोकिल कल कूजति मधुप–पाँति॥
नृत्य मान जुवती सँग माधव, राधा अधर–सुधा न अघाति।
'कृष्णदास' स्वामी गिरिधर पिय, वैभव देख मधुर मुसकाति।।

कृष्णदास के रास सम्बन्धी पदों में नृत्य और मृदंग आदि के बोल जितने अधिक संख्या में मिलते हैं, उतने किसी अन्य कवि की रचनाओं में उपलब्ध नहीं हैं। उदाहरणार्थ उनके कुछ पद प्रस्तुत हैं–

8. तत्तथेई, तत्तथेई, तत्तथेई थेई थेई, करति धरति पग अवनी।
नननननन श्रीराग अलापति, नंनंनं गति लेती बनी॥
बाम बाहु धरि नवरंग कंध धर, भ्रू–विलास मन्मथ मद–दमनी।
'कृष्णदास' स्वामिनी संगीत–कोक नागरी, रसिक–रवँन गिरिधर पिय रँवनी।।

9. द्रं द्रं द्रं द्रं द्रणणण मृदंग धिधिकट,
तिति कट तिकट तिकट तालावली, धिकट धिधि कट धेई।

उदटित सब्द धुंग–धुंग थेई॥
सुलप में उरप, उरप में तिरप साजै,
तिरप में मानो स्वर सप्त देई।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधरन रिझाइ लिये,
राधिका गुनागरी पिय सर्वसु लेई॥

५. गोविन्द स्वामी (सं० १५६२–सं० १६४२)—वे भरतपुर राज्यान्तर्गत आंतरी गाँव के निवासी थे। घर–वार से विरक्त होने पर वे ब्रज में आ गये; और वहाँ उन्होंने गो० विट्ठलनाथजी से पुष्टिमार्ग की दीक्षा ली थी। गोसाईं जी ने उन्हें 'अष्टछाप' में सम्मिलित किया था; अतः वे गोवर्धन में श्रीनाथ जी का कीर्तन किया करते थे। वे सुकवि होने के साथ–साथ संगीताचार्य थे। उन्होंने बहुसंख्यक पदों की रचना की है। कांकरौली विद्या विभाग ने उनके पदों का संकलन प्रकाशित किया है, जिसमें उनके ५७४ पद हैं। इनमें रास सम्बन्धी १४ पद भी संकलित हैं। यहाँ कुछ पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

१. नाँचत लाल गोपाल रास में सकल ब्रज–बधू संगे।
गिडिगिडि तत थुग तत थुग थेई थेई भामिनी रति रस रंगे॥
सरद विमल उडुराज विराजत गावत तान तरंगे।
ताल मृदंग झांझ अरु झालरि बाजत सरस सुधंगे॥
सिव बिरंचि मोहे सुर सुनि सुनि, सुर–नर मुनि गति भंगे।
'गोविंद' प्रभु रस रास रसिक मनि मानिनी लेत उछंगे॥

२. नाँचत गोपाल लाल संग गोप कुँवरि अति सुधंग,
तथेई तथेई तथेई तथेई मंडल मधि राजै।
संगीत गति भेद मान, लेत सप्त सुर बँधान,
धिधि कटि धिधि कटि मृदंग मधुर मधुर बाजै॥
मुरली रटनि रस कौ रटन, मटकनि कटक मुकुट चटक,
पिय–प्यारी लटकि लपटि उरसि राजै।
'गोविंद' प्रभु पिय की छवि देखत रस बस मंत्र मगन,
जमुना तट काछे नट अद्भुत छवि छाजै॥

३. खेलत रस रास रसिक, राधिका–गोपाल लाल,
ब्रज–वनिता मंडल मधि दंपति सुखकारी।
नाँचत गति सुधंग चालि, हस्तक गहे भेद लिए,
ताल–मृदंग–झांझ बजावत बांसुरी रसारी॥
तत तत तत थेई थेई कहि, गावत केदारौ राग,
सानुराग क्रीड़त रस उपजत अति भारी।
जमुना पुलिन सरद रैनि नटवर मन हरन मैन,
गिरिवर धर छवि निहारि 'गोविंद' बलिहारी॥

६. छीत स्वामी (सं० १५७१-सं० १६४२)—वे मथुरा के चौबे थे। उन्होंने गोकुल में गो० विट्ठलनाथजी से पुष्टिमार्ग की दीक्षा ली थी। गोसाईंजी ने उन्हें 'अष्टछाप' में सम्मिलित किया था; अतः वे भी अन्य कीर्तनकारों के साथ गोवर्धन में श्रीनाथ जी का कीर्तन करते थे। उनके रचे हुए पद अष्टछापी कवियों में सबसे कम हैं। कांकरौली विद्या विभाग ने उनके पदों का संकलन प्रकाशित किया है, जिसमें उनके रास सम्बन्धी केवल ३ पद हैं। उनमें से दो इस प्रकार हैं—

१. लाल संग रास–रस लेत मान रसिक रवनि,
ग्रग्रता, ग्रग्रता, तत तत तत थेई थेई गति लीने।
सरिगमपधनी गमपधनी धुनि सुनि ब्रजराज कुँवर–गावत री,
अति गति जातिभेद सहित्तताननि नननननननन अनिगनि गति लीने॥
उदित मुदित सरद चंद, बंद छुटे कंचुकी के,
वैभव भुव निरखि–निरखि कोटि काम हीने।
बिहरत बन रास–बिलास, दंपत्ति दर ईषद हास,
'छीत–स्वामी' गिरिधर रस–बस करि लीने॥

२. नागरी नव रंग कुँवरि मोहन संग नाँचै।
कटि–तट पट किंकिनी कल, नूपुर–रव रुनझुन करै,
निर्तत, करत चपल चरन–पात घात साँचै॥
उदित मुदित गगन सघन, घोरत घन–भेद भेद,

कोकिल कल गान करति पंचम सुर बाँचै।
'छीत स्वामी' गोवर्धननाथ हाथ वितरत रस,
वर विलास वृन्दावन–वास प्रेम राँचै॥

७. नंददास (सं० १५९०-सं० १६४०)—वे रससिद्ध भक्त–कवि थे। कोमलकान्त पदावली और सुललित शब्द–योजना उनके काव्य की विशेषता है। उसके कारण उनसे सम्बन्धित यह किंवदंती प्रसिद्ध है–'और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया!' उनकी प्रबन्ध शैली की 'रासपंचाध्यायी' का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसके अतिरिक्त उन्होंने रासविषयक मुक्तक पदों की रचना भी पर्याप्त संख्या में की है। यहाँ उनके कतिपय पद दिये जाते हैं–

१. निरतत गिरिधरन संग रंग भरी नागरी।
वृंदावन रम्य जहाँ, बिरहत पिय–प्यारी तहाँ,
मंडल रचि रास रसिक जुबती बन–बाग री॥
बाजत अनहद मृदंग, ताल बिना गति सुधंग,
अंग–अंग लग्यौ निरखि जग्यौ रंग–राग री।
ततथेई शब्द करत, सकल नृत्य भेद सहित,
सुलप सची उरप–तिरप लेत नागरी॥
बहजोड़ी करी कुँवारी, नवल पिय सों नवल प्यारी,
दामिनि सी दरसै रूप–गुनन आगरी।
प्रेम–पुंज गोकुलनारी, ससि सौं सुभग चारी,
बिरहत विपिन विलास बड़े जु भाग री॥
खग–मृग–पसु–पंछी निरख, मोहित भए चर–अचर,
बिथकि रह्यौ चंद्र नलिन सकल भाग री।
मास षट बिहार तेते, निमिष हू न जाने केते,
'नंददास' प्रभु संग रैन रंग जाग री॥

२. देखो देखो री नागर नट, निर्तत कालिंदी तट,
गोपिन के मधि राजे मुकुट लटक।

काछनी किंकिनी कटि पीतांबर की चटक,

कुंडल किरन रवि रथ की अटक॥

त त थेई तत्ताथेई सब्द सकल घट,

उरप तिरप लेत पग की पटक।

रास में श्रीराधे मुरली में येही रट,

'नंददास' गावै जहाँ निपट निकट॥

३. रास में रसिक दोऊ आनँद भरि नाँचत,

गताद्रिम द्रिता ततथेइ ततथेइ ततथेइ गति बोलै।

अँग अँग विचित्र किये लाल, काछिनी कटि सुदेस,

कुंडल झलकैं कपोल, सीस मुकुट डोलै॥

जुवति–जूथ नृत्य करत स्याम ग्रीव भुजा धरै,

स्यामहि मीत रसना समतोलै।

'नंददास' पिय–प्यारी की छवि पर,

त्रिभुवन की सोभा बारौं, बिन मोलै॥

८. **चतुर्भुजदास (सं० १५९७–सं० १६४२)**—वे अष्टछाप के वयोवृद्ध कीर्तनकार कुम्भनदास के सुपुत्र थे और अष्टछापी कवियों में आयु में सबसे छोटे थे। उनके पदों का संकलन कांकरौली विद्या विभाग द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें उनके रास सम्बन्धी ६ पद संकलित हैं। इनमें से कुछ पद यहाँ उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं–

१. अद्‌भुत नट–भेष धरें जमुना तट स्याम सुंदर,

गुन निधान गिरिवरधर रास–रंग नाचैं।

जुबति–जूथ संग मिलि गावत केदार राग,

अधर बेनु मधुर–मधुर सप्त सुरनि साँचै॥

उरप–तिरप लाग–डाट तत–तत–तत–थेई–तथेई–थेई,

उघटत सब्दावलि गति भेद कोऊ न बाँचें।

'चत्रभुज' प्रभु बन बिलास, मोहे सब सुर अकास,

निरखि थक्यौ चंद रथहि पच्छिम नहिं खाँचें॥

२. मदनगोपाल रासमंडल में, मालव राग रस भर्‍यौ गावै।
औघर तान बंधान सप्त सुर, मधुर–मधुर मुरलिया बजावै॥
निर्तत सुलप लेत नूपुर सच बहुविधि हस्तक भेद दिखावै।
उघटत सब्द तत्तथेई तत्तथेई, जुवति वृंद मन मोद बढ़ावै॥
थक्यौ चंद गोहे खग–मृग गन, प्रति छिनु अमित आन गति लावै।
'चत्रभुज' प्रभु गिरिधर नट नागर, सुर–नर–मुनि गति–मति विसरावै॥

अष्टछापी कवियों के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदायी रचनाकार–

अष्टछाप के पूर्वोक्त आठों कीर्तनकारों के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय के प्रायः सभी भक्त कवियों ने थोड़े–बहुत रास सम्बन्धी पदों की रचना की है। उन भक्त कवियों में काल–क्रम में श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य–सेवकों के नाम पहले आते हैं। उनके पश्चात् श्री विट्ठलनाथजी तथा उनके वंशजों के शिष्य–सेवकों का नामोल्लेख किया जाता है।

श्री वल्लभाचार्यजी के शिष्य-सेवक–

९. श्री गदाधरदास (प्रायः सं० १५४०-सं० १६००)–वे चैतन्य सम्प्रदायी गदाधर भट्ट तथा श्री विट्ठलनाथजी के सेवक गदाधर मिश्र से भिन्न और उनके पूर्ववर्ती थे। इन गदाधरदास का उल्लेख 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (संख्या ८) में हुआ है। उससे ज्ञात होता है कि वे सारस्वत ब्राह्मण थे। इसके अतिरिक्त उनके जीवन–वृत्त और निश्चित काल के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कुछ ज्ञात नहीं होता है। कीर्तन की पोथियों में 'गदाधर' की छाप के जो पद मिलते हैं, उनके विषय में भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे किस गदाधर द्वारा रचे हुए हैं।

निम्नलिखित रास सम्बन्धी पद सम्भवतः इसी गदाधरदास के हैं–

१. निर्तत राधा नंदकिशोर।
ताल मृदंग सहचरी बजावत, बिच बिच मोहन मुरली कल घोर॥

उरप–तिरप पग धरत धरनि पर, मंडल फिरत भुजन भुज जोर।
सोभा अमित विलोक 'गदाधर', रीझ–रीझ डारत तृन तोर॥

२. करत हरि नृत्य नवरंग राधा संग,
लेत नव गति भेद चरचरी ताल के।
परस्पर दरस रसमत्त भये ततथेई–थेई,
गति लेत संगीत सु रसाल के॥
फरहरत बर्हिवर, थरहरत उर हार,
भरहरत भ्रमर वर, विमल बनमाल के।
खसित सित कुसुम सिर हँसत कुंतल मानो,
लसत कल झलमलत स्वेद कन भाल के॥
अंग अंगन लटक मटक भृंगन भ्रोंह,
पटल पटताल कोमल चरन चाल के।
चमक चल कुंडलन दमक दसनावली,
विविध विद्युत भाव लोचन विसाल के॥
बजत अनुसार द्रिमद्रिम मृदंग निनाद,
झमक झंकार कटि किंकिनी जाल के।
तरल ताटंक तड़ित नील नव जलद में,
यों विराजत प्रिया पास गोपाल के॥
जुवति जन यूथ अगनित वदन चंद्रमा,
चंद्र भयौ मंद उद्योत तिहिं काल के।
मुदित अनुराग वस राग–रागिनि तान,
गान गति गावैं रंभादि सुर–बाल के॥
गगनचर सघन रस मगन वरषत फूल
वार डारत रत्न जतन भर थाल के।
एक रसना 'गदाधर' नाहिं वरनत बनै,
चरित अद्‌भुत कुँवर गिरिधरन लाल के॥[1]

---

१. 'गदाधर' नाम–छाप के ये दोनों पद चैतन्य सम्प्रदायी गदाधर भट्ट के पद–संग्रह में भी मिलते हैं। संभव है, इनमें से कोई पद भट्टजी का भी हो।

१०. मुकुन्ददास (प्रायः सं० १५४६-सं० १६००)—उनकी 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि वे मालवा प्रदेशीय कायस्थ जाति के एक विद्वान भक्त–कवि थे। श्रीमद्‌भागवत के वे अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने उसके आधार पर 'मुकुन्द सागर' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। 'कीर्तन' की पोथियों में उनके कुछ स्फुट पद मिलते हैं, जिनमें से रास सम्बन्धी एक पद इस प्रकार है—

१. श्रीवृषभाननंदनी नाँचत रास रंग भरी।
उरप–तिरप लाग–डाट उघटत संगीत शब्द,
तत थेई थेई थेई बोलत जगत वंदिनी॥
नाँचत स्वर ताल मृदंग लेत युवती सुधंग,
कोक कला निपुन सरस कामकंदिनी।
रिझवार देत प्रान, प्रभु 'मुकुंद' अति सुजान,
मोही कल गान तिय प्रेम–फंदिनी॥

११. विष्णुदास (सं० १५६७–१६४० के लगभग)—वे आगरा निवासी छीपा जाति के भक्तजन थे। पुष्टिमार्गीय भक्ति सिद्धान्त के अच्छे ज्ञाता होने के साथ–साथ वे कीर्तनकार भी थे। उनका रचा हुआ रास सम्बन्धी एक पद इस प्रकार है—

१. रुचिर रमित रुचि रासै।
कुसुमित कानन सम द्रुम वेली, निजकृत उडुप प्रकासै॥
युवती युगल युगल प्रति माधौ, करत विनोद विलासै।
वेणु मृदंग मंजीर किंकिणी क्वणित, मधुर शब्द मृदु हासै॥
यमुना तीर भीर खग मृग की, मंद समीर सुवासै।
वरषत कुसुम इंद्र सुर धावत, शंकर त्यज कैलासै॥
निरख नयन छवि मुरझयौ मन्मथ, लोचन पद्म पलासै।
'विष्णुदास' प्रभु गिरिधर क्रीड़त, कथा कथित शुक–व्यासै॥

श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य-सेवक–

गो० विट्ठलनाथजी के अनेक शिष्य–सेवकों ने रास सम्बन्धी पदों की रचना की है। उनमें से चार अष्टछापी कीर्तनकारों के अतिरिक्त अन्य भक्त–कवियों के रासविषयक पद यहाँ दिये जाते हैं–

१२. रामराय (सं० १५६०–१६३० वि०)–वे वल्लभ सम्प्रदायी थे अथवा चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी इस प्रश्न का उत्तर विवादग्रस्त है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अन्त में 'रामराय हित भगवानदास' की वार्ता है। इसमें लिखा गया है, रामरायजी गो० विट्ठलनाथजी के सेवक और चैतन्य मतानुयायी भगवानदास के पुरोहित थे। चैतन्य सम्प्रदाय में रामरायजी को उक्त सम्प्रदाय का अनुयायी माना जाता है। हमने अपने ग्रन्थ 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य' (पृष्ठ १४१–१४५) में इस विषय पर पर्याप्त ऊहापोह किया है। हमारा मत है, रामरायजी पहले वल्लभ सम्प्रदायी थे, बाद में वे चैतन्य सम्प्रदाय की ओर आकृष्ट हो गये थे। उनके रचे हुए पद दोनों सम्प्रदायों में मान्य हैं। रास नृत्य की भावना से सम्बन्धित उनके दो पद यहाँ दिये जाते हैं–

१. जुगल कुंज जमुना तट निर्तत, मिल–मिल ललित–मेघ–श्री गाजत।
बीना बाल गह्यौ कर अपुने, संग बाँसुरी लाल बजावत॥
नूपुर–धुनि सुनि मेघ–माल गुनि, घोर पखावज साज बजावत।
'रामराय' सब बाल सहचरी, देत हुलसि चपला चमकावत॥

२. रास रस रसिक रासेश्वरी स्वामिनी।
रुचिर राजत रसिक, अधर अमृत चसिक,
उरज कंचुकि–कसिक वसि करति कामिनी॥
मधुर अंग–अंग छबी, सुभग हिमकर रवी,
कुमुद सौरभ फबी, अधिक अभिरामिनी।
कचन किरनन छटा, प्रघट सहचरि घटा,
चलित कर कटाक्षन सु मत्त गजगामिनी॥
अलिनु आलाप वसु, करत पियकौं सु वसु,

गान समान रस पान जस पामिनी।
विपिन सोभा सघन त्रिविध पावन पवन,
सलिल जमुना रवन शरद ऋतु जामिनी॥
धरत थेई थेई चरन मत्त मनि मन हरन,
'श्रीरामराय' सरन जुग वरन घन–दामिनी॥

१३. आसकरन (सं० १५८०-१६४६)—वे नरवरगढ़ के राजा और उच्चकोटि के भक्त–कवि थे। उनका रचा हुआ रास सम्बन्धी एक पद प्रस्तुत है–

१. निर्तत गोपाललाल तरनि–तनया तीरे।
युवती जन संग लियें मन्मथ–मनकरषि कियें,
अंग–अंग सुखद कियें राजत बलवीरे॥
लावन्यनिधि गुन आगर कोककला गुन–सागर,
त्रिविध ताप हरत सीतल समीरे।
'आसकरन' प्रभु मोहन नागर गुननिधान,
संगीत–सार रिझवत ब्रजवधू नागर फरकत पट पीरे॥

१४. रामदास—वे खंभाइच (गुजरात) निवासी भक्त–जन थे। श्री विट्ठलनाथजी के सेवक होने के अनन्तर वे गोवर्धन में रहने लगे थे। उन्होंने अनेक पदों की रचना की है। उनमें से रास सम्बन्धी एक पद इस प्रकार है–

१. नटवर गति नृत्यत हैं, भक्तन उर परसत है,
पुलकित तन हरखत हैं, रास में लालबिहारी।
बाजत ताल मृदंग उपंग, बाँसुरी बीना स्वर तरंग,
ग्रग्रता थुंगथुंग, लेत छंद भारी॥
कटि काछिनि पीत सुरंग, मोर मुकुट अति सुधंग,
राख्यौ अर्ध भाल ललित, शीशपेच संभारी।
आरती वारति यशोदा माय, लेत कंठ उर लगाय,
देखत सुर–नर–मुनि और 'रामदास' बलिहारी॥

१५. धोंधी (सं० १५९८-१६४२ के लगभग)—वह गो० विट्ठलनाथजी का कृपापात्र मुसलमान भक्त–गायक था। ध्रुपद गान शैली के सुविख्यात नायकों में उसकी गणना की जाती है। फलतः संगीत के क्षेत्र में वह 'नायक धोंधी' के नाम से प्रसिद्ध है। उसके रचे हुए जो पद उपलब्ध हैं, उनमें रास सम्बन्धी एक पद निम्नांकित है—

१. राजत निर्तत पीय संग सुंदर जई।
मंडल के बीच–बीच भेख धरतई॥
ब्रज–विलास द्रग हुलास भेद करत कई।
निरखि यमुना चंद थक्यौ, अनिल पद दई॥
गिरिधर संगीत निपुन भेद काछै कछई।
उरप–तिरप लेत सुलप संचन सुरसई॥
'धोंधी' के प्रभु नट नागर अद्‌भुत गति लई।
सूर–सुरपति व्योंम थके, सुखद वेलि बई॥

१६. चतुरविहारी—वह बचपन से ही काव्य–रचना करता था। श्री विट्ठलनाथजी से पुष्टिमार्ग की दीक्षा लेने के उपरान्त वह भक्ति सम्बन्धी पद–रचना करने लगा। उसका रास सम्बन्धी एक पद प्रस्तुत है—

१. बन्यौ रास मंडल अहो, युवति यूथ मध्य नायक नाँचै–गावैं।
उघटत शब्द थेई–थेई ताथेई, गत में गत उपजावैं॥
बनी श्री राधावल्लभ जोरी, उपमा कों दीजै को री,
लटकत हैं बाँह जोरी रीझ–रिझावैं।
सुर नर मुनि मोहे जहाँ–तहाँ थकित भए,
मीठी–मीठी तान लालन वेणु बजावैं॥
अंग–अंग चित्र किये, मोर चंद माथें दिये,
काछनी काछें पीताम्बर सोभा पावै।
'चतुरविहारी' प्यारी प्यारे ऊपर वार डारी
तन–मन–धन, यह सुख कहत न आवै॥

१७. हरिजीवन (सं० १५९४-सं० १६३६)—वह अहमदाबाद के निकटवर्ती एक गाँव का रहने वाला वैश्य था। जब श्री विट्ठलनाथजी वहाँ की यात्रा को गये थे, तब वह उनकी शरण में आया था। उसने अनेक पदों की रचना की है। एक पद रास का यहाँ दिया जाता है—

१. गोपवधू मंडल मध्ये, नायक गोपाललाल,
रुचिरानन बिंबाधर, मुरलिका धरे।
अद्भुत नटवर विचित्र, वेस टेक अति सुदेस,
कनक कपिस काछे सिखि सिखंड सिखरे॥
कुकुझाँ झनकत थोंग–थोंग, थोंगत किटधि किटधि ततथेई
उघटत रास रस भरे।
जय जय गिरिराजधरन कोटि मदन मूरति पर,
'हरिजीवन' बलि–बलि ब्रज पुरंदरे॥

१८. कट हरिया (प्रायः १६०० से १६५०)—वह गुजरात का एक डाकू था। जब श्री विट्ठलनाथजी वहाँ की यात्रा को गये थे, तब उसने उन्हें लूटने का प्रयास किया था। किन्तु उनके दर्शन करते ही उसे अपराधी वृत्ति से घृणा हो गई और वह भक्ति–मार्ग में अग्रसर हो गया। उसने कुछ पद–रचना भी की है। उसका रास सम्बन्धी एक पद इस प्रकार है—

१. निर्तत रास मंडल मधि रंग रह्यौ, निर्तत बाँह जोरि गोपिन मिलि कान्ह।
पाइन नूपुर बजावें हस्तक भेद बतावें, गिडि–गिडि–ताथेई,
ताथेई–ताथेई थेई, लेत उरप–तिरप मान॥
मुरली धुनि नाद छायौ, मन की गति पंग भई,
श्री यमुना थकित रही, सुर–नर–मुनि टस्यौ ध्यान।
विरजीयो श्रीराधा–मदनमोहन जू की जोरी ऊपर,
जन 'हरिया' प्रभु वारत अपनौ तन–मन–प्रान॥

१९. रसखान (विद्यमानता १७वीं शती)—वे दिल्ली के मुसलमान पठान थे; किन्तु ब्रज की भक्ति–भावना से आकर्षित

होकर गोवर्धन आ गये थे। वहाँ पर वे गो० विट्ठलनाथ जी के शरणागत हुए और बल्लभ सम्प्रदायी कीर्तनकारों एवं भक्तजनों का सत्संग करते रहे। उससे वे श्रीकृष्ण की ब्रज लीलाओं और ब्रज संस्कृति के परमानुरागी हो गये थे। उन्होंने ब्रजभाषा कवित्त, सवैया छन्दों में अत्यन्त सरस काव्य–रचना की है। इसमें श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का रसपूर्ण मार्मिक कथन किया गया है। उनकी रचनाओं में रास के भी कुछ छन्द उपलब्ध ह, जो यहाँ पर दिये जाते ह–

(कवित्त) १. **अधर लगाइ रस प्याइ बाँसुरी बजाइ,**
मेरौ नाम गाइ हाय जादू कियौ मन में।
नटवर नवल सुघर नंद–नंदन नें,
करिकै अचेत चेत हरि कै जतन में॥
झट पट उलट पुलट पट परिधान,
जान लगीं लालन पै सबै बाग–बन में।
रस रासि सरस रंगीलौ 'रसखान' आनि,
जानि जोर जुगति विलास कियौ जन में॥

(सवैया)

२. **काछ नयौ इकतौ बर जेउर, दीठ जसोमति राज कस्यौ री।**
या ब्रजमंडल में 'रसखान' कछू तब तें रस–रास पस्यौ री॥
लीजियै जीवन कौ फल आजु ही, लाजहिं काल सिंगार हौं बौरी।
केते दिनानि पै जानति हौ, अँखियान के भागनि स्याम नच्यौ री॥

३. **आजु भटू इक गोप–कुमार नें, रास रच्यौ इक गोप के द्वारै।**
सुंदर बानिक सों 'रसखान', बन्यौ वह छोहरा भाग हमारै॥
ए विधिना! जो हमैं हँसती, अब नैंकु कहूँ उत कों पग धारै।
ताहि बदौं फिर आवै घरै, बिनहीं तन औ मन–जीवन वारै॥

४. **आजु भटू मुरली बट के तट, नंद के छोहरा रास रच्यौ री।**
नैंननि सैंननि बैननि सों वहिं, कोउ न मनोहर भाव बच्यौ री॥
जद्यपि राखन कों कुल–कानि, सबै ब्रज–बालनि प्रान पच्यौ री।
तद्दपि वा 'रसखान' के हाथ, बिकानि कों अंत लच्यौ पै लच्यौ री॥

५. कीजै कहा जु पै लोक चबाव सदा करिबौ करि हैं बजमारौ।
सीत न रोकत राखत कानु सु गावत ताहि री गावन हारौ॥
आउ री सीरी करैं अँखियाँ, 'रसखान' धनै धन भाग हमारौ।
आवत है फिरि आज बन्यौ वह, रात के रास कौ नाचन हारौ॥

६. सासु अछे बरज्यौ बिटिया, जु बिलोकै अतीव लजावत है।
मोहि कहै जु कहूँ वह बात, कही यह कौन कहावत है॥
चाहत काहू के मूंड़ चढ्यौ, 'रसखान' झुकै झुकि आवत है।
जब तैं वह ग्वाल गली में नच्यौ, तब तैं वह नाच नचावत है॥

७. देखत सेज बिछी ही अछी सु बिछी विध सौं भिदिगौ सिगरौ तन।
ऐसी अचेत गिरी नहिं चेत उपाय करै सिगरी सजनी गन॥
बोली सयानी सखी 'रसखान', बचै यौं सुनाय कह्यौ जुवती जन।
देखन कौं चलिये री चलौ सब, रास रच्यौ मनमोहन जू वन॥

२०. हरिवंश—वे राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीहित हरिवंशजी से भिन्न और उनके कुछ परवर्ती थे। उन्होंने श्री विट्ठलनाथजी से पुष्टिमार्ग की दीक्षा ली थी। वे अत्यन्त वृद्धावस्था तक जीवित रहे थे। उनकी वयोवृद्धता के कारण वे चाचा हरिवंश जी के नाम से सम्प्रदाय में प्रसिद्ध थे। उनके रास सम्बन्धी पदों में से एक पद यहाँ दिखाया जाता है—

१. हरि रास रच्यौ चलु देखि री॥
बाजत मृदंग नृत्तत थिर्ड्–थिर्ड् दिधिन–दिधिन,
ऊनन–ननन नूपुर धुनि बाजै।
उघटत मुख मोहन तकथुंङ्त थुंङ्त दिमत,
दिम–दिम दिम तक–तक–तक सुंदर गति राजै॥
नयननि में असिति दिव्य दान कुँवर,
अवनट नटवर बपु पेखि री।
हरि रास रच्यो चलु देखि री॥

२. ठुमुक–ठुमुक धरति चरन, किंकिनी झननन–ननन,
ननन–ननन लेत तान कैऊ रागिनी॥
कोकिला की कुहुक–कुहुक मुखर ह्वै 'हरिवंश' कहै,
कुकुक–कुकुक मोर चिकुर मैन जागिनी॥
थिर्र–थिर्रतेवट मुख कृत चरन उघटत,
गति अद्‌भुत इहि अवसर सुख सरस पैखि री।
हरि रास रच्यौ चलु देखि री॥

२१. गंगाबाई 'विट्ठल गिरिधरन' (सं० १६२०-सं० १७२५)—वह गो० विट्ठलनाथजी की शिष्या और श्रीगोवर्धननाथजी की कृपा–पात्र भक्त–कवयित्री थी। उसने 'श्रीविट्ठल गिरिधरन' की छाप के पदों की रचना की है। उनके बहुसंख्यक पद उपलब्ध हैं। उसने प्राय: १०५ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त की थी। उसके रास सम्बन्धी कतिपय पद यहाँ दिये जाते हैं—

१. रास रच्यौ वंसीवट के तट।
नृत्यत प्रेम भरे पिय–प्यारी, चंद वदन पर छूट रही लट॥
सुंदर स्याम सुभग कर मुरली, अधर धरें उघटत थेई–थेई रट।
मोर मुकुट कडल की डोलन, मुरझि पर्‌यौ लखि मैन महा भट॥
ब्रज बनिता छवि देख विमोहीं, वार देत आभूषन और पट।
लीला ललित महामुनि मोहे, 'श्री विट्ठल गिरिधर' नागर नट॥

२. वंन में रास रच्यौ बनवारी।
यमुना पुलिन मल्लिका फूली, सरद रैन उजियारी॥
मंडल बीच स्यामघन सुंदर, राजत गोप–कुमारी।
प्रकटत कला अनेक रूप तिहिं, अवसर लाल बिहारी॥
सीस मुकुट कुंडल की झलकन, अलक बनी घुँघरारी।
कंबु कंठ ग्रीवा की डोलन, छीन लंक लहकारी॥
धाय–धाय झपटत उर लपटत, उरप–तिरप गति न्यारी।
नृत्यत हँसत मयूर मंडली, लागत सोभा भारी॥

३. नृत्यत रास में पिय–प्यारी।
यमुना पुलिन सुभग वृंदावन, सरद रैन उजियारी॥
बाजत ताल मृदंग झाँझ और सप्त स्वरन गति न्यारी।
उरप–तिरप गति लेत सुलप अति, लाडिली–लाल बिहारी॥
जय जय कहि वरखत कुसुमावलि, सुरन सहित सुरनारी।
'श्री विट्ठल गिरिधरन लाल' पर, सर्वस्व डारत वारी॥

श्री विट्ठलनाथजी के वंशज और उनके शिष्य-सेवक–

श्री विट्ठलनाथजी के ७ पुत्र थे। उनसे वल्लभ सम्प्रदाय के 'सप्त गृह' की परम्परा प्रचलित हुई है। उनमें से कतिपय गृहपतियों और उनके शिष्य–सेवकों ने भी रास सम्बन्धी पदों की रचना की है। उनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है–

'प्रथम गृह' से सम्बन्धित रचनाएँ

२२. गो० ब्रजपतिजी–उनका रास सम्बन्धी एक पद इस प्रकार है–

तरनि–तनया तीर लाल गिरिवरधरन,
राधिका संग नृत्यत सुभग रास में।
ततथेई ततथेई करत गति भेद सों,
पिय अंग–अंग मिलत सुंदरी ता समें॥
नंदनंदन निरख सुर सहित सुरनारि,
वेणु कल नाद सुन मोहे आकास में।
थक्यौ घन चंद सब तारिका थक रहीं,
तान स्वर गान 'ब्रजपति' करत जा समें॥

'द्वितीय गृह' से सम्बन्धित रचनाएँ

२३. गो० हरिरायजी (रसिक प्रीतम)–बल्लभ सम्प्रदायी आचार्यों में गो० हरिरायजी बड़े विद्वान् और समर्थ साहित्यकार हुए हैं। उन्होंने संस्कृत और ब्रजभाषा में प्रायः २५० छोटे–बड़े ग्रन्थों की रचना की थी। वार्ता–साहित्य के तो वे प्रमुख निर्माता और प्रचारक

थे। उनकी कृतियों में 'रास कौ प्रसंग' नामक एक ब्रजभाषा रचना भी है। उन्होंने ब्रजभाषा में विविध विषयों के विपुल पद भी रचे थे; किन्तु उनके रास सम्बन्धी पद बहुत कम मिलते हैं। वे दीर्घजीवी हुए थे और सं० १६४७ से सं० १७७२ तक विद्यमान थे। उनके रास सम्बन्धी कतिपय पद यहाँ दिये जाते हैं–

१. सप्त सुर तीन ग्राम इकईस मूरछना,
तान उनचास मिलि मंडल मधि गावें।
चारि करन हस्तक सिर नैन भेद बहु भाँति,
ताल सुरन उपजत गति नृत्य कर नचावें॥
तातक धिकिट थोंग–थोंग कुकुझं कुकुझं,
झनकिट–धिनकिट धिम्–धिम् मृदंग बजावें।
'रसिक प्रीतम' छवि निरखत देव–जुवती मोहीं,
तन–मन उमँगि–उमँगि विविध कुसुम बरसत सुख पावें॥

२. नव रसाल पल्लव अरु सिखि सिखंडी कमल माल,
पीत बसन रुचि बिचित्र भेद दोऊ माई।
बन लीला गोपन की, सुखद गोष्ठि मधि विराजें,
रंग मंडप नट की, ज्यों नाँचत सुखदाई॥
कबहुँक मिलि योंही गावें, हस्तक कर गति बतावें,
सखन सुख बढ़ावें, सुनत तन की सुधि जाई।
ब्रज जन बहु गुन गावत, अंतर गति सुख पावत,
'रसिक प्रीतम' चरन रेणु, भागन निधि पाई॥

३. जैसे–जैसे बंसी बाजै, तैसेई नाँचें।
पाँय पैजिनी अरु कटि किंकिनी–रव,
तैसोई सप्तसुरन साँचें॥
बीच–बीच बाल लीला भाव दिखावत,
त्यों–त्यों ब्रज युवतिन में हास माँचें।
मिलन की लालसा उपजति है मन में,
हँसि न सकत विरह आँचें॥

ऐसी अद्भुत लीला, स्त्रवन सुनत,

ते मूढ मति मन न राँचें।

'रसिक प्रीतम' की यह छवि निरखत,

देव–मुनि, नारद–सारद कहत न बाँचें॥

'चतुर्थ गृह' से सम्बन्धित रचनाएँ

२४. श्री कल्याणरायजी–उनका रास सम्बन्धी पद इस प्रकार है–

१. बन्यौ रासमंडल बर तामें महा मुदित मृदुल राधा प्यारी।

बरनौं कहा बानिक अँग–अँग की,

एक रूप एक वेश एक रंग एक रास,

तामें लेत उपजत अति गति न्यारी॥

गावत तान–तरंग निर्तत उरप–तिरप लाग–डाट,

उघटत सब्द उपज महा री।

यमुना पुलिन सुभग सीतल समीर मंद,

चंद थक्यो निस, सब दिस लागत उजियारी॥

मोर मुकुट माथें अंग–अंग चित्र काछें,

ग्रीवा भुज मेलि दोउ निर्तत बिहारी।

'कल्याण' के प्रभु प्रिय प्रेम मगन ह्वै लचकत फिरत,

करत रस क्रीड़ा, ऐसे रीझ बस भये गिरिधारी॥

'षष्ठ गृह' से सम्बन्धित रचनाएँ

२५. पुरुषोत्तमजी (विद्यमानता १९वीं शती का पूर्वार्द्ध)–
उनका जन्म सं० १८०५ में हुआ था। उनकी प्रसिद्धि उनके रचे हुए रसिया आदि लोकगीतों के कारण है, जिनके लिए वे वल्लभ सम्प्रदाय में ''ख्याल वारे'' के उपनाम से विख्यात रहे हैं। लोकगीतों के अतिरिक्त उनके रचे हुए पद भी उपलब्ध हैं। इनमें–से एक रास सम्बन्धी पद यहाँ दिया जाता है–

१. रास रच्यौ वृंदावन बनवारी।

बंसीवट कुंजन जमुना–तट, मनमोहन पिय रसिक बिहारी॥

निरत करत मन हरत सखिन कौ, उपजत रंग–तरंग अति भारी।
'पुरुषोत्तम' प्रभु की छबि निरखत, ब्रज–जन बार–बार बलिहारी॥

वल्लभ सम्प्रदायी अन्य भक्त कवियों की रचनाएँ

२६. जगन्नाथ कविराय—ये मुगल सम्राट् शाहजहाँ के दरबारी कवि और संगीतज्ञ थे। उनकी प्रसिद्धि संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् और 'रस गंगाधर' जैसे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के रचयिता होने के कारण अधिक है। उनके रचे हुए ब्रजभाषा के कतिपय पद भी मिलते हैं, जिनमें–से रास सम्बन्धी दो पद यहाँ दिये जाते हैं–

१. माई री! रास रचित, सरस घन बन में।
कल नूपुर धुनि अरु मुरली धुनि सुखद स्रवन में॥
मंडल में निरतत राधा–माधव कर जोरैं।
रीझि सुर–अंगना बहु देति प्रान अंकोरै।
अलक अरुझि कुंडल सों, माला अरुझी कंकन में।
देसी सुधंग तान गान मान चुभी मन में॥
रास तांडव दंपति द्युति गनि चित चोरैं।
'जगन्नाथ कविराय' के प्रभु गिरिजापति मन मोरैं॥

२. नव किसोरी अंग संग, नव किसोर राजें।
अरस–परस करत केलि, रति रस तन–मनैं झेलि,
वलय–किंकिनि–नूपुरादि मधुर–मधुर बाजैं॥
विवि मुख इंदु ईषद हास, प्रेम मगन गिरत वास,
जगमगात गौर–स्याम दामिनि घन लाजैं।
वचन रचत करत ख्याल, टूटत मनि पुहुप माल,
'जगन्नाथ' किये सनाथ निरखत दुख भाजैं॥

२७. बल्लभजी—उनका रास सम्बन्धी एक पद इस प्रकार है–

१. कुंज–भवन के द्वार रंग–रस माच रह्यौ।
रास–विलास करत पिय–प्यारी, मुरली मधुर सुर गाज रह्यौ॥

उरप–तिरप और लाग–डाट सौं, थेई–थेई तत्ता–थेई नाच रह्यौ।
'बल्लभ' युगल नृत्य करत हैं, ता धिलांग गत, तांडव–लास रह्यौ॥

२८. मोहन—इस भक्त–कवि का विवरण और उसकी विद्यमानता का काल अज्ञात है। इसका एक रास सम्बन्धी पद 'शृंगार रस–सागर' ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ९३ पर छपा है, जो यहाँ दिया जाता है। पद की अन्तिम पंक्ति से उसका बल्लभ सम्प्रदायी होना स्पष्ट है। ऐसा मालूम होता है, यह 'सनेह लीला' का रचयिता मोहन है। इसका रास सम्बन्धी एक पद इस प्रकार है–

१. निर्तत गोपाल संग गोपिका मिली।
अद्भुत नट भेष देखि कोटि काम अति विशेष,
मुरली अधर मधुर सप्त स्वरन सों रली॥
गावत पिक कंठ सरस परम रीझि भींज तान,
भामिनी सुजान श्रीवृषभान की लली।
वलय–नूपुर–किंकिनी की झनक, ततत थेई थेई उघटत,
मुख शब्दावलि ग्रीव भुज पिली॥
बाजत मधुरे मृदंग ता धिलांग गति सुधंग,
संग लेत देत ताल रास मंडली।
कोलाहल करत हंस, मोर सोर चहूँ ओर,
भोर भये फूली मानों कंज की कली॥
श्री वृंदावन नव निकुंज, प्रेम पुंज भरे हरखि,
निरखि तरुनि–तरनि–तनया तीर चाँदनी भली।
श्री बल्लभ चरनारविंद पंकज मकरंद सरस,
करत दान मान दास 'मोहन' अली॥

२९. कृष्णा दासी (सं० १५८०–१६३० के लगभग)—वह गो० विट्ठलनाथजी की पत्नी रुक्मिणी बहूजी की परिचारिका थी। उसकी 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि उसने कीर्तन के पदों की भी रचना की थी। 'रास पंचाध्यायी' से सम्बन्धित उसका एक पद 'वार्ता' में

दिया हुआ है, जिसका कुछ अंश इस प्रकार है—

दोहा— श्री वृंदावन नव कुंज में, त्रिभुवन—पति आनंद।
बेनु बजाय विचित्र सुर, तान मान गति छंद॥
सुर—नर पसु—खग पवन वरु, ब्रज वनिता अकुलाय।
स्रवन सुनत आतुर चलीं, सरद—निसा परम सुहाय॥

चाल— उठि धाईं ब्रज—बधु स्रवन सुनिकै, भवन कारज सब तजे।
भईं अति चित काम—आतुर, उलटि अभरन अँग सजे॥
नंदनंदन—चरन परसे, मुदित गोकुल—नारियाँ॥
आय सन्मुख भईं ठाड़ी, सरद निसि उजियारियाँ।
देखी हैं ढिंग ब्रजबाला। उन प्रति बोले मदन गुपाला॥
अर्ध निसा माँहि तुम आईं। ये तौ निंद्य वेद—स्रुति गाई॥
निंद्य यहि विधि वेद गावें, कुल—बधू क्यों पति तजैं।
लोक माँहि कलंक लागै, पर—पुरुष तरुनी भजें॥
उलटि अब गृह जाउ भामिनि, जुगति नहीं इन बातियाँ।
पति तिहारे पंथ जोवैं, जाम जुग गईं रातियाँ॥
कुल—बधू यह धरम नाँहीं, कहत स्याम तमालियाँ।
अस निठुर वचन गोपाल बोले, देखि ढिंग ब्रज—बालियाँ॥

दोहा— विलख वचन बनिता कहे, सब अँग पीड़ित मैन।
प्रान तजहिं प्रन नहिं तजहिं, सुन गोविंद मुख बैन॥

सखी— तब बोल लईं ब्रज—सुँदरी, कीन्हौं रास—रसाल।
अति रस क्रीड़ा मगन अति, गिरिधर हँसे जु दयाल॥

चाल— गिरिधर हँसे जु दयाल मुरारी। तब बोल लईं ब्रज—नारी॥
रस रास मंडल प्रभु कीन्हौं। मिलि गोपिन कों सुख दीनौं॥

दोहा— प्रेम—प्रीति हरि जानि कै, आए तिनके पासि।
मुदित भईं सब भामिनी, गुन गावै 'कृष्णा दासि'॥

इस रचना में भागवत की 'रास पंचाध्यायी' के क्रम का पूर्णतया अनुसरण नहीं किया जा सका है। इसीलिए इसे पूर्वोक्त

प्रबन्ध शैली की रचनाओं में न रखकर मुक्तक शैली की कृतियों में रखा है।

राधावल्लभ सम्प्रदायी रचनाकार–

वल्लभ सम्प्रदाय के पश्चात् राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त–कवियों ने ही रास सम्बन्धी सर्वाधिक पदों की रचना की है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गो० हित हरिवंशजी ने स्वयं इस विषय में पहल की है। उनके द्वारा रचे हुए अन्य पदों की भाँति रास सम्बन्धी पद भी अत्यन्त मनोरम हैं। यहाँ पर इस सम्प्रदाय के भक्त–कवियों का उनके रास–विषयक पदों के उदाहरण सहित क्रमशः उल्लेख किया जाता है–

१. गो० श्रीहित हरिवंशजी (सं० १५५९-सं० १६०९)–वे विख्यात रसिक भक्त और रसोपासक रचनाकार थे। उनकी 'वाणी' परिमाण में अधिक नहीं है; फिर भी वह ब्रज साहित्य की अनुपम निधि है। उनके द्वारा रचित 'श्रीहित चतुरासी' के ८४ पदों में से रास के १५ पद हैं। इससे ज्ञात होता है कि उनकी रास के प्रति कितनी अधिक अभिरुचि थी। सेवकजी ने हितजी की वाणी को रास–रस से रची हुई कहा है–

जूथ जुबतिनु खचित, रासमंडल रचित, गान–गुन निर्त्त आनंद–दानी।
ततथेई–थेई करत, गतिब नौतन धरत, रास–रस रचित हरिबंश बानी॥

रास–रस की उत्पादक श्रीकृष्ण की वंशी है और हित हरिवंशजी वंशी के अवतार माने जाते हैं। इसलिए भी हितजी का रास के प्रति अनुराग स्वाभाविक है। उनकी एक विशेषता यह है कि जहाँ अधिकांश कवियों ने शरद रास का ही कथन किया है, वहाँ हितजी ने शरद और बसंत दोनों के रास सम्बन्धी पद रचे हैं। उनके पदों के कतिपय उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं–

१. आज बन नीकौ रास बनायौ।
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट, मोहन बेनु बजायौ॥
कल कंकन–किंकिन–नूपुर धुनि, सुनि–खग–मृग सचु पायौ।
जुबतिनु मंडल मध्य स्याम घन, सारंग राग जमायौ॥

ताल–मृदंग–उपंग–मुरज–ढफ, मिलि रस–सिंधु बढ़ायौ।
विविध विसद वृषभानुनंदिनी, अंग सुधंग दिखायौ॥
अभिनय निपुन लटकि लट लोचन, भृकुटि अनंग नँचायौ।
ततथेई–ततथेई धरति नौतन गति, पति ब्रजराज रिझायौ॥
सकल उदार नृपति चूड़ामणि, सुख–बारिधि बरषायौ।
परिरंभन–चुंबन–आलिंगन, उचित जुबति जन पायौ॥
वरषत कुसुम मुदित नभ–नायक, इंद्र निसान बजायौ।
'हित हरिवंश' रसिक राधापति, जस–वितान जग छायौ॥

२. आज गोपाल रास–रस खेलत, पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी।
सरद विमल नभ चंद्र विराजत, रोचक त्रिविध समीर री सजनी॥
चंपक–बकुल–मालती मुकलित, मत्त मुदित पिक–कीर री सजनी।
देसी–सुधंग रास–रंग नीकौ, ब्रज जुवतिन की भीर री सजनी॥
मधवा मुदित निसान बजायौ, व्रत छाँड्यौ मुनि धीर री सजनी।
'हित हरिवंश' मगन मन श्यामा, हरत मदन घन पीर री सजनी॥

३. चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख–निधान,
रास रच्यौ स्याम, तट कलिंद–नंदिनी।
निर्त्तत जुवती–समूह, राग–रंग अति कुतूह,
बाजत रस–मूल मुरलिका अनंदिनी॥
बंसीवट निकट जहाँ परम रमनि भूमि तहाँ,
सकल सुखद मलय बहै वायु मंदिनी।
जाती ईषद विकास, कानन अतिसय सुवास,
राका निसि सरद मास विमल चंदिनी॥
'नरवाहन' प्रभु निहार, लोचन भरि घोष नारि,
नख–सिख सौन्दर्य काम दु:ख–निकंदिनी।
विलसहुँ भुज ग्रीव मेलि, भामिनि सुख सिंधु झेलि,
नव निकुंज स्याम केलि जगत वंदिनी॥[1]

---

१. इस पद को हित हरिवंश जी ने अपने शिष्य नरवाहन के नाम से रचा है।

४. खेलत रास दुलहिनी दूलहु।
सुनहुँ न सखी सहित ललितादिक, निरखि–निरखि नैननि किन फूलहु॥
अति कल मधुर महा मोहन ध्वनि, उपजत हंससुता के कूलहु।
थेई–थेई बचन मिथुन मुख निसरत, सुनि–सुनि देह दसा किन भूलहु॥
मृदु पद–न्यास उठत कुमकुम रज, अद्‌भुत बहत समीर दुकूलहु।
कबहुँ स्याम–स्यामा दसनांचल, कच कुच हारा छुवत भुज मूलहु॥
अति लावन्य रूप अभिनय गुन, नाहिंन कोटि काम सम तूलहु।
भृकुटि विलास हास रस वरषत, 'हित हरिवंश' प्रेम रस झूलहु॥

५. सुधंग नाँचत नवल किसोरी।
थेई–थेई कहत चहत प्रीतम दिसि, बदन चंद्र मनों तृषित चकोरी॥
तान–बंधान मान में नागरि, देखत स्याम कहत हो होरी।
'हित हरिवंश' माधुरी अँग–अँग, बरबस लियौ मोहन–मन चोरी॥

२. श्री हरिराम व्यास (सं० १५६७ से सं० १६५५ के लगभग)—वे श्रीहित हरिवंशजी से प्रभावित और उनके सहयोगी महात्मा थे। प्रकाण्ड विद्वान् होने के साथ–साथ वे रसोपासक सुप्रसिद्ध भक्त–कवि भी थे। उन्होंने ब्रजभाषा में प्रचुर साहित्य की रचना की है, जिसमें रास सम्बन्धी पद भी हैं। उनके एक बड़े पद में रास का प्रबन्ध शैली में कथन किया गया है, जिसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। व्यासजी के रास सम्बन्धी मुक्तक पद भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं। उनमें से कतिपय पद यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. नाँचति वृषभान कुँवरि हंससुता–पुलिन–मध्य,
हंस–हंसिनी मयूर मंडली बनी।
गावत गोपाललाल, मिलवत झपतार ताल,
लाजत अति मत्त मदन कामिनी अनी।
पदिक लाल कंठमाल, तरल तिलक भाल झलक,
स्त्रवन फूल, वर दुकूल नासिका–मनी।

नील कंचुकी सुदेस, चंपकली कलित केस,
मुखरित मनि दाम, बाम कटि सुकाछिनी॥
मरकत मनि बलय राव, मुखर नूपुरनि सुभाव,
जावक जुत चरननि नख चंद्रिका घनी।
मंदहास, भ्रूविलास, रास–लास सुखनिवास,
अलग लागि लेति सुघर राधिका धनी।
काम अंध, कितब बंध, रीझि रहै चरन गहै,
साधु–साधु कहत राधिका गनी।
भेटति गहि बाहु मूल, उरज परस भई फूल,
'व्यास' बचन सानुकूल रसिक–जीवनी॥

२. स्याम बाम अंग संग, नाँचति गति वर सुधंग,
रास–लास रंग भरी सुभग भामिनी।
तरनि–तनया तीर खचित, मृदुल कनक रचित हीर,
त्रिगुन सुख समीर, सरद–चंद जामिनी॥
चरन रुनित नूपुर, कर कंकन, कटि किंकिनी धुनि,
खग–मृग सुनि मोहि, गिरत काम–कामिनी।
पंचम सुर गान–तान, गगन सघन भए आन,
भगन–मगन जान, घिरत मेघ–दामिनी॥
झप तालै चालि उरपि, लेत तिरप मान सुखहिं,
चंद सुघर औघर वर, सुलप गामिनी।
नभ लोल, मधुर बोल, भृकुटि भंग, कुच उतंग,
हँसति पियहिं विवस करति, 'व्यास'–स्वामिनी॥

३. वृषभानु–कुंवरि गान करति, बंसीवट मूले।
नाँचत गोपाल लाल अंग संग फूले॥
कुंज–भवन कोक–कुसल, सुरति डोल झूले।
दसन–अधर–नैन निरखि, 'व्यास' विकचि फूले॥

३. गो० कृष्णचन्द्र—वे श्रीहित हरिवंशजी के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म सं० १५८७ में हुआ था। वे संस्कृत और ब्रजभाषा के प्रौढ़ विद्वान् एवं सुकवि थे। उनकी संस्कृत रचनाओं में 'कर्णानंद' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ब्रजभाषा रचनाएँ वे 'कृष्णदास' के नाम से लिखते थे। उनके रास सम्बन्धी पद यहाँ दिये जाते हैं—

१. नाँचत मोहन संग राधिका, ब्रज जुवतिन के जूथ लियें।
बाहु परस्पर जोरि प्रेम बस, मुदित गंड पर गंड दियें॥
कंकन कुनित रुनित वर नूपुर, सुनत श्रवन खग उपरनियें।
बाजत ताल रसाल सरस गति, मालव राग सुदेस गियें॥
सुघर संगीत प्रवीन नागरी, तिरप लेति आनंद हियें।
लटकत सीस सुभग पग पटकत, बदत स्याम हो—होव कियें॥
सुख भर भरित परस्पर मंडल, सस्मित रस लोचननि पियें।
'कृष्णदास' हित बदत सदा यह, वृथा कहा सत कल्प जियें॥

२. मंडल मध्य रंग भरे स्यामा—स्याम राजें।
सुघर ररररररररर मुरली घोर गाजें॥
गान करति ब्रज—बाम, लेति सुंदर सुघर तान,
अंग—अंग अभिराम छबि लाजें।
धिगतां धिगताँ धिगतां, ताधिलांग ताधिलांग ताधिलांग,
धिधिकिट धिधिकिट धिधिकिट गिडिगिडांग—
गिडिगिडांग गिडिगिडांग गिडगिड गाजैं॥
ररर रैंनि रीझि रही, जजज जमुना थकित भई,
चचच चंग गगग पपप पश्चिम रथ न साजैं।
'कृष्णदास' हित विलास सोभित रस रूप रासि,
वृंदाविपिन विलास रंग रह्यौ आजैं॥

३. तरनि सुता कल तीरे। रोचक त्रिविधि समीरे॥
रोचक त्रिविधि समीर सुभग अति वृंदारन्य निकुंजे।
हरषित केकि नाद कल पूरित, प्रेम महा रस पुंजे॥

विविध प्रसून प्रफुल्लित उद्‍भट नदित कोकिला कीरे।
'कृष्णदास' हित कुंज विराजत तरनि सुता कल तीरे॥

४. शरद निसा वर चंदा। पूरन आनँद-कंदा॥
पूरन आनँद-कंदा, चंदा देखि स्याम मन मान्यौ।
मुरली रव ललना कल मोह्यौ रहसि विनोद सुठान्यौ॥
आई सुत-पति छाँड़ि एक चित भजे आइ नंद-नंदा।
'कृष्णदास' हित सुख निधि निर्मल शरद निसावर चंदा॥

५. नाँचत नारि सुधंगे। सूचति तान तरंगे॥
सूचति तान तरंगे रगे, हरि कर बाजत बैना।
मृदु पद न्यास सुवास सुपेशल, उत्थित कुमकुम रैना॥
ताल-रबाब-मृदंग सुतुंबर नव जस नाद उपंगे।
'कृष्णदास' हित नूपुर कूजत, नाँचत नारि सुधंगे॥

४. नेही नागरीदास (विद्यमानता सं० १५९०-सं० १६६० के लगभग)—वे श्रीहित हरिवंशजी के ज्येष्ठ पुत्र गो० बनचन्द्रजी के शिष्य थे। उनका जन्म अनुमानतः सं० १५९० में हुआ था। वे ब्रजमण्डल के रमणीक स्थल बरसाना की 'मोरकुटी' में निवास करते थे। उन्होंने अनेक सुन्दर पदों एवं दोहों की रचना की है। उनके रास-सम्बन्धी कतिपय पद यहाँ दिये जाते हैं—

१. उघरि मुख मुसकि मृदु ललित करताल दै,
सुरत तांडव अलग लाग लीनी।
विविध विधि रमित रति देत सुख प्रानपति,
छामु कटि किंकिनी कुनित कीनी॥
उरप तिरपनि लेत सरस आलाप गति,
मुदित मद दैन मधु अधर दीनी।
अमित उपजनि सहित सार सुख संचि,
रति-बाम हिय लसत रमि रंग भीनी॥

स्वाद चौंपनि चढ़ी लाड़नि लड़ी,
अवनि दुति तन तड़ित घन छबि सुछीनी।
कोक संगीत गुन मथन की माधुरी,
'नागरीदासि' अलि दृगनि भीनी॥

२. विलसत लसत पानिप अंग।
गज क्रीड़ा रत कुँवर दोऊ, नँचत सुरत सुधंग॥
लोल कुंडल गंड मंडित, भाव भृकुटी भंग।
अधर दसन सहास मृदु मुख, लसत विविवर रंग॥
मुक्तमाल सुढार उर पर, दिपति उरज उतंग।
किंकिनी कल कुनित श्रवननि, उदित कोटि अनंग॥
तलप सुरत किसोर कोमल, लई कुँवरि उछंग।
'दासि नागरी' कच सँवारत करनि, बिथुरी मंग॥

३. अद्भुत कौतुक निर्त्तत होत है।
कुँवर किसोर रंग रचित माते, उमड़त पानिप प्रेम पोत है॥
कुंडल लोल–ललित नासा–मनि, छवि समूह मुख हास उदोत है।
बिंब अधर स्याम दसनावलि, जगमगात अति ललित श्रोत है॥
झमकत हार उरज श्रीफल बिच, लचकि छाम कटि गति निगोत है।
'नागरीदास' बिलास अकह गति, सौरभ सत सद मदन भोत है॥

५. ध्रुवदास (सं० १६३०-सं० १७००)—उनका विस्तृत वृत्तान्त विगत पृष्ठों में लिखा जा चुका है। यहाँ पर उनके रास सम्बन्धी मुक्तक पदों के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

१. खेलत रास प्रेम रस भीनें।
ललन वसन प्यारी के पहिरें प्यारी वेस प्रीतम कौ कीनें॥
मंग सुरंग रही फबि सजनी, झलकनि मुकुट कहत नहिं आवै।
कुंडल खुभी अरुन सारी तन, गौरांवर अति ही छवि पावै॥
अति आनंद बिकच मन दोऊ, लटकनि अंग ललित सुखदाई।
काछिनी सुदेस किंकिनी सोभित, उर बनमाल रही बनि माई॥

सहचरि एक लिये कर बीना, एकनि सुभग मृदंग सज्यौ री।
एक ही ताल उठत भूषन धुनि, बाढ्यौ रंग अनंग लज्यौ री॥
नाँचत अंग सुधंग लियें दोऊ, गावत राग मिले स्वर गौरी।
अति नागर लावन्य सिंधु में, भृकुटिन भाव बढ़त छिन सोरी॥
थेई–थेई कहत मंद गति लियें, चलत सुलप प्रीतम पिय–प्यारी।
ललिताहि सखि दै–दै पुनि बिच–बिच, लागि लेत दोऊ बदि–बदि वारी॥
सुंदर मुख–कमलनि पर सोभित, श्रम जल कें अलकें झलकारी।
या मुख कों छवि निरखि–निरखि कैं, 'हित ध्रुव' सब सहचरि बलिहारी॥

२. वंशीवट मूल खरे दंपति अनुराग भरे,
गावत हैं सारंग पिय सारंग वर नैनी।
उमहि कुंवरि करति गान, सिखवत पिय विकट तान,
सप्त स्वर सौं मधुर–मधुर लेति कोकिल बैनी॥
'चित्रित चंदन सुअंग, भूषन फूलनि सुअंग,
दसन बसन सहज रंग, बेसरि छबि दैंनी।
लसत कंठ जलज माल, झलकि स्वेद कन रसाल,
दीरघ वर लोचन मधि रेख बनीं पैंनी॥
चहूँ दिसि सखियनि भीर, सकल प्रेम रस अधीर,
उभय रूप राग रंग सुख अभंग लैंनी।
उमड्यौ जल प्रेम नैंन, रहित भए रसन बैंन,
इहि गति रहौ मत्त चित्त 'हित ध्रुव' दिन–रैंनी॥

३. नवल लाल संग बाल निर्त्तत गति मंद चाल,
मोहित भये शिखि–मराल छबि निहारि री।
गावत स्वर एक ताल, भूषन रव अति रसाल,
सुनत श्रवत मृगज पवन थकित वारि री॥
लटकत सब अंग–अंग, होत नैंन मैंन पंग,
श्रम जल कन बदन बने रुचिर चारु री।
बाढ्यौ रस अति अपार, नवल कुँवर विवि उदार,
निरखत 'ध्रुव' सहचरी हित हित विहारु री॥

६. गो० राधावल्लभदास—वे गो० श्री हित हरिवंशजी के पौत्र और गो० बनचन्द्रजी के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म सं० १६१० की कार्तिक शुक्ला १५ को हुआ था। वे वृन्दावन के निकटवर्ती मानसरोवर पर भजन–ध्यान किया करते थे। वहाँ पर ही उनकी बैठक है, जो श्री हित हरिवंशजी की बैठक के पास है। उन्होंने ग्रन्थ–रचना भी की थी। उनके ग्रन्थों के नाम 'रस तरंगिणी', 'सम्प्रदाय–प्रश्नोत्तर–निरूपण' और 'पद्यावली–लता' कहे जाते हैं। उनके द्वारा रचित रास सम्बन्धी पद यहाँ प्रस्तुत हैं–

१. खेलत रास रंगीले प्यारे।
मंडल मध्य दिये गल बाँहीं, पग नूपुर झंकारत अनियारे॥
ललितादिक चहुँ ओर सहचरी, अरु जोरी के नृत्य नियारे।
जमुना कूल कदंब मूल, मनों झाईं झनक छाँहि सुख भारे॥
(जै श्री) 'राधावल्लभदास' बास बिधि, सेवत समय सेवकी न्यारे।
राग–रंग रस–बरष हरष की उपमा, कहियत नाँहि बिचारे॥

२. रास मध्य राधिका अतोल नृत्यकारी।
तान–ताल हास–भाव, औघट सुर ताल लास्य,
भेद उरप–तिरप लाग भाग सहकारी।
मोहन सुर मुरलिका मुखार मोर मोद होत,
त्यों ही रचना विचित्र–चित्र सो संभारी॥
'राधावर–दास' आस पूजी मन की हुलास,
भाव–बिंब दरस–परस सेवा सुखकारी॥

७. दामोदर स्वामी (विद्यमानता सं० १६४० से सं० १७०० के लगभग)—वे राधावल्लभ सम्प्रदाय के विरक्त महात्मा, रसिक भक्त और प्रसिद्ध वाणीकार थे। उन्होंने प्रचुर साहित्य की रचना की है, जिसमें सम्पूर्ण 'रास–पंचाध्यायी' का अत्यन्त विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। इस रचना का उल्लेख विगत पृष्ठों में किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त उनके रास सम्बन्धी स्फुट पद भी हैं, जो 'श्रृंगार रस सागर' ग्रन्थ के पृष्ठ ४६ से ५१ तक में पद

सं० ९३ से लेकर १०५ तक छपे हैं। उनमें से कतिपय पद यहाँ दिये जाते हैं–

१. नाचत आनंद–धाम सुख–निधान स्यामा–स्याम,
थेई–थेई उच्चार चारु बदन चारु सोहैं।
लेत कुँवरि अलग लाग गावत पिय ललित राग,
बाढ्यौ अनुराग देखि कोटि मैंन मोहैं॥
वाम कर सौं वाम जोरी, दक्षिन सों दक्षिन कर,
चरन ढिंग चरन चारु, सम्मुख दोऊ जोहैं।
भ्रमत लाल चक्र लोल फरहरात वर निचोल,
'हित दामोदर' उपमा कौं दामिनि घन कोहैं॥

२. भजि मन रासरसिक किसोर।
गौर–स्यामल सकल गुन–निधि, चतुर चित के चोर॥
सुभग मंडल पर विराजत, जुगल सुंदर वेष।
बसन भूषन जगमगे अति, अंग–अंग सुदेस॥
चारु चरन सुदेस निर्मल, गति विलास विनोद।
पदनि पटकनि नखनि दमकनि, होत नव–नव मोद॥
जोरि कबहूँ कर परस्पर, होत नव–नव मोद॥
जोरि कबहूँ कर परस्पर, बदन संमुख चारु।
घन घटा से चलत दोऊ, भ्रमत करत विहार॥
मुकुट कवरी लटकि भृकुटी, मटकि मधुरी हास।
हरषि बरषत रंग भीनौं, 'हित दामोदर दास'॥

३. माई रंग भरे डोलें। रासमंडल मध्य दोऊ, थेई–थेई–थेई बोलें॥
बदन सोभा सदन चारु, श्रवन कुंडल लोलें।
चमकें घन दामिनी से, नील पीत निचोलैं॥
अंग तमकि दुति की दमकि, उठत रूप अलोलें।
मंदहास भ्रू–विलास, बस करें बिना मोलैं॥
रीझि–रीझि अंक भरें, होत पल न ओलें।
'हित दामोदर' प्रेम पगे, आनंद–सिंधु कलोलें॥

८. गो० दामोदरवर (सं० १६३४-सं० १७१४)—राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्यों में उनकी गणना की जाती है। वे विशिष्ट विद्वान् और परम भक्त होने के साथ-ही-साथ रास के बड़े प्रेमी और प्रोत्साहन-कर्त्ता थे। उन्होंने अपने एक शिष्य 'मोहनदास' को रासमण्डली का संगठन करने के लिए प्रेरित किया था। उन्होंने रास सम्बन्धी पदों की भी रचना की है। उनके कुछ पद इस प्रकार हैं—

१. लटकि पटकि यह हो-हो थेई-थेई।
रटत नाम स्यामा प्यारी कौ, उघटति बोलति हरि थेई-थेई॥
चलत ग्रीव चंचल छबि निरखत, कोटि मदन सटकत भव थेई-थेई।
सुलप भेद गति भाव नैंन-सुख, सोभित भुव सुधंग कल थेई-थेई॥
कबहु अधर धरें कर मुरली, निर्त्तति ताल सहित स्वर थेई-थेई।
'दामोदर हित' प्राणप्रिया पीउ, उर धरें अंक भरैं तब थेई-थेई॥

२. नागरी वृषभानु कुँवरि मंद-गामिनी।
चलत ग्रीव नैंन-सैंन, बोलत मृदु मधुर बैंन,
तत्त-थेई तत्त-थेई वदति भामिनी॥
चंचल गति वर सिरोध, भृकुटि कुटिल अलक सोभि,
बदन चंद पिय चकोर मुदित कामिनी।
अंसनि पर वाहु धरैं, सनमुख रुख नैंन करैं,
ताल चाल गति मराल चमकत घन-दामिनी॥
प्रियता भरि हरि समूह, आनंद वहु लखि कुतूह,
निर्त्तति वर मधुर स्वरनि सरद-जामिनी।
'दामोदर हि' सुवेस, नवल जुगल सुख सुदेस,
अद्भुत अति गौर-स्याम रसिक-स्वामिनी॥

३. दोऊ रँगे हैं प्रेम सुरंगे।
लटकि-लटकि पद पटकि धरनि पर, नाँचत जुत अंग-अंगे॥
पुलकि-पुलकि प्रीतम उर लागत, मन अनुराग उमंगे।
गौर स्याम सुंदर वर राजत, गान करत विवि संगे॥

नवल कुँवरि रस भीजे मोहन, निर्त्तति सरस सुधंगे।
तान मान गति वक्र विलोकनि, उपजत कोटि अनंगे॥
भृकुटिन मटकत ग्रीव चपल अति, चारु बदन जुग चंगे।
सस्मित मुख रुख मिले परस्पर, प्रेम सिंधु रस थंगे॥
निरखत हरषत लाल लाड़िली, लालन लेत उछंगे।
'दामोदर हित' विलसत यह सुख, आनंद केलि तरंगे॥

९. गो० कमलनयन (सं० १६९२-सं० १७५४)—वे राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के विख्यात आचार्य और सुकवि थे। उनकी भावपूर्ण रचनाओं में रास-सम्बन्धी पद भी हैं, जिनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. मंडल नीकौ आजु बन्यौ।
अद्‌भुत मनि नग जटित कनक धर, रूप न जात गन्यौ॥
सरस कपूर सुआस पास रचि, जमुना पुलिन सुहायौ।
तहाँ-तहाँ निर्त्तति प्रीतम-प्यारी, राग होत मन भायौ॥
ताल-पखावज बाजत स्वर सों, बीच-बीच कर ताल।
संगीत उघटत नागरि-नागर, चलत मंद गति चाल॥
रह्यौ रंग कह्यौ नहिं आवै, नैंन के नाहीं बैंन।
'कमलनैंन' हित कौ सुख सागर, रह्यौ मेरे हियरे ऐंन॥

२. रास में रसिकवर निर्त्त करत राधे।
लेत गति अद्‌भुत परस्पर नई-नई,
ता-थेई ता-थेई ताधे॥
संगीत भेद कछु कहत न बनि आवै,
ताल सुर तीन एक रस साधे।
करनि की मुरनि अरु ढुरनि ग्रीवा सुभग,
गौर-स्यामल सु तनु गुन आराधे॥
नील पट पीत पट चपल अंग-अंग पर,
मनौं घन-दामिनी ससि अराधे।

'कमलनैंन' हित सखी चख चकोर रूप झिले देखत,
प्रेम मैंन मिले सुख–समह लाधे॥

३. रास मंडल रच्यौ स्याम संग राधिका।
जटित मर्कत धरनि मध्य मंडल हित,
नृत्य पग पटकि लटकति सुखद राधिका॥
मुखर नूपुर रुनित कुनित किंकनि–वलय,
मधुर धुनि मान अनुमान करि राधिका।
लाल संग बाल तिहिं काल मनि–माल में,
कमल वत नैंन हित मुकर वत राधिका॥

१०. सहचरि सुख—वे गो० कमलनयन जी के शिष्य थे। उन्होंने सरस और भावपूर्ण पद–रचना की है। उनके रास सम्बन्धी कुछ पद इस प्रकार हैं–

१. रास रच्यौ री अद्‌भुत श्री वृन्दावन, रस बरषत पिय–प्यारी।
मुकुट काछिनी सजि पीरौ पट, ह्वै त्रिभंग गति अधर बैंनु धरि,
राधा बनी है बिहारी॥
तिय हिय स्याम पिय हिये गोरे,
छकि उझिलन की छवि भई भारी।
अतरोंटा अँगिया सजि भूषन, दृग अंजन दै अलक सँवारत,
पहिरात प्रीतम सारी॥
जुगल–जुगल निर्त्तत मंडल पर,
उत हरि इत श्री वृषभानु दुलारी।
हित समाज उज्वल रस मूरति, झलमलात ललितादिक लोचन,
लखि 'सहचरि सुख' वारी॥

२. नृत्यति मोहन मोहिनी संग, सरद रैन बढ्यौ रंग,
अंग–अंग छवि–तरंग मंडल में दरसे।
दान मान दोऊ सुजान, उघटत संगीत रीति,
वर्धित थेई तत–थेई रसना रीझि सरसे॥

मुख उमंग खिले अनंग, मिलि मृदंग बैंन बीन,
रुनक झुनक नूपुर धुनि, अनूठे स्वरनि बरसें।
'सहचरि सुख' ललित समैं, ललितादिक रच्यौ कुंज,
प्यारी पुलकित पट नील–पीत परसें॥

३. मंडल निर्त्तत लाल बिहारी।
रस भीनी मुख मुसकि बिहारिन, पियहिं नचावत दै करतारी॥
तीन ग्राम अरु सप्त स्वर मिलि, रंग बरस्यौ रागन में भारी।
उरप–तिरप संगीत रीति सों सुलप सुधंग सधे सब न्यारी॥
ताता–थेई ता–थेई ता–थेई, रसना रटत मान मनुहारी।
रीझी बनरानी उदार अति, लखि ललितादिक अखियाँ वारी॥
'सहचरि सुख' वनरूप भूपता पाई, रसिक कुँवरि रिझवारी॥

११. गो० हरिलाल (विद्यमानता सं० १७१७–१७८०)—वे सुयोग्य धर्माचार्य, परम भक्त और सुन्दर वाणीकार थे। उनका रास सम्बन्धी एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

नवल व्रजलाल नव लाल गिरधरन संग,
रच्यौ रस रास वर जमुन तीरे।
मनहिं सरसावै हरषावै बरषावै रस,
सुभग पुलिन स्थली सुख समीरे॥
सुभग पंकज सहस्त्र दलनि सौं जगमगत,
मणिन की कांति तिहिं माँहि छाई।
कुंज रस पुंज दल दलनि पर झलमलत,
कोटि राकेस–भाननि निकाई॥
कबहुँ गावत कबहुँ पढ़त संगीत गति,
तत्त–थेई थेई–थेई धुंनि सुहाई।
कबहुँ भुज जोरे चित चोरे थोरे–थोरे,
मुरली रव सहचरी गन लुभाई॥
मिथुन आभरन दंपति छबीले इंदु,

प्रेम रस–सिंधु बन प्रगट कीये।
'हित हरिलाल, आनंद रूपहि निरखि,
हरखि छिन–छिन प्रान दीये॥

१२. गो० रूपलाल (सं० १७३८–सं० १८०१)—वे राधा–वल्लभीय गोस्वामियों में अत्यन्त प्रसिद्ध धर्माचार्य हुए हैं। उन्होंने बहुसंख्यक ग्रन्थों की रचना की थी। उनकी रचना में रास–सम्बन्धी पद भी हैं। 'शृंगार रस सागर' ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड पृष्ठ १९–२३ पर उनके रास विषयक १३ पद संकलित हैं। उनमें से कतिपय पद यहाँ उद्धृत हैं–

१. निर्त्तत सरस सुधंग किसोरी।
उघटत करतार त्रिभंगी, थेई–थेई मृदु मुसिकनि चित चोरी॥
कबहुँ प्रीतम–प्रिया परस्पर, कबहुँ मिलि रस वरषत जोरी।
बीन मृदंग ताल स्वर नूपुर, मुरली धुनि बाजत थोरी–थोरी॥
हाव–भाव अभिनय सुख संपति, नाँहित बचत कछुक दृग कोरी।
हित अलि 'रूप' निरखि अंग–अंग छवि, कवि वरनत उपमा भई बौरी॥

२. उघटत ललना लाल नँचावति।
अभिनय लाग–डाट गति लै–लै, ललितादिक स्वर सरस मिलावति॥
रीझि–रीझि मनि–भूषन वारति, हारति कोटि प्रान सचु पावति।
श्रमकन हेर फेर पीतांबर, पौंछि–पौंछि अलि नैंन सिरावति॥
वरषत सुमन मुदित मन सहचरि, जै–जै वानी कहि सरसावति।
'रूपलाल हित' रास रसिक वर, वस ह्वै कर उर–उर हरषावति॥

३. आज नँदनंद व्रजचंद आनंद–निधि,
तरनिजा तीर मन मोद कारी।
कुंज रस पुंज अलि गुंज धुनि सुनि मगन,
सरद उडुसाज राका निहारी॥
मुकुट वनमाल पट पीत कुंडल किरन,
मंद मुसिकन अलक घुँघराली।

बाम भुज अंस परसंस अहलादिनी
सकल सुख दानि रसखानि प्यारी॥
सप्त स्वर भेद गति छाइ रही मुरलिका,
प्रेम मकरंद रस वस विहारी।
'रूपलाल हित' ललितादि गुन गावहीं,
भावहीं केलि दंपति निहारी॥

१३. चंदसखी (सं० १७१०-१७९० के लगभग)—उनका जन्म ओड़छा (म०प्र०) में हुआ था। अपने प्रारम्भिक जीवन में वे मोंठ थाना के थानेदार थे। पूर्व संस्कारवश उनमें वैराग्य भाव का उदय हो गया और अपनी युवावस्था में ही वे घर–बार तथा राजकीय सेवा का परित्याग कर वृन्दावन आ गये थे। वहाँ पर उन्होंने राधावल्लभीय विरक्त सन्त बालकृष्ण स्वामी से मन्त्र दीक्षा ली; और वे भक्ति–साधना एवं धर्म–प्रचार में लग गये थे। उनका मूल नाम चंद्र जू था; किन्तु सखी भाव के उपासक होने पर वे 'चंदसखी' नाम से प्रसिद्ध हुए थे।[1] ऐसा कहा जाता है कि वे सन्तों की जमात और रासमण्डली के साथ भ्रमण करते हुए कृष्ण–भक्ति का प्रचार किया करते थे। उन्होंने अनेक भजन, लोकगीत और पदों की रचना की है। चंदसखी भज बालकृष्ण छवि की छाप के उनके भजन और ब्रज लोकगीत, राजस्थान, बुंदेलखण्ड आदि राज्यों में प्रसिद्ध हैं। उनका

१. चंदसखी के सम्बन्ध में बड़ा भ्रम फैला हुआ था। उन्हें मीराबाई की तरह प्रायः भक्त–कवयित्री समझा जाता था। उनकी रचनाओं का प्रामाणिक संकलन भी उपलब्ध नहीं था। इस ग्रन्थ के लेखक ने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक अनुसन्धान करने के अनन्तर सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि वे स्त्री नहीं पुरुष थे और सखी–भाव से उपासना–भक्ति करने के कारण 'चंदसखी' कहलाते थे। इस विषय का व्यापक अध्ययन करने के लिए लेखक कृत निम्नांकित ग्रन्थ देखिये—

१. चंदसखी के भजन और लोक–गीत, २. चंदसखी की जीवनी और पदावली तथा ३. चंदसखी का जीवन, सम्प्रदाय और साहित्य।

रास सम्बन्धी एक पद यहाँ दिया जाता है—

ए दोऊ निर्तत नवल कमल मंडल में, अंसिन पर भुज दीयें री।
गावत, मोद बढ़ावत, भावत संग सहचरी लीयें री॥
बाजत मोद मृदंग–बाँसुरी, गति सों मिल तन कीयें री।
बरषत रंग, अनंग विमोहित, निरखि थकित रति जीयें री॥
काहू सुधि न रही तन–मन की, प्रेम–सुधा–रस पीयें री।
'चंदसखी' दंपति–छवि सजनी, सदाई बसौ मेरे हीयें री॥

१४. चाचा वृन्दावनदास (सं० १७६५–१८५० के लगभग)—राधावल्लभ सम्प्रदायी कवियों में चाचा वृन्दावनदास बड़े समर्थ साहित्य–स्त्रष्टा हुए हैं। ब्रजभाषा के असंख्य कवियों में रचना–बाहुल्य की दृष्टि से महात्मा सूरदासजी के पश्चात् चाचाजी का ही स्थान है; चाहे उनका काव्य–महत्त्व उस कोटि का नहीं है। उन्होंने रास के भी बहुसंख्यक पद रचे हैं। उनके तत्सम्बन्धी १५० से भी अधिक पद 'शृंगार रस सागर' (चतुर्थ खण्ड) में संकलित हैं। उक्त पदों में उन्होंने विविध प्रकार से रासलीला का कथन किया है। अन्य कवियों की भाँति उन्होंने शरद की उज्ज्वल रात्रि के रास के साथ–साथ प्रातःकालीन रास का वर्णन भी किया है, जो अन्य कवियों की रचनाओं में प्रायः नहीं मिलता है। उनके पदों में उनकी नाम–छाप के साथ–ही–साथ उनके गुरु श्रीरूपलालजी का भी नामोल्लेख हुआ है। इस प्रकार उनकी छाप 'वृन्दावन हित रूप' के नाम से मिलती है। यहाँ पर उनके रास सम्बन्धी सभी प्रकार के पदों के कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं।

[उज्ज्वल रात्रि में रास के पद]

१. राका सरद सुहाई आजु। ससि की उज्जलताई आजु॥
ससि अति उज्जलताई पाई, मुरली मधुर बजाई।
सुनि वर भामिनि लखि छवि यामिनि, गज गामिनि तहँ आई॥

जगमगात कानन अति कमनी, अवनी बहु छवि छाई।
मारुत बहत प्रिया रुचि लीयें, सौरभ राका सरद सुहाई॥
कुसुमित है बनराई आजु। नव पल्लव अरुनाई आजु॥
नव पल्लव अरुनाई सरसिनु, विकसी कुमुदिनु ऐसें।
छपा छवीली देखि रीझि कैं, हँसत मोद भरि जैसें॥
मोहन राग अलाप रसिक पिय, रास–रवन मन भाई।
ललना यूथ लिए तहँ विहरत, कुसुमित है बनराई॥
उरप–तिरप गति लैहीं आजु। मदन चिनौती दैही आजु॥
मदन चिनौती दैहीं, लैहीं गति संगीत विसेषी।
रसिक सिखामनि लाल प्रसंसित, इन सम येई देखी॥
श्रीराधा सर्वेश्वरि अगनित गुन नहिं परत गनैहीं।
खेलत रास रसिकनी–प्रीतम, उरप–तिरप गति लेहीं॥
थेई–थेई मृदु मुख भाखै आजु। ठुमकि–ठुमकि पग राखै आजु॥
ठुमकि–ठुमकि पग राखैं, नाना हस्तक भेद दिखावैं।
ठुरनि–ठुरनि आवनि पुनि उलटनि, कबहुँ मिले स्वर गावैं॥
वरषत परमानंद आजु बन, भरत उरनि अभिलाषैं।
'वृन्दावन हित रूप' उमड़ परत, थेई–थेई मुख भावैं॥

२. देखि सखि नैंननि मन भायौ।
कैसी निर्मल रात उज्यारी, कैसौ कौतिक रास बनायौ॥
कैसी लहरि हंसजा छोड़ति, कैसौ कुसुमति बन ह्वै आयौ।
कैसी पुलिन रेनुका दमकति, कैसो त्रिबिधि समीर सुहायौ॥
कैसी यहि मनि मंडल आसा, रवि–ससि कोटिक तेज छिपायौ।
कैसी राधा–लाल बनी छबि, मो रसना करि परत न गायौ॥
कैसौ हरि मुख बाजत मुरली, अमित अमीं मनु घोरि मिलायौ।
कैसी धुनि मग बाजति गहकी, तरुनिनु कें मन प्रेम जगायौ॥

क़ैसी विकट रीति सों दोउनि, त्रिभुवन मोहन राग जमायौ।
कैसी गति संगीतनि उघटत, मदन मान हनि सुख बरषायौ॥
कैसी मधुर किंकिनी बोलति, भूषन–रव मिलि चित्त चुरायौ।
'वृन्दावन हित रूप' बलि गई, मिथुन आजु बन रंग बढ़ायौ॥

३. आजु रस रास रच्यो पिय–प्यारी।
फूलि रह्यौ वृन्दावन चहुँ दिस, सरद निसा उजियारी॥
कुँवरि प्रवीन सकल गुन–आगरि, तैसेई लाल बिहारी।
हिय हुलास हरषत सुख बरषत, आनंद मगन महा री॥
प्रीतम के कर तें लै स्यामा, मुरली अधरनि धारी।
नई इक भाँति बजाइ रिझाये, होत लाल बलिहारी॥
ललना–लाल नेह नव रंगी, निर्त्त कला विस्तारी।
'वृन्दावन हित रूप' नागरी–नागर सब सुखकारी॥

[प्रातःकालीन रास के पद]

४. प्रात रास रस वरषत ढेरी।
नई–नई सुगति लेत है प्रीतम, पटकति ताल प्रिया कर येरी॥
मोर मुकट की लटकनि सजनी, ग्रीव मुरनि की छबि जु घनेरी।
विमल कपोल रुरति अलकावलि, मनु बारिज पर भृंग बसेरी॥
तिनमें हलनि चलनि कल कुंडल, मनु तम सिमिटि बाट रवि घेरी।
सबल धुरत उदयाचल तजि कें, झुकत झुकावत देत दरेरी॥
थिरकत है बेसरि कौ मोती, थेई–थेई कहि लेइ मोहन फेरी।
ससि के अंक हिंडोरौ रचि मनु भृगु सुत झोटा लेत बड़े री॥
उर बिसाल माला जु जलज मनि, रति बाढ़ी सोभा बहुतेरी।
हंस उड़े मानौं सजि सेना, नाभि सरोवर बसन चले री॥
विद्या–निकर चरन तल सेबति, गति लै चली जु स्वामिनि मेरी।
'वृन्दावन हित रूप' अति बढ्यौ, रीझि लाल जब अंक सकेरी॥

५. तत्ताथेई बदन कहत, प्रीतम की ओर चहत,
प्रात रास रचन कौ प्यारी मन दियौ।
राजत मंडल विसाल, निर्त्तत है प्रिया–लाल,
नागरि लै सुगति चरन मान सिर दियौ॥
लंक मुरति ग्रीव ढुरति, प्रीतम सौं दृष्टि जुरत,
भौंह हलनि चलनि स्याम न्याइ बिकि गयौ।
बलि–बलि 'वृन्दावन हित रूप' गुन अनूप कढ़े,
गावति अलि सुघर लेति लाभ नित नयौ॥

६. देत है झपताल लाल, वरषत रंग प्रात काल,
प्रिया अति प्रवीन लै नवीन गति चली।
मंडल मनि विमल महा सोभा अति कहौं कहा,
मन भस्यौ अनुराग लसत परसि पग तली॥
निर्त्तत है मोरी–मोर चात्रिक मिलि करत सोर,
मनु सदेह दामिनि–घन दरसे विधि भली।
बलि–बलि 'वृन्दावन हित रूप' प्रिया गान कुसल,
लेति है सुर जीत घोर संग मिलि अली॥

[रास के सामान्य पद]

७. रास में नागरी रंग बरषावै।
जो गति लेत लाल मुरली सों, नूपुर कुँवरि बजावै॥
अहा–अहा प्रीतम मुख बानी, फेरि लेहु यह भावै।
विद्या अखिल स्वामिनी राधा, गति नौतन उपजावै॥
बहुरि अलाप सप्त सुर लैकैं, प्रिया ललकि सौं गावै।
'वृन्दावन हित रूप' रीझि कैं, नागर ग्रीव डुलावै॥

८. थेई–थेई कहैं ठुमकि पग धरैंई।
गौर–स्याम विधु बदननि सजनी, उमँगि प्रवाह अमी मनु झरैंई॥
ललितादिक उर वर जु सरोवर तें, निर्मल सुख तोइ जु झरैंई।
रजनी रंग बढ़ि पस्यौ अधिकौ, मदन गरूर गर्व कौं हरैंई॥

निर्त्त कला संगीतनि वरनी, तैं प्यारी उर तें जु उधरैंई।
कानन की चूड़ामणि रानी, सखी प्रसंसा ताकी करैंई॥
मान पाइ प्रीतम तें अधिकौ, अनहोतौ आनंद अनुसरैंई।
'वृन्दावन हित रूप' अस बढ़्यौ, मनि–मंडल भरि उमग्यौ परैंई॥

९. सखी रास करि बैठीं कोऊ, पवन करति कोऊ,
लै–लै अंचल सौं पौछैं श्रम वारि री।
करति प्रसंस कोऊ प्रेम भींजि रहीं कोऊ,
कोऊ रहीं रीझि विवि वदन निहारि री॥
कोऊ पुहुपांजुलि वारें कोऊ तृन तोरि डारें,
कोऊ जल पीवत है बार–बार वारि री।
कोऊ रीझी गावनि पै कोऊ रीझी निर्त्तनि पै,
'वृन्दावन हित रूप' करैं मनुहारि री॥

[रास–प्रतियोगिता के पद]

चाचा वृन्दावनदास के कुछ पद श्रीकृष्ण और राधाजी की रास–प्रतियोगिता के हैं। चाचाजी का कथन है–'रास–प्रतियोगिता का आयोजन होने से मानो आनन्द की राशि ही उमड़कर बरसने लगी थी। उस नृत्य के लिए उधर श्रीकृष्ण सज्जित हुए और इधर श्रीराधाजी। दोनों ही चर्चरी ताल पर अपूर्व गति से नृत्य करने को प्रस्तुत हुए। ललिता सखी दोनों को सम्मानित करती हुई उनकी प्रशंसा करती थी; किन्तु साथ ही उसकी यह भी कामना थी कि देखें दोनों में से किसकी नृत्य–निपुणता अधिक है। पहले श्रीकृष्ण का नृत्य हुआ और फिर श्रीराधा का। दोनों ने ही अपूर्व कला–कौशल का प्रदर्शन किया; किन्तु राधाजी की नृत्य–निपुणता पर रीझकर स्वयं श्रीकृष्ण भी कहने लगे–'धन्य गौरंगे, तुम अत्यन्त गुणवती हो!' उक्त पद इस प्रकार है–

१०.उमगि आनंद की रास लागी झरी।
उत सजे लाल इत नवल नागरि सजी,
अपूरव लेत गति ताल दै चर्चरी॥

करति प्रसंस ललिता दुहुँनि मान दै,
देखिये सुधरता अधिक काकी खरी।
लाल विहँसे ललित ग्रीव कों ढोरिकै,
मोरि दृग–कोर पद ठुमकि गति विस्तरी॥
जलद धुरवा उठ्यौ नवल प्रेर्‌यौ पवन,
दृगनि कौ लाभ अवनि महा छवि सों भरी।
किधौं सिंगार अरु रूप के बाग में,
लसत कमनीय वर कनक बेलिन करी॥
वदन की हँसनि में रदन तें दुति कढ़ी,
ततथेई ततथेई मोहन धुनि उच्चरी।
हुलसि गति लेत दामिनि निकर मंद्र लसी,
भेद हस्तक करत चंद्रिका फरहरी॥
भाव जुत नवनि मनु अवनि परसत नहीं,
गति जु संगीत तें चरन आगै धरी।
चंद की जोति में लीन सी होति है,
महा सुकुमार विद्यानि आलय अरी॥
कला कोटिक रचति स्वाँस साधैं नँचति,
देखि री चातुरी उघरि हिय तें परी।
भये दृग चंचला हलतु है अंचला,
जुवति चूड़ामनि रास सुख अनुसरी॥
'वृन्दावन हित रूप' कंत गुनवंत अति,
रीझि कहै 'धन्य, गौरंग नागर हरी॥

११.निर्त्तत मंडल थेई–थेई बोलैं।
इत–उत परी होड़ सी मानौं, गुपत गुननि कौं हिय तें खोलैं॥
ललिता उघटति है संगीतनि, ये रस छाके लटकत डोलैं।
स्याम सजल घन मनहुँ ऊँनयौ, भामिनि मनु नव तड़ित कलोलैं॥

नील बसन में बदन बिराजत, ससि दरसत मनु बदरी ओलैं।
'वृन्दावन हित रूप' नई–नई, सुगति लैंन पुनि–पुनि बल तोलैं॥

हित हरिवंशजी द्वारा प्रवर्तित रसोपासना के अनुसार राधा–वल्लभ सम्प्रदायी भक्त कवियों ने रास के पदों में 'वृन्दावन रस' को प्रधानता दी है; किन्तु चाचाजी ने अपने पदों में युग की आवश्यकता–नुसार 'वृन्दावन रस' से अनुप्राणित 'ब्रज रस' का भी कथन किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में चाचा वृन्दावनदासजी के पश्चात् कोई ऐसा भक्त–कवि नहीं हुआ, जिसने रास के इतने अधिक पदों की रचना की हो। जिन भक्त–कवियों ने इस विषय के कतिपय पद रचे हैं, उनमें से सर्वश्री कृष्णदास और प्रेमदास के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

१५. कृष्णदास (विद्यमानता १७वीं शती का उत्तरार्द्ध)– ब्रज के भक्ति–सम्प्रदायों में कृष्णदास नामक अनेक भक्त–कवि हुए हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी कई कृष्णदासों की रचनाएँ मिलती हैं। यहाँ पर जो रास सम्बन्धी पद दिया गया है, वह सम्भवतः 'कृष्णदास भावुक' नामक महात्मा का है। पद इस प्रकार है–

नचित राधे सुधर रचति रास–मंडली।
मध्य मंडल मनी फूल फूली घनी,
झरत सौरभ कनी कनक कंजन कली॥
गान सखि संग छवि रंग रंजित धरनि,
परनि प्रति अरुन बिबि बरन चरननि तली।
लघु करज चिबुक नख बेसर जलज अधर,
थृक थेई–थेई कहति स्याम सनमुख चली॥
जोरि कर सों कर मोरि झूमर झमकि,
रमकि किंकिनी झुनक रुनक नूपुर रली।
निपुन दुहुँ ओर मृदु भुजा ग्रीवनि ढोरि,
चंचला चल छोर मुरि किरीन झलमली॥

मुकत मुनि व्यास अनियास अरुझी अलकि,
झलकि छबि छलकि पिय पलक विथकित अली।
'कृष्णदास हित' खेल कियौ नैननि मेलि,
विवस भरि अंक परजंक सुख में झिली॥

१६. प्रेमदास (विद्यमानता प्रायः सं० १७५०-सं० १८१३)—उनके नाम की प्रसिद्धि श्रीहित हरिवंशजी कृत 'हित चौरासी' की विशद् टीका लिखने के कारण है। इस ग्रन्थ की पूर्ति सं० १७९२ में हुई थी। उनका रास–सम्बन्धी एक पद यहाँ दिया जाता है—

निर्त्तति कोटिक चंद उजागर, लाल बाल अलि नागर।
मुक्त माल मंडल सु किरनि के, झमकि रहे छबि–आगर॥
रंग–रंग की सारी घन बूँटी, किरन बादले की बन।
जगमगात भूषन जराव के, झलकत जित–तित उड़गन॥
झिलमिलात नख चारु चाँदनी, फैलि रही सोभा थल।
फूले नैंन चकोर चहूँदिसि, पिवति अमी आनँन कल॥
बढ्यौ रूप रस सागर सजनी, लहरैं उठत हँसन अति।
'प्रेमदास हित' यह सुख निरखत, मुरझि परे मनमथ–रति॥

स्वामी हरिदासजी के सखी सम्प्रदायी रचनाकार—

१. स्वामी हरिदासजी (सं० १५३७-सं० १६३२)—वे वृन्दावन के रसोपासक रसिक भक्तों के शिरोमणि, महान संगीतज्ञ और सुप्रसिद्ध धर्माचार्य थे। श्रीहित हरिवंशजी के प्रति उनका सखा–भाव था और श्रीहरिरामजी व्यास के वे श्रद्धास्पद थे। व्यासजी ने उनकी प्रशंसा में कहा है, उनके समान रसिक पृथ्वी तथा आकाश में न कभी हुआ और न होगा—'ऐसौ रसिक भयौ, ना ह्वै है, भुवमंडल–आकास!' रास के प्रति उनकी अभिरुचि प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में व्यासजी का कथन है—स्वामीजी श्रीकुंजविहारीजी की सेवा करते हुए निरन्तर रास का गायन किया करते थे—'सेवा सावधान अति

जान, सुघर गावत दिन रास।' यहाँ पर उनकी प्रसिद्ध रचना 'केलिमाल' में से रास सम्बन्धी पदों को उद्धृत किया जाता है।

१. अद्भुत गति उपजति अति, नृत्तत दोऊ मंडल कुँवर किशोरी।
सकल सुधंग अंग भरि भोरी, पिय नृर्त्तत मुसकनि मुख मोरी,
परिरंभन रस रोरी॥
ताल धरनि बनिता, मृदंग चंद्रागति घात बजैं थोरी–थोरी।
सप्त भाइ भाषा विचित्र, ललिता गायनि चित–चोरी॥
श्री वृंदावन फूलनि फूल्यौ पूरन ससि, त्रिविध बहै री, थोरी–थोरी।
गति विलास रस हास परस्पर, भूलत अद्भुत जोरी॥
श्री यमुना जल विथकित, पहुपनि वरषा, रतिपति डारति तृन तोरी।
'श्री हरिदास' के स्वामी स्यामा–कुंजविहारी जू कौ रस रसना कहै को री॥

२. सुनि धुनि मुरली बन बाजै, हरि रास रच्यौ।
कुंज–कुंज द्रुम बेलि प्रफुल्लित, मंडल कंचन मननि खच्यौ॥
नृत्तत जुगलकिसोर जुबति जन, मन मिलि राग केदारौ मच्यौ।
'श्रीहरिदास' के स्वामी स्यामा–कुंजबिहारी, नीकैं (आजु)
प्यारौ लाल नँच्यौ॥

३. कुंजबिहारी नाँचत नीके, लाड़िली नँचावति नीके।
औघर ताल धरें श्री स्यामा, ताताथेई–ताताथेई, बोलत संग पी के॥
तांडव–लास और अंग को गनें, जे–जे रुचि उपजति जी के।
'श्री हरिदास' के स्वामी स्यामा कौ मेरु सरस बन्यौ, और
रस–गुनी परे फीके॥

४. परस्पर राग जम्यौ, समेत किन्नरी मृदंग सुर तार।
तीन हू सुरन के तान–बंधान, धुर – धुरपद अपार॥
बिरस लेत धीरज न रह्यौ, तिरप–लाग–डाट सुर मोरनि सार।
'श्री हरिदास' के स्वामी स्यामा जे–जे अंग की गति लेति,
अति निपुन अंग अंगहार॥

२. विट्ठलविपुलजी–(स्वामी हरिदासजी के समकालीन) वे स्वामी हरिदासजी के अनन्य भक्त थे। स्वामीजी का तिरोधान होने पर उन्होंने आँखों पर पट्टी बाँध ली थी; ताकि किसी अन्य व्यक्ति का मुख न देखना पड़े। ऐसी किंवदन्ती है कि उनका देहावसान रास के अवसर पर हुआ था। हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टाचार्यों में उन्हें प्रथमाचार्य होने का गौरव प्राप्त है। यहाँ पर उनका एक पद रास के नृत्य की प्रतियोगिता का दिया जाता है।

बदी पिय आजु प्रिया सों होड़।
उमँगि–उमँगि सुर भेद मिलाबत, नव निकुंज बर कोड़॥
कर–तारी दै कहत लाडिली, हारे कुँवर न रोड़।
'श्रीविट्ठल विपुल' विनोद बिहारी, जीती हैं कुँवरि डब छोड़॥

३. स्वामी किशोरदास (विद्यमानता १७वीं शती)–वे भक्तवर श्री हरिरामजी व्यास के छोटे पुत्र थे। ऐसा कहा जाता है, व्यासजी ने उन्हें स्वयं स्वामी हरिदासजी का विरक्त शिष्य बनवाया था। राजा नागरीदास कृत 'पद प्रसंग–माला' में उनके प्रसंग में बतलाया गया है कि किशोरीदासजी उत्तम पदों की रचना करते थे। उनका रचा हुआ रास का एक पद भी दिया गया है; जो इस प्रकार है–

देखति सबनि कौ मन हरें, ए दोउ नृत्तति रास में रसिक–प्यारी।
नव–सिख कुँवरि सिंगारै, छबि उपजत भारी, तत्तथेई बोलत लालन बिहारी॥
मृदंग बजावत ललिता री, सुधंग देसी न्यारी, एक बजावत तारी।
मिलवत गति न्यारी, तिनमें राधिका प्यारी, लेत उरप तिरपारी,
लालन रीझिकें बारत कंठ को मुकता–माला री॥
सुखद वृंदावन सघन फूले पुहपारी, त्रिविध पवन सुखकारी,
जमुना पुलिन निसा री, तैसिय सुभग राका री।
प्राची दिसि भयौ उड़ि–राजा री, कहत न बनैं सुच्छ सरद की उजियारी,
किंकिन नूपुर बाजा री, धुनि सुनि देह बिसारी॥
दोऊ रास में मगन रहत, सदा व्यौहारी।

चारु चरन रज 'किशोरदास' सिर धारी, वृषभानु की दुलारी,
तिन पर करै तन – मन बलिहारी॥

४. श्रीबिहारिनदासजी (विद्यमानता १७वीं शती)—वे स्वामी हरिदासजी के प्रशिष्य और उनके सम्प्रदाय के अष्टाचार्यों में द्वितीय थे। उन्होंने पर्याप्त वाणी—साहित्य की रचना की है; किन्तु उसमें रास के पद अपेक्षाकृत बहुत कम मिलते हैं। उनमें से कुछ पद यहाँ दिये जाते हैं—

१. रसिकवर रसिकनी रस—रासि।
रसिक—सिखर रसिकन की जीवनि, जुगल परस्पर हासि॥
कोक कला संगीत सिरोमनि, अंग—अंग लावनि लासि।
इहि रस दंपति संपति पर बलि, बिसद 'बिहारिनदास'॥

२. रास—मंडल मधि निर्तत दोऊ।
बिमल भूमि बिमल द्रुम—दल नभ, नृत्य निरंतर आलस न सोऊ॥
ज्योंही—ज्योंही अपने अंग नृर्त्तत इत, त्योंही—त्योंही अपने अंग निर्त्तत उत वेऊ।
उपजावत गति में गति, उकति रहत न, हार मानें नहिं कोऊ॥
रीझि—रीझि बारति सखी तन—मन—धन, अद्भुत कौतिक जुबति जोऊ।
देत असीम 'बिहारिनदासी' इन रसिक अनन्यनि, सुख में सुख होऊ॥

३. सरद निसि उज्यारी उज्वल रस बिबस बिहारी।
नाचत गावत अपने अपने रंग भरे सुख भारी॥
करन सों कर जोरत कटि सों लटक न्यारी।
'श्री बिहारिनदासि' की आँखिन आगें नाचत प्रीतम प्यारी॥

४. राजत रास—रसिक रस रासे।
आस—पास जुवती मुख—मंडल मिलि फूली कमला से॥
मध्य मराल मन—मोहन चितवत आतुरता से।
बचन—रचन सुर सप्त नृत्य गति मदन—मयंक बिकासे॥
बाजत ताल मृदंग अंग संग मंद मधुर मृदु हासे।
घूँघट मुकुट अटक लटकत नट अभिनव भृकुटि बिलासे॥

बारत कुसुम सुगंध देखि सखि आनंद हिये हुलासे।
तृन तोरति रति जोरति छिनु छिनु बिपुल 'बिहारिनदासे'॥
दोहा– रास कहत कवि नृत्य कौं, रासि कहत रस रासि।
एक सेज सुखरासि दोऊ, बिलसावैं हरिदास॥

५. ललित गति नूपुर, चलत चरन बाजै।
रही जकि जुवति निर्त्तति सु पग धरत, परसि संगीत बारति सखि समाजै॥
अंग–अंग अभिरामिनी, बिन भाइ भामिनी, सहज इत–उत चितै समर सर साजै।
'श्री बिहारिनदासि' स्वामिनी रीझि रस बस किये, रमन रसिक संग, कुंज बसि भ्राजै॥

श्री बिहारिनदास के पश्चात् स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय में सर्व श्री नागरीदासजी, सरसदास जी, नरहरिदास जी, किशोरदास जी, भगवतरसिक जी आदि प्रसिद्ध भक्त–कवि हुए हैं। उनका प्रचुर वाणी साहित्य उपलब्ध है; किन्तु उनके रास–सम्बन्धी पद अपेक्षाकृत कम मिलते हैं। यहाँ पर उनमें से कुछ की तद्विषयक कतिपय रचनाएँ दी जाती हैं–

५. श्रीनागरीदासजी (विद्यमानता १६०० से १६७० तक)—वे किशनगढ़ के सुप्रसिद्ध राजा सावंत सिंह उपनाम 'नागरीदास' से भिन्न हरिदासी सम्प्रदाय के तृतीय आचार्य एवं भक्त–कवि थे। उनसे सम्बन्धित कतिपय पद यहाँ प्रस्तुत हैं–

१. आवत रंग भरे दोऊ गावत।
कुंज–कुंज सुख पुंज प्रिया–प्रिय, प्रेम परस्पर मोद बढ़ावत॥
सहज सप्त सुर उमगि उर, तान तरंग रंग उपजावत।
पुलकि–पुलकि तन उदित मगन मन, सहज सुघर वह रीझि रिझावत॥
सुखद सुरति–रति अनुपम गति, रसिक सखी हित सुख बरषावत।
श्री बिहारी–बिहारिनदासि सुखद संग, नवल 'नागरीदास' मन भावत॥

२. बैठे नव निकुंज मंदिर में गावत राग बिभास प्रबीन।
नव किशोर चित चोर भोर, प्यारी अतिहीं सरस बजावत बीन॥
कोक निपुन गुन सुधर लाड़िली, पियहिं रिझै रस बस करि लीन।
'श्रीनागरीदास' बलि बलि ललितादिक, फूलत दिन देखि रसिक नवीन॥

३. खेलत कुँवरि–कुँवर नवरंगी।
नव निकुंज नव रंग महल सखी, गुंजत अलि स्वर सरस विहंगी॥
बाजत ताल–रबाब–बीन–डफ, झाँझि–मुरज–किंनरि–सारंगी।
एकनि कर कठतार–अघोटी, एक बजावत मधुर मृदंगी॥
भरत अरगजा रह्यौ रंग परस्पर, गौर–स्याम तन लसत अनंगी।
बिहँसि परस्पर रंग बढ्यौ अति, उड़त गुलालहि कुसुम सुरंगी॥
बहत रहत अनुराग निरंतर, सहज सुखद स्वामिनि अँग संगी।
बलि–बलि 'नागरीदासि' फूलि मन, गावति रस जस प्रेम अभंगी॥

४. रसिक रसिकनी किसोर नृत्तत रंग भीनें।
गौर सुभग स्याम तनें, नटवर वपु वेष बनें,
तत्त ठुमक थेई थेई उघटत गति लीनें॥
कोक संगीत सुघर, गावत सुख सर्वोपरि,
तान तिरप लेत प्यारी, पहिरें पट झीनें।
अधर दसन दुति प्रकास, अलक झलक भ्रू–विलास,
तार सुरन चोरत चित, नवल नेह नवीनें॥
रीझि रवन मोहि रहे, धाय चपल चरन गहे,
लये लाल ललना हँसि अंस बाहु दीनें।
'दासि श्री नागरि' नवेलि, नागर मिलि करत केलि,
आनंद रस झेलि, खेलि पूरन प्रेम प्रवीनें॥

६. श्री सरसदासजी (सं० १६११–१६८३ वि०)—वे पूर्वोक्त आचार्य नागरीदासजी के छोटे भाई और हरिदासी सम्प्रदाय के चतुर्थ आचार्य थे। उनका रास सम्बन्धी एक पद यहाँ दिया जाता है।

निर्त्तत रस भरे रसिक बिहारी।
तान तिरप गति भेद अनागति, घात लेत सुकुँवारी॥
थेई–थेई करत धरत पग चंचल, उपजत नूपुर रव झुनकारी।
गावत कटि लटकावति, नैंन नचावत प्रीतम प्यारी॥
मृदंग ताल सुर सप्त संचि, मिलि, तैसियै छिटकि रही उजियारी।
कोक कला कलकेलि झेलि, रस क्रीडत कुँवरि दुलारी॥
द्रुम बेली फूलीं सुख बरषत, चंपक वकुल गुलाब निवारी।
करत विनोद विपिन मन भाये, 'सरसदास' बलिहारी॥

७. श्री नरहरिदासजी (सं० १६४०–१७४१ वि०)—वे महात्मा सरसदासजी के उत्तराधिकारी हरिदासी सम्प्रदाय के पंचम आचार्य थे। उनकी वाणी अत्यल्प परिणाम में उपलब्ध होती है, जिसमें कुछ पद एवं दोहे हैं, उनमें से रास सम्बन्धी एक पद यहाँ प्रस्तुत है—

खेलत रास लाड़िली लाल।
तान–गान गुन सिखबति प्यारी, तहाँ न कोई बाल॥
ताल मृदंग संगीत विविध विधि उघटत, मूषन बजत रसाल।
उरप–तिरप लै नचत सुलप गति, उपजत सुख के जाल॥
केलि कला रस बरसत हरषत, परसत प्रेम विसाल।
'नरहरिदास' निकट सुख निरखत, स्याम सुभग उर माल॥

८. भगवत रसिक जी (विद्यमानता १८वीं शती)—वे हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टम आचार्य और टटिया संस्थान के महंत श्री ललितमोहिनीदास (सं० १७८०–१८५८ में) के शिष्य थे। इस सम्प्रदाय के परवर्ती महात्माओं और भक्त–कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी वाणी भी पर्याप्त परिणाम में मिलती है। इसमें रास के पद भी हैं, जिसमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. नाचत दोऊ रहस में रंगभीनें।
हाव–भाव उपजत अंग–अंगगु, कोक कला मन दीनें॥
बाजत मधुर मृदंग किंकिनी, नूपुर–ताल नवीनें।
होड़ा–होड़ी तान तिरप गति, लेत नहीं कोऊ हीनें॥

राका रति रजनीकर आनन, उदित मदन बस कीनें।
रीझि–रीझि 'भगवत' की स्वामिनी, लाल अंक भरि लीनें॥

२. लाड़िली–लाल दोऊ, रंग भरे अंग–अंग, नाँचति सुरति रंग,
कोक–कला कुसल दोऊ, उदित मुनित मन।
हाव–भाव भृकुटि भंग, उपजावति छवि–तरंग,
खेलत उमँगि करत केलि, अंसन भुज दंड मेलि,
पुलकि–पुलकि लपटि दोऊ, विलसत धनी–धन।
'भगवत रसिक' लाल, श्रमित भई नवल–बाल,
रीझि रीझि अंचल दोऊ, पौंछत मुख स्वेदकन॥

निम्नांकित छन्द में रास में बजने वाले वाद्य यन्त्रों का महत्त्वपूर्ण उल्लेख हुआ है–

बाजे बजत बिहार में, सहज सुहाये अंग।
बीना बेनु मृदंग ढफ, झाँझ रबाव उपंग॥
झाँझ रबाव उपंग, सरस सुरमंडल देखौ।
सारंगी सुख–रासि, मंजीरा मृदुल विसेखौ॥
राग–रागिनी उपजि, सप्तसुर सहित समाजे।
'भगवत रसिक' अनन्य, भेद जानत कोऊ बाजे॥

चैतन्य सम्प्रदायी रचनाकार–

चैतन्य सम्प्रदाय को 'गौड़ीय सम्प्रदाय' भी कहते हैं। इसके प्रवर्त्तक महाप्रभु श्री चैतन्यदेव (सं० १५४२ से सं० १५९०) बंगाली ब्राह्मण थे। वे बड़े प्रतिभाशाली और विद्या–विनय सम्पन्न महात्मा थे। उन्होंने युवावस्था में ही संन्यास लेकर बंगाल–ओड़िसा प्रान्तों में कृष्ण–भक्ति का व्यापक प्रचार किया था। उनका कोई बड़ा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; केवल कतिपय लघु पुस्तिकाएँ मिलती हैं। चैतन्य सम्प्रदाय का अधिकांश साहित्य संस्कृत, बांगला भाषाओं में है। किन्तु इस सम्प्रदाय के अनेक भक्त–कवियों ने ब्रजभाषा में भी काव्य–रचना की है।[1] उनमें से जिनके रास सम्बन्धी पद मिलते हैं,

१. हमारा शोधात्मक ग्रन्थ 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य' देखिये।

उनका उल्लेख यहाँ क्रमानुसार किया जाता है।

१. आनन्दघनजी (सं० १५५०-१६००)—वे ब्रज के नंदगाँव निवासी कुलीन ब्राह्मण थे। जब सं० १५७२ में श्री चैतन्यजी अपनी ब्रज–वृन्दावन यात्रा के प्रसंग में नंदगाँव गये थे, तब आनन्दघनजी उनके अनुगत हुए थे। उन्होंने वहाँ पर श्री नंदरायजी का मन्दिर बनवाकर चैतन्य मतानुसार सेवा की व्यवस्था की थी। उनके रचे हुए अनेक पद उपलब्ध हैं, जिनमें से रास सम्बन्धी एक पद यहाँ दिया जाता है—

रास करन मन कीनों सरद विमल मधि,
तरनि–तनया तट सघन बन।
गावत सप्त स्वर, तीन ग्राम, ताल जंत्र,
उछरति सब्द गति परत परन॥
बंसी की धुनि सुनि, धाई आई ब्रज–नारि,
मनमथ–वेदन कीनों प्रान हरन।
कोउ पति–सुत छाँड़्यौ, स्याम सों सनेह बाढ़्यौ,
प्रेम की तरंग तामें लगीं तरन॥
ये सुख–सोभा दिन–दिन रहै गृह,
सरस बधाए गीतन गाय।
'आनंदघन' ब्रज – जीवन जोरी,
रसिकनि सदा सहाय॥

२. रामरायजी (विद्यमानता सं० १५६०-१६२५)—इस ग्रन्थ के विगत पृष्ठों में उनका उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि वे पहले वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु बाद में उनकी निष्ठा चैतन्य सम्प्रदाय के प्रति हो गयी थी। उनका रास विषयक एक पद है—

रास रस रसिक रासेश्वरी स्वामिनी।
रुचिर राजत रसिक, अधर अमृत चसिक,
उरज कंचुकि–कसिक वसि करति कामिनी॥

मधुर अंग–अंग छबी, सुभग हिमकर रबी,
कुमुद सौरभ फबी, अधिक अभिरामिनी।
कंचुकि किरनन छटा, प्रघट सहचरि घटा,
चलति कर कटाक्षन सु मत्त गजगामिनी॥
अलिनु आलाप वसु, करत पियकौं सु वसु,
गान सन्मान रस पान जस पामिनी।
विपिन सोभा सघन त्रिविध पावन पवन,
सलिल जमुना रवन शरद ऋतु जामिनी॥
धरत थेई–थेई चरन मत्त मुनि मन हरन,
'श्रीरामराय' सरन जुग वरन घन–दामिनी॥

३. सूरदास मदनमोहन (प्रायः सं० १५७०–१६४०)—वे मुगल सम्राट अकबर के एक उच्च पदाधिकारी थे। राजकीय सेवा करते हुए वे भक्तिमार्ग के अनुयायी हो गये थे। चैतन्य सम्प्रदायी श्री सनातन गोस्वामी के उपास्य ठाकुर मदनमोहनजी के प्रति उनकी निष्ठा थी। अन्त में राजकीय सेवा का परित्याग कर वे श्री सनातन गोस्वामी के सान्निध्य में वृन्दावन में रहने लगे थे। उन्होंने श्रृंगार–भक्ति के बहुसंख्य पद रचे हैं, जिनमें उन्होंने अपने नाम के साथ ठाकुर मदनमोहनजी का नाम भी रखा है। फलतः उनकी नाम–छाप 'सूरदास मदनमोहन' हैं। उनके रास सम्बन्धी दो पद प्रस्तुत हैं—

१. घोष–नागरी मंडल मध्य नाँचत गिरधारीलाल,
लेत गति अनेक भाँति, चरन पटकनी।
गिड़गिड़ता–गिड़गिड़ता, ताता तत–तातातत, थेई–थेई,
बीच–बीच अधर मधुर मुरलिया मटकनी॥
भुज सौं भुज जोरि–जोरि, लेत तान नव किसोर,
गावत श्रीराग, मिल ग्रीव लटकनी।
'सूरदास' प्रभु, सुजान, नंद–नंदन कुँवर कान्ह,
'मदनमोहन' छवि निरखत काम सटकनी॥

२. चलियै जु नैक कौतुक देखियै, रच्यौ है रास मंडल,
राधे, हौं आई हौं तुमहिं लैन।
मृद–मद घसि अँग लगाय, मुकुट काछिनी बनाय,
मुरली पीताम्बर बिराजत, इहिं छबि मोपै कहि परै न बैन॥
सब सखि मिलि नाँचति–गावति, ताल मृदंग मिलि बजावति,
नृत्य करैं मध्य, मूरति मानौ मैन।
'सूरदास मदनमोहन' हँसति कहा है जु, पाउँ धारियै,
जो पै सुख पियौ चाहौ नैन॥

४. गदाधर भट्ट (प्रायः सं० १५८०-१६४०)—वे चैतन्य सम्प्रदायी रास–रसिक भक्त–कवि थे। उनके रचे हुए पदों के संकलनों में कुछ पद वल्लभ सम्प्रदायी गदाधरदास के भी सम्मिलित हो गये हैं। यही स्थिति रास सम्बन्धी पदों की भी है। नीचे जो रास का पद दिया जाता है; वह वल्लभ सम्प्रदायी गदाधर दास के पदों में भी संकलित मिलता है। इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि निम्नांकित पद इन्हीं गदाधर भट्ट जी का ही है—

आजु मोहन रची रास–रस मंडली।
उदित पूरन निसानाथ निर्मल दिसा,
देखि दिनकर–सुता सुभग पुलिनस्थली॥
बीच हरि बीच हरिनक्षि माला बनी,
तरुनता पिच्छ मनु कनक–कदली रली।
पवन बस चपल दल डुलनि सी देखियत,
चारु हस्तक भेद भाँति भारी भली॥
चरन विन्यास कर्पूर कुंकुम धुरी,
पूरि रही दिसि बिदिस कुंजवन की गली।
कुंद मंदार अरविंद मकरंद मद कुंज–पुंजिन,
मिले मंजु गुंजत अली॥

गान रस तान के बान बेध्यौ विस्व,
विषपान जानि अभिमान मनि ध्यान रति दलमती।
अधर गिरिधरन के लागि अनुराग के,
जगत बिजई भई मुरलिका काकली॥
रसभरे मध्य मंडल बिराजत खरे,
नंदनंदन कुँवर वृषभानु की लली।
देखि अनिमेष लोचन 'गदाधर' जुगल,
लेखि जीय अपनी भाम मर्तिमा भली॥

५. भगवानदास (विद्यमानता प्रायः सं० १५९०-सं० १६५०)—वे रामरायजी के प्रमुख शिष्य थे। अनुश्रुति के अनुसार उन्हें आमेर के राजा भगवानदास (शासन सं० १६३०–सं० १६४८) के रूप में माना जाता है; किन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता है। उक्त भगवानदास चैतन्य सम्प्रदायी कोई अन्य भक्त–कवि थे। वे अपनी नाम–छाप के साथ अपने गुरु का भी नामोल्लेख किया करते थे। फलतः उनके समस्त पद 'भगवान हित रामराय' की नाम–छाप के मिलते हैं। यहाँ पर उनका रास–सम्बन्धी एक पद दिया जाता है।

बन्यौ मोर मुकट नटवर वपु स्याम सुंदर कमल नैंन,
बाँकी भौंह ललित भाल घूघर वारी अलकें।
पीत बसन मोती माल हियें पविक कंठ लाल,
हँसनि–बोलनि–गावनि गंडन श्रवन कुंडल झलकें॥
कर–पद भूषन अनूप कोटि मदन मोहन रूप,
अद्भुत बदन चंद देखि गोपी भूली पलकें।
कहें 'भगवान हित रामराय' प्रभु ठाड़े रासमंडल मधि,
राधे सों बाँह–जोटी कियें हियें प्रेम ललकें॥

६. माधुरीजी (विद्यमानता प्रायः सं० १६५०-सं० १७१५)— उनका मूल नाम माधवदास था और वे जाति के कपूर खत्री थे। वे अपने जन्म–स्थान से विरक्तावस्था में ब्रज में आ गये थे और

उन्होंने वृन्दावन में चैतन्य मत की दीक्षा ली थी। उनका काव्य अत्यन्त सरस और भक्ति–भावपूर्ण है, जिसमें उनकी नाम–छाप 'माधुरी' मिलती है। उनकी रचनाओं में श्री रूप गोस्वामीजी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा–भावना व्यक्त की गयी है। ऐसा कहा जाता है, उनकी भजन कुटीर मथुरा–गोवर्धन मार्ग पर स्थित एक कुण्ड पर थी, जो उनके नाम पर 'माधुरी कुंड' कहलाता है। उनका रास–सम्बन्धी एक पद यहाँ दिया जाता है–

माधुरी की रास सब सोभा कौ निवास जहाँ,
खेलत रसीले रासमंडल वलित री।
नूपुर कंकन कंठमाल अंगन में सोभित हैं,
किंकिनी सुकटि कलि कूजति ललित री॥
भृकुटी विलास मृदु पद न्यास नृत्य लास,
बदन विकास–कोटि मदन दलित री।
मुरली की धुनि मंद–मंद गति बाजति है,
ताके अनुसार चारु लोचन चलत री॥

७. बल्लभरसिक (विद्यमानता प्रायः सं० १६८०-सं० १७४०)—वे भक्तवर श्री गदाधर भट्टजी के वंशज थे। उनकी काव्य–रचना अत्यन्त सरस और अलंकृत है; जिसमें अनुप्रास और यमक की छटा दिखलायी देती है। उन्होंने विविध छन्दों एवं पदों में श्रीराधा–कृष्ण की लीलाओं का कथन एवं गान किया है। उनकी 'माँझ' नामक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर पहले उनका रास सम्बन्धी एक पद फिर 'माँझ' के कुछ छन्द उदाहरणार्थ दिये जाते हैं–

१. मंजुल कल कुंज तल बिमल मंडल धवल,
नवल रस रास विरचित किसोरी।
ललित ललितादि सखी रचित कर परस्पर,
मंडलित चलित अति गति न थोरी॥

प्रान समतूल अनुकूल प्रिय अंस भुज,
मूल धृत मध्य मंडल सुगोरी।
त्रिविध सुर ग्राम अभिराम गुन–धाम,
बल–स्याम आलाप यति सुमित भोरी॥
सखी सु रसाल सुर–ताल वादित मृदंग,
वीन रस–भीन वर ग्रीव ढोरी।
गीत–संगीत क्रम रीति गति जीति गृह,
लेति सुख देतताननि झकोरी॥
नृत्य गति रंग अंग–अंग मटकाइ,
कल अलक लटकाइ करत चित्त चोरी।
स्वेद कृत स्वेद कन भेद प्रीतम करत,
भाव भरि भेद भृकुटी मरोरी॥
थेई तथेई थेई उघट मुख सुमख,
सुख गंध मद अंध अलि बंध कोरी।
तान बंधान संधान सुर ज्ञान,
युवराज गजराज आलान डोरी॥
नीवि रसना हँसन कंचुकी कर बसन,
अधर सरसानि आनंद बोरी।
निरखि 'बल्लभ रसिक' सहचरी हिय हरखि,
मानि निज भाग मद मत्त जोरी॥

माँझ–२. पूरन ससि–मंडल की किरनें, मनि–मंडल पर छाई।
चमकि–चमकि चहुँदिस–दिसि पुलिननि, बन चादनी बिछाई॥
अंबर पर सुंदर तारागन, छाति छपाइ तनाई।
'बल्लभ रसिक' विलास रास, उल्लास गांस सुधि आई॥

३. नव नागर नट चटक–मटक सौं, मोर–मुकुट छबि धारी।
धारी छबि चटकीले दुपटा, लटकत छोर छटा री॥
किये प्रकास रास मंडल पर, तास काछनी न्यारी।
'बल्लभ रसिकन' कर ली मुरली, सिर लिएँ तिय मन हारी॥

४. झमकि चली संग बाल, हालकरतालनि लै–लै गोरी।
लाई गति मृदंग उपजाई, छाई बन घन घोरी॥
थेई–थेई तत्तथेई थेई, येई धुनि लै जोरी।
'बल्लभ रसिक' बिहारी प्यारी, प्यारी तान झकोरी॥

५. तान झकोरनि माननि तोरनि, आननि जोरनि ठानी।
हस्तक भेद कनक कंचन कौ, बनक–ठनक मन मानी॥
झनक–झनक नूपुर ऊपर, पायल की बजनि मिलानी।
'बल्लभ रसिक' लटक बेंनी की, जी की अति सुखदानी॥
भृकुटि नँचन नचन बचननि की, कटि की लचनि बनी है।
तिय तन मोर–मुकुट की लटकनि, मटकति मैन सनी है॥
अंचलपट में चंचल निपट, बनी के नैन अनी है।
'बल्लभ रसिक' बनी अबनी पर, वृन्दावन अबनी है॥

८. मनोहरराय (विद्यमानता सं० १७१०-सं० १७७०)—वे गो० गोपालभट्टजी के शिष्य–परम्परा में हुए थे और ठाकुर श्री राधारमणजी के परम भक्त थे। भक्तमाल के सुप्रसिद्ध टीकाकार प्रियादासजी उनके शिष्य थे। मनोहररायजी की रचनाओं में 'श्रीराधारमण–रस–सागर' उल्लेखनीय है, जिनकी पूर्ति सं० १७५७ में हुई थी। उनके रास सम्बन्धी दो छन्द यहाँ दिये जाते हैं–

१. वृन्दावन फूले भूले कोइल–भँवर–मोर,
चातक–चकोर कोलाहलनि मचाये हैं।
जाइ देखें सोई 'मनोहर' प्यारी अनुकूल,
बाँधिकै प्रबंध सुख सार रस चाये हैं।
हँसि–हँसि हाथन सों हाथ जोरें मुख मोरें,
नैन सों जुरत नैन मैनन नचाये हैं॥

२. लाल लै मृदंग रंग भरे रास मंडल में,
लेत हैं दुरूह ताल रिझवत भामिनी।
नृत्यत लड़ैती गावैं ललितादि झूमि–झूमि,
उघटत कोऊ–कोऊ दरसन कामिनी॥

यंत्रन के सुरन सों सबन मिलाइ सुर,
उठत तरंग तान मन अभिरामिनी।
राधिकारमन रीझि भूषन उतारि देत,
देत बकसीस रीझि 'मनोहर' की स्वामिनी॥

९. गो० कृष्णचैतन्य 'निज' (अनुमानतः सं० १८७८–सं० १९४२)—इस ग्रन्थ के विगत पृष्ठों में उनका विस्तृत वृत्तान्त लिखा जा चुका है। यहाँ उनके रास सम्बन्धी कतिपय छन्द दिये जाते हैं—

(दोहा)

१. सुंदर फागुन मास की, राका निसि सुख दैंन।
रच्यौ रास रस परस हरि, श्री वृंदावन ऐंन॥
'निज कवि' कथा पुनीत वर, सो अब वरनहुँ गाइ।
क्रीड़ा रास–विलास सुख, अति संक्षेप जताइ॥

(कवित्त)

२. फागुन सिसिर ससि उदित प्रकासमान,
अवनि–अकास सब दिपै भासमान लों।
'निज जू' सुकवि ब्रज कानन पुलिन चारु,
चाँदनी तनी है चामीकर की वितान लों॥
कोटि–कोटि मदन वसंतनि समंत सोभा,
वनराज संपति विलोकि अँखियान लों।
वृंदावन चंद श्री गुविंद लै बजाई वंसी,
मन सखियान के हैं, उड़े पखियान लों॥

३. 'निज कवि' बंसीधर मुरलीधारी,
सारी ब्रजनारिन में फेर सोर पार्‍यो है।
सागर कों उमड़ि चली हैं सरि–नागरि वे,
सुत–पति लाज–गृह–काज कों विसार्‍यो है॥

ता सवाद लेंन के प्रकासमान चीर चारु,
हीरनि के मूषन सों सिख–नख सिंगास्यो है।
सैकरान जूथ गोपी गोपीगन कौ वरूथ धायौ,
आयौ बीच पुलिन श्री गुविंद कौं निहास्यो है॥

४. वेनु धुन लसी व्रज कोस असी चार बीच,
सुनि–सुनि आई बाल धाय नंदलाल पैं।
राधापति राधाजुत गोपिन समेत अति लसे,
रास मंडल में निर्तत तिताल पैं॥
उघटें संगीत ताता थेई तत थेई कहि,
गावत प्रबंध–गीत नाना राग चाल पें।
जेती ब्रजबाल तेते रूप ह्वै गोपाल लाल,
रच्यौ है रसाल ख्याल वृंदावन भाल पें॥

५. उदित अखंड चंद्र मंडल छिटक प्रभा,
जमुना तटक भूमि फिटक सरे सर की।
गुटक मृदंग की पटक पग–नुपूर की,
खटकत तान निज बांसुरी के से सर की।
चोटी की सटक सीस मुकुट लटक,
कान कुंडल चटक औ मटक नकबेसर की॥

६. बीच–बीच गोपिन के सोभित गुविंद कैसें,
जैसें रति संग सोहें रतिपति चमाचमी।
कैधौं मेघ चंचला कौ चक्र प्रतिचक्र घूमें,
कैंधौं सची संग इंद्र अंकित झमाझमी॥
बाजत मृदंग ताल पायल औ वेनु–वीन,
गावत प्रवीन राग रागिनी दमादमी।
राधा ब्रजचंद 'निज' वृंदादिक वृंद संग,
आज रासमंडल में नाँचत छमाछमी॥

७. 'निजजू' सुकवि भीर नभ में विमानन की,
देव–वधू देखि–देखि भई हैं मन चंचला।
गिरत विलोकि लोकि लोकि लै–लै भजे सुर,
मदन विवस तजें उरज के अंचला॥
एक–एक बाल–बिच ललित त्रिभंगी लाल,
पदन्यास वाजि रहे नूपुर छं छंछला।
अंग प्रतिअंग गोपी गोविंद सुगंध सोभा,
लंग–संग भ्रमै मनो मेघ–चक्र चंचला॥

(दोहा)

इमि राधापति रास रस, विलस मनोरथ सारि।
कोटि–कोटि ब्रज मुंदरिनु गरव काम कौ गारि॥[1]

१०. ललित किशोरी (सं० १८८२–सं० १९३०)—उनका मूल नाम शाह कुंदनलाल था। वे लखनऊ के नवाब के जौहरी और वहाँ के सर्वाधिक धनाढ्य रईसों में से थे। उन्होंने नृत्य, गान, वाद्य, नाट्य आदि कलाओं की विधिपूर्वक शिक्षा प्राप्त की थी। वे बचपन से ही उत्कृष्ट काव्य–रचना करने लगे थे। युवावस्था में वे भक्ति–मार्ग की ओर अग्रसर हुए और सं० १९१३ में लखनऊ छोड़कर स्थायी रूप से वृन्दावन में आकर बस गये थे। यहाँ पर उन्होंने एक कलापूर्ण मन्दिर बनवाया, जो वृन्दावन के सर्वोत्तम देवालयों में माना जाता है। उन्होंने भक्तिभावपूर्ण सुन्दर काव्य–रचना की है। यहाँ पर उनके रास नृत्य के कुछ दोहा छन्द दिये जाते हैं।

(दोहा)

श्री बन बेनु बजाय कें, निरतहिं जुगलकिशोर।
निरखहिं अति अनुराग कें, अनमिष नैना मोर॥

---

१. 'श्री बनारसीदास चतुर्वेदी अभिनंदन ग्रन्थ' (प्रेरक साधक), पृष्ठ ४१७–४२७ पर मुद्रित और डा० भगवानदास तिवारी द्वारा लिखित 'उक्ति–रस–कौमुदी' में बासन्तिक रास' शीर्षक का लेख। इसमें 'निजजू' और उनके ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय भी है।

नाचैं दोऊ कर जोरि कें मंडल दै सखिवृंद।
वृंदाबन पुलिनन लखौं खली रैन सरदिंद॥
बंसी फूंकत मोहिनी, मोहत नव ब्रजबाल।
करत कुंज कौतुक लखौं, मन भायौ नंदलाल॥
ज्यों–ज्यों अंगुरी लाल की, फिरत बेनु रंधान।
त्यों–त्यों थिरकत लाड़िली, निरखहुँ कुंज–लतान॥
बसीकरन बंसी बजै, मंडल दै ब्रजवाल।
वंशीवट निरतत लखौं बीच लाड़िली–लाल॥
होड़ा–होड़ी निरतहिं, गौर–स्याम सुकुमार।
नवल कुंज बन माधनी, हरषों छबिहिं निहार॥
लै मोहन की मुरलिका, प्रिया धरी अधरान।
मंद बजावत निधुबने, निरखौं इन नैनान॥
नँचत स्याम बन कुंज में, गावत प्रिया मलार।
पवन झकोरन लतन सों, अँखियाँ छकैं निहार॥

११. ललित माधुरी (सं० १८८५-सं० १९४२)—वे श्री ललितकिशोरी के लघु भ्राता थे और उन्हीं के साथ लखनऊ छोड़कर वृन्दावन आ गये थे। वे सब प्रकार से अपने ज्येष्ठ भ्राता के अनुरूप और उनके अनुगामी थे। उन्होंने भी भक्ति–काव्य की रचना की है। यहाँ पर उनका एक पद प्रस्तुत है।

१. तब आयसु निरत सखि इक–इक, चित ना नाँचनि चुभाऊँ।
अपनी वार ललित चंचल गति, फिरकिन पाँउ बजाऊँ॥
निरतत नव रँग लालन के सँग, झमकि न चीर उठाऊँ।
छूटत 'ललित माधुरी' सों ना, नूपुर पाँव बँधाऊँ॥
२. व्रज नव तरुनि युवति मंडल मैं, हरुवें ना कहि आऊँ।
सिथिलित भये कंचुकी के बंद, मोहनलाल हँसाऊँ॥
पीतम नँचत मोर बन फिरकत, नैनन ना दरसाऊँ।
थिरकि लेत गति चुटकिन सों ना, हियरे रंग जमाऊँ॥

३. बिविध भाँति रस राग रंग में, अँखडियाँ नाँहिं रँगाऊँ।
नाँचत जोरि कपोल लाल संग, दरपन ना दिखराऊँ॥
श्रमित स्वेद कन मुख अंबुज ना, झलित रुमाक सिराऊँ।
कबहुँक हरें सुहात बिजनियाँ, नाचत हीं न दुराऊँ॥

१२. ललित लड़ैती (प्रायः सं० १९००-१९६०)—वे डेरा गाजी खाँ (पाकिस्तान) निवासी पंजाबी भक्तजन थे। उन्होंने वृन्दावन में चैतन्य सम्प्रदाय की दीक्षा प्राप्त की थी और जीवन पर्यन्त वृन्दावन से सम्बन्धित रहे थे। पंजाबी बोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार था। उन्होंने ब्रज के प्राचीन भक्त–कवियों की काव्य रचनाओं के आधार पर 'दंपत्ति विलास' नामक वृहद् ग्रन्थ की रचना की है। यह ग्रन्थ पाँच भागों में पूर्ण हुआ है और विविध राग–रागिनियों में निबद्ध है। इसके द्वितीय भाग में राधा–कृष्ण की अन्य सरस लीलाओं के साथ–साथ रामलीला के पद भी हैं। तीसरे भाग में राम की 'छद्म लीला' का कथन किया गया है। इस ग्रन्थ में स्थान–स्थान पर 'वार्तिक' के रूप में ब्रजभाषा गद्य का भी उपयोग हुआ है। यहाँ पर एक 'छद्म लीला' का पद 'वार्तिक' सहित उदाहरणार्थ दिया जाता है—(वार्तिक)–श्री जी वही, चल बीर! वाकी मैया पै सब वृत्तान्त कहि आवें। सखी बोली, जब तक वा ढीठ कों पकरि कै संग लिवाय न लै चलें, तब तक जशोदा कों कैसे साँच आवै। आप बोलीं, हे सखी! याकौ तौ यही उपाय है, मैं प्रीतम कौ भेष धरूँ, तू मोहि संग लै चल। सखी ने कही, हंवै प्यारी! यही ठीक है। श्रीजी प्यारे कौ भेष धरि सखी के संग नंद भवन में पधारी।

पद— **स्याम रूप धरि लीनौं प्यारी।**
सीस मुकट, कटि सोहै काछिनी, पीतांवर की दमकन न्यारी॥
नख–सिख कियौ सिंगार मनोहर, ताहि देखि हुलसति हिय नारी।
'ललित लड़ैती' वाही भेष सों, संग सखी नँद भवन सिधारी॥

१३. बलवंत राव सिंधे (सं० १९११-१९८१)—वे ग्वालियर के राजा जयासीराव सिंधे की उपपत्नी के पुत्र थे। उनके लालन–पालन और शिक्षा का यथोचित प्रबन्ध किया गया था। वे सुशिक्षित, धर्मनिष्ठ, सुकवि और संगीतज्ञ थे। ब्रज और ब्रज–साहित्य से उन्हें घनिष्ठ प्रेम था। उन्होंने ब्रजभाषा में कई ग्रन्थों की रचना की है। उनके ग्रन्थों में एक 'दशम स्कन्ध' का सरस छायानुवाद है। उसमें 'रास पंचाध्यायी' के प्रसंग का भी सुन्दर वर्णन है। उसका कुछ अंश उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

चौपाई— **मुख सों बेनु सुधाधर धारी। बीज मंत्र पढ़ि फूँकि उचारी॥**
जहँ सौं घोर गई मुरली की। सुध–बुध विसर गई सब ही की॥
गेह–नेह गोपी तत्रि सारा। मात–तात–सुत–पति–परिवारा॥
जो जैसेहि तैसेहिं उठि धायी। पराधीन जीवनि की नायी॥
चलीं सकल मुरली धुनि–धारा। जिमि जोगी अनहद चित वारा॥
उलटि कंचुकी कोउ कर धारा। कोउ नकबेसरि कान सँवारे॥
नूपुर भुज भूषित कृत कोऊ। कंठाभरन पहरि पद दोऊ॥
कर्नफूल कवरी कोउ साजै। तिमिर तोम जिमि नखन विदारै॥
लिपटे पट अटपटे सुहावत। उलटे भूषन तन अति भावत॥
सघन केस विथुरे मुख गोरे। जनु निसि–दिवस भये इक ठौरे॥

दोहा— **बिगरत में ऐसी बनी, बनत नहीं बनि आय।**
उलटौ मारग प्रीति कौ, बिगरत में बनि जाय॥
धुनि–धारा अधार धरि, फिरत सघन बन–पंथ।
ढूँढ़त ब्रजवाला सकल, आईं जहँ श्रीकंथ॥

निम्बार्क सम्प्रदायी रचनाकार—

निम्बार्क सम्प्रदाय को सुप्रसिद्ध चतुःसम्प्रदायों की परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह ब्रज का अत्यन्त प्राचीन भक्ति सम्प्रदाय है। श्री निम्बार्काचार्यजी से लेकर श्री केशव काश्मीरी भट्ट तक सभी आचार्यों ने संस्कृत में रचनाएँ की थीं। इसीलिए उनकी

काव्यात्मक कृति 'युगल शतक' को 'आदि वाणी' कहते हैं। उनके पश्चात् इस सम्प्रदाय के कुछ अन्य आचार्यों एवं भक्त कवियों ने भी ब्रजभाषा में काव्य–सृजन किया था। उनमें से जिनकी रचनाओं में रास–सम्बन्धी कथन मिलते हैं, उनका यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

१. श्री श्रीभट्टजी (अनुमानतः १६वीं शती का पूर्वार्द्ध)— उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'युगल शतक' में दोहा सहित प्रायः एक सौ पद हैं, जो प्रिया–प्रियतम के युगल स्वरूप की अष्टयाम लीलाओं से सम्बन्धित हैं। इनकी भावना 'ब्रज लीला' और 'निकुंज लीला' नामक दोनों प्रकारों की है। इनमें से रास विषयक दोहा सहित कुछ यह इस प्रकार है—

दोहा— **बहुत रूप धरि हरिप्रिया, मनरंजन रस हेत।**
मन्मथ मनमोहन मिथुन, मंडल मधि छवि देत॥

पद— **मंडल मधि विमल जुगल भल सोहैं।**
करत विहार विहारी प्यारी, मार कोटि मन मोहैं॥
बहुत रूप घृत सब मन रंजन, इक प्रति अंगना दो हैं।
मंगलाकार अपार बढ्यौ सुख, हरि सन्मुख सब को है?॥
सबनि मानि मन मुदित हिये में, पिय रस रास रच्यो है।
दंपति अंतर सजि ग्रीवां भुज, भौंह भृकुटि थिर को हैं॥
नयन नयन मिलि लैंन बिछेपन, मैंन की सैन मिली हैं।
'श्रीभट' अटकि रहे जितके तित, निज–निज लगन लगी हैं॥१॥

दोहा— **सब मिलि निरखत नवल छवि, गोपी मंडलाकार।**
बीच युगल सरसावहीं, अति रुचि सरद विहार॥

पद— **अति रुचि पावत शरद विहार।**
बीच युगल सोहैं मन मोहैं, गोपी मंडलाकार॥
षडज जमावें सरस बतावें, सब मिलि गावें युगल विहार।
'श्रीभट' नवल नागरी नागर, ताता थेई करत उचार॥२॥

दोहा— कर वर अंबुज कंठ भुज, मरकत कनक स्थूल।
'श्रीभट' रस मय तट रमत, राधा मन अनुकूल॥

पद— फूली कुमुदिनी शरद सुहाई।
जमुना तीर धीर दोउ विहरत, कमल नील पीत कर भाई॥
नील वरन श्याम रुचि कीनौ, अरुण वरणता हरि मन भाई।
(जै) 'श्रीभट' लपटि रहे अंसन कर, मानो मरकत कनक जराई॥३॥

२. श्री हरिव्यासजी (प्रायः सं० १५५०-सं० १६३०)—वे पूर्वोक्त श्रीभट्ट जी के शिष्य थे। उनकी रचना 'महावाणी' प्रसिद्ध है, जिसमें शुद्ध निकुंज लीला का कथन हुआ है। उनकी नाम–छाप 'हरिप्रिया' है। उनके दोहा सहित रास सम्बन्धी कुछ पद इस प्रकार हैं—

दोहा— तत थेई उघटति सुगति अति, अंग–अंग रंग ररी।
श्री रसिकिन जू गावहीं, रास मध्य रंग–रस भरी॥

पद— स रि ग म प ध नि, प ग म ध नि न न न न न
न न न न न अनअना सुगति उपजावें।
ग्रिगड़दा ग्रिगड़दा त त त त थेई थेईय तत बहुत गति,
भेदजुत परनि समुझावैं।
द्रमिकिं द्र द्र द्र न न द्र न न द्रं द्रं द्रुमकि मृदंग,
'श्री हरिप्रिया' सहचरि सहचरि बजावैं॥१॥

दोहा— रंग भरे गुन रस भरे, साँबर–गौर सहास।
दोउ रसिक मनमोहने, सरसहिं नृत्यत रास॥
नृत्यत रसरास रसिक मनमोहन, दोउ बहियाँ जोरे।
रंग भरे रस भरे गुन भरे सोहत साँवर गोरे॥

पद— कुं कुं झुक कुकुं झुक मनन मनन झीमां झांद्री मांद्रीमां मृदंग घौरै।
धध मफधं फफधध मफधां मपधां, तां तां तानन तोरै॥
मुकुट लटकि और चटक चंद्रिका, भ्रकुटि मटकि चित चौरै।
'श्री हरिप्रेमा' प्रसन्न वदन, रीझि–रीझि सिर ढोरै॥२॥

दोहा— देखौ देखौ री सखी, चिदानंद घन रूप।
प्यारी राधे कौ बन्यौ, वृंदाविपिन अनूप॥

पद— प्यारी राधे कौ वृंदावन देखोरी चिदानंदघन।
तैसिय सरद उज्यारी राका रुचिकारी,
त्रिविध बहै पवन सननसन॥
कुंज कुंज द्रुमवेलि प्रफुल्लित अलवेलि झेलि
रस झूमि–झूमि रहि रति रेलीतन।
तहाँ 'श्री हरिप्रिया' हुलास भरे रच्यौ रास, रसिक प्यारे लाल
तत्ता थेई थेई उघटत न न न न न॥३॥

दोहा— कला चिबुक लिये चरन में, नइ नइ गति उपजाय।
नृत्य प्रेम उमंग सों, ए दोऊ छवि पाय॥

पद— ए दोऊ नृत्यत छवि पावैं।
करें करन में चिबुक चरन में, नई–नई गति उपजावैं॥
हंसनि लसनि दसनन की चितवन चित्त चुरावैं।
भृकुटि विलास चपल आयत अति, अँखियन मार मचावैं॥
रीझि रीझि रस–भीजि परस्पर, प्रेम उमंग उमंगावैं।
'श्री हरिप्रिया' निसंक अंक भरि, लै लै लंक लगावैं॥४॥

३. श्री रूपरसिकजी (विद्यमानता १९वीं शती)—वे श्री हरिव्यासजी के शिष्य और समर्थ भक्त–कवि थे। उनके रास सम्बन्धी दो पद इस प्रकार हैं—

१. राग में रसिक नवरंग नागर नचत।
प्रानप्यारी के संग सरसगति अति सुधंग अलग
लग दाट के थाट कोऊ न बचत॥
चरनविन्यास बहु भास हस्तक निपुन,
हुर्मई धरि जु ध्रुव ध्रुव–विलासहिं सचत।
सुघर संगीत अवधर जु विद्याविदित,
बिपुल वर उर्प अरु तिर्प रसमय रचत॥

मुकुट–मंजुल अलक रलक कुंडल झलक,
ललक लखि विमल गंडस्थलिन दृग चलत।
मधुर–रस–ऐन कल वैन थेई–थेई करत,
दैन मन नैन की चैन हिय में खचत॥
रुनित नूपुर कुनित किंकिनी कलित कल,
ललित बनमाल मधुजाल मधुकर मचत।
मंद मुख–हास परकाश दशनावली,
अधर आरक्त फलविंव कह को पचत॥
देखि दुति विसद दशनावलि की उरसि,
अमित चपला चमक इंदु कोटिक कचत।
बसहुँ अद्भुत अनूप 'रूपरसिक' सुखद हीय,
मन भाँवते मन बचन येही जचत॥

२. नृत्य नागरी नगधरन।
मंजुल रासमंडल मध्य करसों कर जोरि
किसोर कुँवर गौर साँवर बरन॥
उरप तिरप लाग दाट नाट्य थाट में सुचाट,
थेई थेई रट बदन मान–भंग–करन॥
अरस परस सरस पुलक छलकि रही सुछवि छलक,
ढलक मुकुट अलकरलक झलक–कुंडल लरक लरन॥
तान, मान पर बंधान, गान गति सुअति सुजान,
सकल–कला गुन–निधान, ढरनि सुढर ढरन॥
रीझि–रीझि रहसि–रंग भींज–भींज अंग बाढ़त,
उर अति उमंग रति–रस विस्तरन॥
'रूपरसिक' सहचरिजन निरखि थकित भई,
भूप भाँवते अनूप की सुकेलि हिय की हरन॥

४. श्री वृन्दावनदेवजी (विद्यमानता १८वीं शती)—वे श्री हरिव्यासदेवजी के शिष्य थे। उनका आचार्यत्व–काल सं०

१७५४–१७९७ है। वे निम्बार्क सम्प्रदाय के बड़े यशस्वी धर्माचार्य थे। राजस्थान के कई राज–घरानों पर उनका बड़ा प्रभाव था। किशनगढ़ की रानी ब्रजकुँवरि (वाकाँवतीजी) एवं सुन्दर कुँवर जी श्री वृन्दावनदेवजी की शिष्या थीं। वे सं० १७५६ में भरतपुर भी पधारे थे। उन्होंने जो भक्ति–काव्य की रचना की है, उसमें रास सम्बन्धी पद भी हैं। यहाँ पर उनके इस प्रकार के कतिपय पद दिये जाते हैं–

१. हरि नाँचत गोप–बधू–मधिमंडल, कुंडल लोल कपोलन में।
उघटे गति भेद अनेक अनेक, सु मोहित है मन वेलनि में॥
सुंदरताइ कहाँ लौं कहौं, उपमा नहि आवत तोलनि में।
नैन वहीं रसवस भए डोलत, 'वृंदावन' प्रभु डोलन में॥

२. नाचत मोहन मंडल महियाँ।
जमुना पुलिन नलिन बन फूले, मंद पवन वंसीवट छहियाँ॥
लेत है यों आतुर अड़वाई, जानति सवै गहै मो बहियाँ।
'वृंदावन' प्रभु अद्भुत लीला, तिहुँ पुर में देखी नहि कहियाँ॥

३. नाचैरी! दोउ बाहाँ जोरी।
इत नँदनंदन रसिक लाड़िलौ, उत बृषभानकिसोरी॥
गौर–स्याम भुज गहैं परस्पर, निरखि उपमा उपजत मति मोरी।
सोभा–सर लाल नील कमल मनौ, मिले करत झकझोरा झोरी॥
मुकुट लटक पट चटक कटक कर, चरन पटक मृदंग गति बोरी।
तत्त खिरिरिरि तात न न न न, सखी सुघरि उघटति चहुँ ओरी॥
अलापत रागिनी राग तान श्रुति लागि रही एकैसुर डोरी।
'वृन्दावन' प्रभु धुनि सुनि थिर चर मोह्यो जात न कोरी॥

५. गोविन्दशरणजी (विद्यमानता १९वीं शती)—वे परशुराम द्वारा की आचार्य गद्दी पर सं० १८१४ से सं० १८९१ तक आसीन रहे थे। उनका रचा हुआ पर्याप्त भक्ति साहित्य उपलब्ध है, जिसमें रास सम्बन्धी कुछ छन्द भी हैं। यहाँ पर उनके दो कवित्त

दिये जाते हैं–

१. जमुना सुकर कूल सरस सँवारि राख्यौ,
मनो चंद्र–चूरि रज मृदुल सुहावनौ।
मालती मधुर–गंध मन भये भौंर भ्रमै,
सेवति सुवास विवि केलि सरसावनो॥
तैसोई मयंक कला पूरन प्रकट भयौ,
बन–छबि छाइ मन मदन जगावनो।
'गोविंदसरन' रास–रसिक बजाइ बेनु,
ऐसौ वृंदाविपिन लख्यौ है मनभावनौ॥

२. नृत्यत सुधंग दोउ राधिका–रमन संग,
रंग बरसावैं कल गावैं मृदु तान री।
तत्तथेई थेई करें मति लेत मति हरें,
भरें हाव–भाव चाव एक ही समान री॥
ग्रीव की लटक औ चटक पट नील पीत,
उमँगि–उमँगि अंग–अंग लपटान री।
बार–बार कहैं विवि रीझि रीझि अंक भरें,
'गोविंदसरन' है विकानि ही की बान री॥

ललित सम्प्रदायी रचनाकार–

'ललित सम्प्रदाय' एक माधुर्य भक्तिमूलक सम्प्रदाय है, जिसमें श्रीराधाजी और उनकी प्रमुख सखी ललिताजी को महत्त्व प्रदान किया गया है। इसके प्रतिष्ठापक वंशी अली नामक एक रसिक भक्त थे। इस ग्रन्थ के विगत पृष्ठों में श्री वंशी अलि और उनके ललित सम्प्रदाय का उल्लेख किया जा चुका है। ललित सम्प्रदाय की परमोपास्य श्रीराधाजी हैं; जिनकी प्रधान सखी ललिताजी को परम गुरु माना गया है। ललिताजी के नाम पर ही 'ललिता सम्प्रदाय' का नामकरण भी हुआ है।

श्री वंशी अलीजी (सं० १७६४-सं० १८८२)–वे 'ललित

सम्प्रदाय' के प्रवर्त्तक–प्रतिष्ठापक होने के साथ ही साथ अपनी रास सम्बन्धी विलक्षण मान्यता के भी प्रचारक थे। उनके द्वारा रचित 'श्री राधिका महारास' जहाँ ललित सम्प्रदाय पर प्रमुख सैद्धान्तिक ग्रन्थ है, वहाँ श्री वंशी अलीजी के रास सम्बन्धी दृष्टिकोण का भी परिचायक है। इनमें श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधाजी को वंशी–वादन करते हुए बतलाया गया है। वे ललितादि समस्त सखियों को रास के प्रति आकृष्ट करती हैं, और फिर उनके साथ रास–विलास में संलग्न होती हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के स्थान पर श्रीराधाजी को सब प्रकार से प्रधानता दी गई है।

श्रीराधाजी की प्रधानता 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' में भी स्वीकृत है; किन्तु उसमें श्रीकृष्ण को भी यथोचित महत्त्व दिया गया है। श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में केवल श्रीराधाजी द्वारा शृंगार–रस की निष्पत्ति और रास के माधुर्य भाव की संपुष्टि होना सम्भव नहीं है। वंशी अलीजी ने रास में श्रीकृष्ण को कोई स्थान देना उचित नहीं समझा। इस प्रकार श्रीकृष्ण के अभाव में रस की दृष्टि से उनका रास सम्बन्धी कथन प्रभाव शून्य हो गया है। उदाहरण के लिए उनका एक पद यहाँ दिया जाता है; जिसमें राधाजी को अपनी सखी ललिता के साथ रास–नृत्य करते हुए बतलाया गया है। इस पद की रचना–शैली सुन्दर है, किन्तु आर्धवन, संचारी हाव–भाव आदि के भेद से इसमें शृंगार रस की निष्पत्ति नहीं हो सकी है। पद इस प्रकार है–

सजनी दोऊ नृत्य करैं
गरवाहीं मुख जोरि कुँवरि–ललिता थेई–थेई उचारैं॥
एकहि पट सिर ऊपर लियें, मुख दुराइ दोउ खोलैं।
अरस–परस करि परसि चिचुक, दोउ दृग मिलाइ मधु बोलैं॥
सन्मुख ह्वै नूपुरनि बजावत, बिच–बिच चलनि छबीली।
नोंकनि दृग रोकनि भृकुटी की, मुरनि ग्रीव तिरछीली॥
मुसकि जानि कर छ्वै आलिंगन, झिझकन चित आकरषै।
उरप–तिरप की लैन छबीली, 'बंशी' दृग सुख बरषै॥

श्री वंशी अलीजी के रास सम्बन्धी कुछ अन्य पद भी दिये हैं। इनमें उनका तद्विषयक दृष्टिकोण देखा जा सकता है,–

१. ब्रज सुंदरि सुनि धाई। बसन रसन बिसराई।।
सुनि धाई ब्रज–बाल, सु तन ग्रह बंधु न नैक सँभारैं।
राधा–बदन विलोकि विबस दृग, मनसिज ताप निवारैं।।
बंक बिलोकनि मृदु मुसिकन छबि पीवत कहूँ न अघाई।
बोलीं बैनु बजाइ लड़ैती, ब्रज सुंदरी सुनि धाई।।
अति आसक्ति जनावै। राधा वन वेणु बजावै॥
राधा बचन–रचन, राधा मुख तिय जन मन आकरषै।
मृग मराल मोहत द्रम बेली, विवस भाव बन बरषै॥
उड़पति विवस थकित जमुना जल, सुधि बुधि हिय बिसरावै।
निज सरूप आसन मदमाती, अति आसक्ति जनावै॥
सुंदर रास रचायौ। जमुना तीर सुहायौ॥
जमुना तीर भीर ब्रज जुवती, मधि खेलत श्री राधा।
ताल–मृदंग–किंकिणी–नूपुर, रव बरसत सुख–राधा॥
अधर अदन परिरंभन रस बस, अलि गन चित्त चुरायौ।
'बंशी अलि' रस पीवत अद्भुत, सुंदर रास रचायौ॥

२. नाँचति मंडल कुँवरि लाड़िली भान की।
ततथेई येई करत रचित हस्तक भेद,
भुज सम दोऊ परस्पर मान की॥
मुकुट लटकाइ छुइ धरनि कंचुक विसद,
करत संगीत दृग पान व्याकुल करति।
चिबुक पर चारु अंगुलि धरैं अलक कर,
नाम अभिराम दृग चपल सौं गति भरति॥
देत परिरंभ कुच तटी काहू छुवत नख,
छतनि कटि परसि चुंब अधरन परस।

छुवत कवसीकरन, अलक जइ छुइ छोभ जिय,

भरि द्वग त्रियनि खेलत कटाच्छन सरस॥

करीं रस विवस आमोद बस कामिनी,

भामिनी उडुगनन चंद मानौं विमल।

रूप 'बंशी' मीन मनिन आकर्ष लति,

फूल अनुकूल बाढ़ी मानौ निसि कमल॥

३. कुँवरि मुख निरखि अली सब फूलीं।

मानौं चंद चांदिनि कुमुदिनि, सरस प्रेम अनुकूलीं।।

निर्त्तति सबै सुधंग कुँवरि संग, सरस संगीत मचावैं।

भुज विधुतनि तारी कर दै दै, दंत हीर चमकावैं।।

चपला सी छल जाति छबीली लै उछंग ब्रजबाला।

भलैं-भलैं राधा मुख सुनि-सुनि, चौप बढ़ति तिहिं काला।।

राधा सों कर जोरि चपल गति, मंडल निर्त्त सुहायौ।

एक-एक भुज जोरि धुनी कर, अति मृदु गान सुहायौ।।

एक-एक अँग संग किसोरी, चंचल गति चपला सी।

परिरंभन करि, कुच कपोल-कटि, अधर छबति मृदुला सी।।

सुलप मृदंग बीन मिलि सुन्दरी, अभिनय निपुन दिखावैं।

'बंशी' रूप कुँवरि आकरषी, श्री मुख द्वगनि दिखावै।।

अन्त में एक पद 'नित्य-रास' का दिया जाता है। इसमें श्री राधा-कृष्ण के युगल नृत्य का सरस कथन किया गया है। नृत्य के अन्त में श्रमित हुई राधाजी की सेवा श्रीकृष्ण उन्हें बीजना ढुलाकर करते हैं, जो वंशी अली के राधा सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट क़रता है। पद बड़ा है, अतः उसे संक्षिप्त रूप में यहाँ दिया जाता है-

कुँवरि निर्त्तति सुधर राधिका स्याम संग।

दिये गरबाँह दृग-दृग मिलायें दोउ,

लेत गति सुरत-रस माधुरी अंग-अंग॥

चंद्रिका चलनि गति चपल नैननि लई,
जुगल ताटंक वर गंड मँडल नचत।
रस संरंध्र मुख अरुनिमा झलक कहुँ,
करत हस्तक भेद निकस तब कटि लचत॥
मचत तब कलहि मुक्तावली पदक मधि,
उघटत सुगंध मुख थेई ता थेई करत।
लाल गावत बजावत सुघर ताल कर,
निरखि सुधि नैन आनंद अद्भुत लहत॥
उघटि मन लेत जब चलत कछु अधर वर,
लटनि की डुलनि भ्रकुटी नचत भाय सों।
डुलनि ग्रीवा अलक कंठ मधि नागनी कप कपोलनि,
झलक थरहरनि नासिपा मुक्तावली चाप सों॥
लेत जब तान सुखद दान पिय प्रान की,
डुलनि बैनी नैन टूक–टूकनि करत।
लाल सुर देत, ठाड़ी कुँवरि रूप–निधि लेत,
उपजनि दसन मानों चाँदनी अति लसत॥
बदन स्रम निरखि, लालन करत वायु,
कर कंज लिऐं बीजना, नेह–रस सों सन्यौ।
लिपट गई लालन–उर सों रीझि कै,
'बंशी अलि' तबहिं रति–भाव अद्भुत ठन्यौ॥[1]

सम्प्रदाय-निरपेक्ष भक्त रचनाकार–

पूर्वोक्त विविध भक्ति–सम्प्रदाय के अतिरिक्त जिन सम्प्रदाय–निरपेक्ष भक्त रचनाकारों के रास सम्बन्धी पद–छन्दादि उपलब्ध हैं, उनमें कविवर रसखान और भक्तवर राजा नागरीदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वैसे उन्हें भी भक्ति–सम्प्रदायों से सम्बन्धित माना जाता है; किन्तु हम उन्हें सम्प्रदाय–निरपेक्ष भक्त रचनाकार ही

१. श्री सर्वेश्वर (ब्रज लीला अंक), पृष्ठ ९४–९५।

मानते हैं। यहाँ पर उनके संक्षिप्त वृत्तान्त सहित उनकी रास विषयक रचनाओं को दिया जाता है।

१. रसखान (प्रायः सं० १५९०-सं० १६७५)—वे दिल्ली के मुसलमान पठान और एक भावुक प्रेमीजन थे। पूर्व संस्कारवश उनके हृदय में प्रेमाभक्ति का उदय हो गया और वे सब कुछ छोड़कर दिल्ली से ब्रज में आ गये थे। वहाँ वे छद्म वेश में ब्रज के लीलास्थलों में विचरण करते रहे थे। उसके फलस्वरूप वे ब्रज संस्कृति एवं ब्रज की भक्ति—भावना के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान और ब्रजभाषा के उत्कृष्ट भक्त—कवि हुए थे। 'ब्रज में उनका' अधिकतर निवास गोवर्धन में रहा था; जहाँ वे वल्लभ सम्प्रदायी भक्तजनों के सत्संग में रहे थे। साम्प्रदायिक क्षेत्र में उन्हें गो० विट्ठलनाथजी का शिष्य माना जाता है;[1] किन्तु उनकी रचनाओं से उनका सम्प्रदाय निरपेक्ष स्वरूप ही उभरा है। उन्होंने ब्रजभाषा में अत्यन्त सरस भक्ति—काव्य की रचना की है, जो कवित्त—सवैयादि छन्दों में है। उनके द्वारा रचित कृष्ण—लीला के मनोरम छन्द बड़े प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर उनके रास—सम्बन्धी कतिपय छन्द दिये जाते हैं।[2]

१. आजु भटू बंशीवट के तट, नंद के छोहरा नें रास रच्यौ री।
नैंननि—सैंननि—बैननि सों नहिं, कोऊ मनोहर भाव बच्यौ री॥
जद्यपि राखन कों कुल—कानि, सबै ब्रस बालनि प्रान पँच्यौ री।
तद्यपि वा 'रसखान' के हाथ, बिकानि कौ अंत लच्यौ पै लच्यौ री॥

२. आज भटू इक नंदकुमार नें, रास रच्यौ ब्रज गोप के द्वारैं।
सुंदर बानिक सों 'रसखान', बन्यौ वोह छोहरा भाग हमारैं॥

---

१. वल्लभ सम्प्रदायी 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अन्तर्गत वार्ता सं० २४५ देखिये।

२. रसखान की समस्त उपलब्ध रचनाओं का सुसम्पादित संकलन डॉ० भवानी शंकर याज्ञिक द्वारा 'रसखान—रत्नावली' के नाम से किया गया, जिसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने प्रकाशित किया है।

ए विधिना! जो हमैं हँसती, अब नैंन कहूँ उत कों पग धारैं।
ताहि बदौं फिरि आवै घरैं, बिनहीं तन औ मन–जीवन वारैं॥

३. काछ नयौ इकतौ बर जेउर दीठ जसोमति राज कस्यौ री।
या ब्रजमंडल में 'रसखान' कछू तब तें 'रस–रास पस्यौ री॥
देखियै जीवन कौ फल आजु ही, लाजहिं काल सिंगार हौं बौरी।
केते दिनानि पै जानति हौ, अँखियान के भागनि स्याम नच्यौ री॥

४. देखत सेज बिछी ही अछी, सु बिछी बिष सों भिंदिगौ सिगरौ तन।
ऐसी अचेत गिरी नहिं चेत उपाय करैं सिगरी सजनी गन॥
बोली सयानी सखी 'रसखान' बचैं यों सुनाय कह्यौ युवती जन।
'देखन कों चलिये री चलो सब, रास रच्यौ मनमोहन जू बन'॥

५. अधर लगाइ रस प्याइ बाँसुरी,
मेरौ नाम गाइ हाय जादू कियौ मन में।
नटवर नवल सुघर नंद–नंदन नें,
करिकै अचेत चेत हरि कै जतन में॥
झटपट उलट पुलट पट परिधान,
जान लगीं लालन पै सबै बाग बन में।
रस रासि सरस रंगीलौ 'रसखान' आनि,
जानि जोर जुगति विलास कियौ जन में॥

२. राजा नागरीदास (सं० १७५६-सं० १८२१)—वे किशनगढ़ (राजस्थान) के राजा होने के साथ–ही–साथ एक भावुक भक्त और रससिद्ध सुकवि थे। अपने कुटुम्ब–परिवार, परिजन–पुरजन और राजकीय वैभव का परित्याग कर वे विरक्त भाव से वृन्दावन में आकर रहे थे। उन्होंने वहाँ पर भक्ति–साधना करने के साथ–साथ प्रचुर भक्ति–काव्य को रचा था। उनकी समस्त रचनाओं का बृहद् संकलन 'नागर–समुच्चय' के नाम से प्रकाशित हुआ है। साम्प्रदायिक क्षेत्र में उन्हें निम्बार्काचार्य श्री वृन्दावनदेवजी का शिष्य माना जाता है; किन्तु वे किसी सम्प्रदाय विशेष से प्रतिबद्ध होने की अपेक्षा ब्रज–

वृन्दावन के सभी भक्ति–सम्प्रदायों के प्रति समान रूप से श्रद्धावान जान पड़ते हैं। उनकी परिचारिका 'बनीठनी' को हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी रसिकदासजी की शिष्या माना जाता है।

नागरीदासजी की रचनाओं में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का विस्तृत कथन किया गया है। यहाँ उनकी रास सम्बन्धी कुछ रचनाएँ दी जाती हैं–

(दोहा)

तहाँ पिय–प्यारी मन कियौ, निरखि उजारी रैन।
निर्त–गान आरम्भ मिलि, कीजे सब सुख दैन॥
रस विलास नव कुंज सुख, रास करनि के काज।
कितिक सहचरी करनि लयै, अपने–अपने साज॥
बीन–तमूरा–खंजरी, बाजनि लगे सुधंग।
एक ताल सुर मंच मिलि, मिलि मृदंग महुचंग॥

(चौपाई)

ये वादित्र मिले सब इक धुनि। अति रम उमग्यो दंपति मन सुनि॥
गान कियौ मिलि तान विधाननि। पैठि–पैठि छुइ आवत प्रानन॥
सहचरि चहचरि चहल मचाई। गान रंग वरषा बरषाई॥
निर्त सुधंग रंग बढ़्यौ भारी। दुहुँ दिसि सखी बीच पिय–प्यारी॥
उततैं स्यामा इततैं स्यामहिं। लई परस्पर गति अभिरामहिं॥
हस्तक भेद ग्रीव की ढोरनि। मृदु मुसकनि भौंहनि की मोरनि॥
रस सागर संगीत हिलोरें। सखियन के मन नैंन झकझोरैं॥
हाव–भाव मैं थाह न पावैं। गति कौतुक गति मति विसरावैं॥२॥

दोहा– नूपुर कंकन किंकिनी, बाहु वादित्र प्रकार।
चट्यौ झमकि झंकार मिलि, पायनि गति विस्तार॥
चतुर सिरोमनि भावती, अति गति लेत सुधंग।
पिय कैं मन लोचन फिरैं, अरुझैं पायनि संग॥

ज्यौं–ज्यौं निर्त्तत भाँवती, करि–करि टेढ़ी भौंह।
त्यौं पिय टेढ़े होत हैं, एरी तेरी सौंह॥
उपर लेत प्यारी तबैं, पिय मन उपजत संक।
लचके जात हैं प्रान उत, जब इत लचकत लंक॥
बैंनी चली नितंब पर, छनक छली अँगुरीन।
नचैं चंचला सी कला–कोविद प्रिया प्रवीन॥
उत उरझी कुंडल अलक, इत बेसरि–बनमाल।
बहियाँ–बहियाँ सौं अरुझि, अरुझे नैंन बिसाल॥
लेत बलइया रीझि दोउ, दोउ पोंछत श्रम बारि।
नचत सनी अतिरंग सौं, बनी मदन मनुहारि॥
उतै झुकौंहौं नव मुकुट, इतैं चंद्रिका चारु।
भयौ रास रस मगन तन, सरके सकल सिंगारु॥
खूटि–खूटि अंचर रहे, छूटि–छूटि रहे बार।
श्रमित रास रस रंग में, टूटि–टूटि रहे हार॥
कहत–कहत कहाँ लगि कहैं, कबि मतिमंद प्रकास।
तिनकैं भौंह–विलास मैं, कोटि–कोटि ह्वै रास॥३॥

पद– निर्तत हैं व्रज–वामा। सुंदर छवि अभिरामा।
दामिनि तन दुति राजैं। मुख कुंडल थहरनि भ्राजैं॥
थहरत कुंडल फहरत अंचल, नहिं ठहरत उरमाला।
खूटत बैंनी छूटत फूल सु, पिय मन लूटत बाला॥
सरस संगीत निघट तन उघटत, तत् तरंग तक्किट कटि लौंनी।
ततथेई थेई थेई घुमकट तकथो, परननि परत सुठौंनी॥
झंझं झनकत किंकिनी नूपुर, खनकत बलया कंकन।
उरप–तिरप नट अलग लाग में, लेत भुजन भरि अंकन॥
चंचल तन चलदल गत बिलुलित, दुति अलात सी सोहैं।
'नागरीदास' सुघर निर्तक सब, गुन प्रकटत मन मोहैं॥४॥

थेई तथेई थेई, थेई थेई थेई,
उघटत रास रसिक मनमोहन, रंगभरी निर्तत हैं प्यारी॥
मुरज मृदंग टकोर मिलावत, गावत सखी सुघर दैं तारी।
ललित अंग भुवभंग चितैं पिय, विवस भये बोलत बलिहारी॥
जगमग रही रासमंडल में, 'नागरिया' मुख चंद उजारी॥५॥

दीनैं गरबहियाँ गति लेत डोलैं मंडल में,
बोलैं ततथेई मुख रूप ललकैं।
ह्वै गये विविस मन श्रमित भये री तन,
खिसै फूल शीश तैं शिथिल भई अलकैं॥
इत किंकिनी छूटी लोल हारन,
कुंडल कपोल झाँई झलकैं।
'नागरीदास' राधा–मोहन नँचत देखि,
भूली सखी गान–तान लागत न पलकैं॥६॥

क्रीड़त रसिक रास रस रंगे।
प्रफुलित विपिन बहत मलयानिल, उदयति ससि सर्वंगे॥
सरद विमल राका निज सुख कृत, कल रव वेणु तृभंगे।
रासारंभ व्यौम धुनि पूरित, मुहवर–मुरज–मृदंगे॥
गौर–श्याम भुज ग्रीव मेलि, रचि पद संगीत सुधंगे।
अंदोलित अलकावलि कुंडल, गुनि मुक्तावलि भंगे॥
रसानंद आवेस विबस पट, नीबी शिथिल सु अंगे।
रूढ विमान अमर प्रेमातुर, मूर्च्छित अवनि अनंगे॥
श्री वृंदावन राधा–मोहन, केलि कलप बहु संगे।
'नागरिया' गोलोक अखंडित, कथन कथा शुक–भृंगे॥७॥

एक रात ही में कई कलप अलप जानें,
ऐसी केलि कमनीय इनही सौं हो सकै।
एक बाँसुरी की धुनि थिर–थर मोहि डारे,
त्रिभुवन कौन सुनि धीर महि जो सकै॥

एक नट नागर की मुकुट लटक माँझ,
अटकि पर्‍यो है मन छूटि नाँहि सो सकै।
एक भुवभंग में अनंग मान भंग होत,
ताके रास रंग कौ बखान करि को सकै॥८॥
वृंदावन–कानक पै भीर है विमाननि की,
देवबधू देखि–देखि भई हैं मनंचला।
वंसी कल गान कैं बितान धुनि बाय बँध्यौ,
रमा लोक लोभित ह्वै भूली उर अंचला॥
द्वै–द्वै बिच गोपिन कैं ललित तृभंगी लाल,
'नागरिया' पदं न्यास बाजै छनछंछला।
रासरंग मंडल अखंड निर्त हौंन लाग्यौ,
संग ह्वैं भ्रमत मानौ मेघचक्र चंचला॥९॥
ठाढ़ी अभिरामा स्यामा बीच रासमंडल कैं,
आगैं स्याम निर्तत हैं सुलप सुधंग में।
नूपुर मृदंग बीन तार सुर संच लीन,
पैरत प्रबीन गुन–सागर तरंग में॥
'नागरिया' रंघे रीझि भृकुटि नचाय तब,
दई मनमानी मौज आनंद उमंग में।
प्रीतम कै अंगनि अनंग चल चाल परी,
भए तालभंग बाल–भौंह–भंग में॥१०॥
निर्तत नवेली अलबेली प्यारी मंडल में,
सारी जरतारी रही झींनीं झलमलि कैं।
सखियाँ निहारैं प्रान वारैं रिझवारैं रीझि,
उठत आनंद उर प्रेम कमलनि कैं॥
'नागरिया' स्वामिनि की उरप–तिरप देखि,
दामिनी बिचारी रहैं हाथ मलमलि कैं।
प्रीतम के लोयन लगाय लये पाँयन सौं,
मन तरवायन सौं डारयो दलमलि कैं॥११॥

रास के श्रमित आवैं कुंज कैं निवास दोऊ,
ललिता बिछावैं आगैं पंकज की पखियाँ।
स्याम दुहूँ हाथनि पै धरैं हाथ स्याम जू कौ,
तहाँ भई सबही की आँखें मधु मखियाँ॥
'नागरिया' नागर बनन बनी सैंनी पर,
बैठे हँसि चतुर चितौंन चखै चखियाँ।
प्यारी मुख स्वेदहिं सुखावैं पिय फूँक दै-दै,
त्यौं-त्यौं उत भीजीं जात सुख माँहिं सखियाँ॥१२॥

श्रीराधाकृष्ण के रास-विलास का इतना विशद् वर्णन करने पर उन्हें आशंका हुई कि यह तो उचित नहीं हुआ। किन्तु उन्होंने अपने मन को इसलिए आश्वस्त कर लिया कि यदि इसमें कोई अनौचित्य भी हो, तो इसका दोष मुझ पर नहीं है। मैंने तो यह सब श्यामा-श्याम की प्रेरणा से किया है-

दोहा- **उचित नहीं कहनी इती, रहस्य-केलि रस-काम।**
'नागरिया' कौ दोष कहा, प्रेरक श्यामा-श्याम॥

आधुनिक काल में भक्ति-भावना का प्रायः अभाव हो गया है। इस कारण रास के प्रति हमारे दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ है। फिर भी कुछ भक्त रचनाकार पूर्व परम्परा का अनुसरण करते रहे हैं। ऐसे महानुभावों में 'कल्याण' मासिक पत्र के यशस्वी सम्पादक श्री हनुमान प्रसादजी पोद्दार भी थे।

श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार-वे कुशल सम्पादक होने के साथ-साथ राधाकृष्ण के भक्त एवं कवि भी थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में बहुसंख्यक भक्तिपूर्ण पदों एवं छन्दों की रचना की थी, जो उनके स्वभाव के अनुसार बिना नाम दिये प्रकाशित हुए थे। उनके निधनोपरान्त उनकी भक्तिपूर्ण पद-रचनाओं का बृहद् संकलन 'पद रत्नाकर' के नाम से प्रकाशित किया गया है। इसमें श्रीराधा-कृष्ण की विविध लीलाओं के बहुसंख्यक पद संकलित हैं। इनमें

१० पद वंशी–वादन एवं रास–क्रीड़ा से भी सम्बन्धित हैं। यहाँ पर उनके रास विषयक कतिपय पद दिये जाते हैं–

१. कुसुमित कुंज कल्पतरु–कानन, मनिमय अजिर सुहावन।
रास–विलास निरत नटनागर, गोपी–जन मन–भावन॥
विमल विनोदिनी वचन–विदग्धा, मुग्धा नागरि नारी।
नित नव तरुनि नटिनि निरुपम नित, मनमोहन–मनहारी॥
कोटि–कोटि कामिनि, दामिनि घन, संग सुसोभन साजै।
मन्मथ–मन्मथ मुरलि–मनोहर, द्वै–द्वै के बिच राजै॥

२. रुचिर तरनि–तनया–तट, निभृत–नव–निकुंज–निकट,
निरतत नव नागर नट, लसत पीत पट ललाम।
सोभा निरुपाधि सजत, कोटि–कोटि काम लजत,
मुरलि अधर मधुरे बजत, भजत संत नित निकाम॥
मृग–मद रुचि तिलक भाल, चंचल लोचन बिसाल,
कुंचित कच कृष्न जाल, भृकुटि कुटिल कला–धाम।
करि–वर–मद–हरनि चाल, कटि किंकिन–रव रसाल,
सुरभित बन–कुसुम–माल, रत्नहार कंठधाम॥
कुंडल मनि–रत्न–चमक, सुचि कपोल गोल दमक,
अंग–अंग सुरभित–गमक, रमा रमत वक्षधाम।
निपट सुखद खटपट–रति, लपट–झपट नटखट गति,
आकरषत तन–मन–मति, इन्द्रिय झट बिना दाम॥
मृदु मधु मुसुकान बिमल, मुनि–जन–मन हरत सबल,
मिटत दुःख–दैन्य सकल, परम रम्य सुधा–धाम।
रसमय रसराज सतत, रस–बरषा बरसत नित,
नेह–सिंधु उमगि अमित, बहे अन्य रस तमाम॥
बाढ़्यौ अति प्रेम–भाव, सब कें मन भर्‌यौ चाव,
भाव भयौ महाभाव, भूले सब नाम–धाम॥

३. प्रिया–प्रियतम दोऊ करत किलोल।
रूप–उजागर नागरि–नागर, बोलत मधुरे बोल॥
रास–विलास करत दोउ रसमय, प्रीति न हिएँ समात।
स्रमित, हार नहिं मानत कोऊ, करत मधुर दोउ घात॥
निभृत निकुंज पुंज सुख–माधुरि, रस–स्वामिनि रसराज।
तन–मन–प्रान अभेद, अलौकिक क्रीड़त नित नव साज॥

['ब्रज की रास–लीला' का तृतीय 'साहित्य खण्ड' समाप्त]

परिशिष्ट (१)

रासमंच पर प्रदर्शित की जाने वाली लीलाएँ

लीलाओं के प्रकार और आधार—ब्रज के रासधारियों द्वारा रास की बहुसंख्यक लीलाओं के अभिनयात्मक प्रदर्शन रासमंच पर किये जाते हैं। ये मंचीय प्रदर्शन श्रीकृष्ण की शैशवकालीन अद्‌भुत लीलाओं, राधाजी एवं गोपियों के साथ उनकी बाल्यकाल की सरस केलि–क्रीड़ाओं और कंसादि दुष्टों के वध विषयक उनकी किशोरावस्था के अलौकिक कृत्यों से सम्बन्धित होते हैं। इन सबका प्रमुख आधार श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण कथानक है। इसके साथ सूरदासादि भक्त–कवियों के लीलात्मक पदों, 'राग–रत्नाकर' में संकलित गेय रचनाओं, विजय सखी कृत रास की कतिपय लीलाओं और ब्रजवासी दास कृत 'ब्रज–विलास', चाचा वृन्दावनदास कृत 'रास छद्म विनोद' तथा नारायण स्वामी कृत 'ब्रज–विहार' में वर्णित विविध लीलाओं का भी उपयोग किया जाता है।

लीलाओं की संख्या—रासधारियों द्वारा प्रदर्शित लीलाओं की कुल संख्या कितनी है; इसका निश्चय करना बड़ा कठिन है। कारण यह है कि सभी रासमण्डलियाँ पृथक्–पृथक् लीलाओं का प्रदर्शन करती हैं। उनकी आधारभूत जो लीलाएँ हैं, वे विजय सखी कृत १४, ब्रजवासीदास कृत ६०, चाचा वृन्दावनदास कृत ४१ और नारायण स्वामी कृत ४३ की संख्या में हैं। रासधारियों ने इन सबमें नाटकीय तकनीक और अपनी अभिनयात्मक कला एवं कल्पना का समावेश कर बहुसंख्यक लीलाएँ तैयार कर ली हैं, जिन्हें वे पैतृक परम्परा से प्रस्तुत करते आ रहे हैं। उनकी आधारभूत लीलाओं की सूची परिशिष्ट (२) में दी गई हैं।

येल विश्वविद्यालय (अमरीका) के प्रो० नारविन हाइन ने मथुरा मण्डल में महीनों रहकर वहाँ के सभी नाट्य–रूपों का

अनुसन्धान किया था। उसी समय उन्होंने ब्रज के विभिन्न स्थानों में प्रदर्शित रास सम्बन्धी लीलाओं को भी शोधात्मक दृष्टिकोण से देखा था। इन सबके आधार पर उन्होंने अपना शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत किया, जिसका शीर्षक है–'दि मिरेकिल प्लेज ऑफ मथुरा'। इस प्रबन्ध के दो भाग हैं। प्रथम भाग का शीर्षक है–'मथुरा के क्षेत्रीय नाटक', जिसमें विशेष रूप से 'रामलीला' का अनुसन्धानपरक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दूसरा भाग 'रासलीला' से सम्बन्धित है। इसमें 'रासलीला' विषयक विभिन्न विषयों का विशद् विवेचन किया गया है। इसके साथ रासधारियों द्वारा प्रदर्शित १०६ रास सम्बन्धी लीलाओं की सूची भी दी गई है, जो प्रो० हाइन के शोध–प्रबन्ध (पृष्ठ १६५–१७८) में प्रकाशित हुई है। इस सूची को हमने परिशिष्ट (३) में दिया है।

प्रमुख लीलाएँ–इस समय रास–मंच पर जिन लीलाओं का प्रमुख रूप से प्रदर्शन किया जाता है, वे हैं–**१. श्रीकृष्ण की जन्म–लीला, २. नंदोत्सव, ३. पूतना–वध लीला, ४. महादेव–लीला, ५. चन्द्र–दर्शन, ६. माखन–चोरी, ७. ऊखल–बन्धन, ८. हाऊ–लीला, ९. चीर–हरण, १०. पनघट–लीला, ११. दान–लीला, १२. गो–चारण, १३. कालिय–दमन, १४. गोवर्धन–धारण, १५. राधा–जन्म, १६. गुड़िया–लीला, १७. साँझी–लीला, १८. प्रथमानुराग, १९. प्रेम–परीक्षा, २०. चन्द्रावलि–लीला, २१. श्याम–सगाई, २२. विवाह–लीला, २३. कामदेव–मद–मर्दन, २४. वंशी–लीला, २५. महारास, २६. मथुरा–गमन, २७. धोबी–वध, २८. कुब्जानुग्रह, २९. कंस वध, ३०. उद्धव–लीला और ३१. सुदामा–लीला।**

इधर कुछ समय से कतिपय रास–मण्डलियाँ परम्परागत कृष्ण–लीलाओं के अतिरिक्त नवीन भक्त–लीलाएँ भी प्रदर्शित करने लगी हैं। ये लीलाएँ श्रीचैतन्यदेवजी, श्रीवल्लभाचार्यजी, श्रीहित हरिवंशजी और भक्तराज सूरदासजी के पावन चरित्रों पर आधारित

हैं। इन लीलाओं का प्रदर्शन करते समय रासधारियों को साम्प्रदायिक मान्यताओं और उपस्थित दर्शकों की भावनाओं का ध्यान रखना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ वल्लभ सम्प्रदायियों के समक्ष ब्रज–लीलाएँ, राधावल्लभियों एवं हरिदासियों के समक्ष निकुंज लीलाएँ, निम्बार्कियों के समक्ष संयोगात्मक लीलाएँ तथा चैतन्य सम्प्रदायियों के समक्ष वियोगात्मक लीलाएँ प्रमुख रूप से प्रदर्शित की जाती हैं।

लीलाओं के अवसर और स्थान–रास सम्बन्धी समस्त लीलाओं के प्रदर्शन विविध अवसरों पर, ब्रज के विभिन्न स्थानों में हुआ करते हैं। सामान्यतया श्रावण–भाद्रपद तथा होली–दीवाली के अवसरों पर जब ब्रज के मन्दिरों में अनेक उत्सव एवं धार्मिक समारोह होते हैं, तब वहाँ प्रतिदिन रासलीलाएँ भी होती हैं। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण तथा राधाजी के जन्मोत्सवों पर और श्री चैतन्यदेव जी, श्री निम्बार्काचार्यजी, स्वामी हरिदासजी एवं श्रीहित हरिवंशजी की जन्म–तिथियों पर विशेष रूप से रासलीलाओं का आयोजन किया जाता है। वृन्दावन के कुछ मन्दिरों एवं आश्रमों आदि में तो प्रतिदिन ही नियमित रूप से रासलीलाएँ हुआ करती हैं।

भाद्रपद और आश्विन के महीनों में प्रतिवर्ष ब्रज चौरासी कोस की यात्राएँ की जाती हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यात्रा का आयोजन वल्लभ सम्प्रदाय के गोस्वामियों द्वारा होता है। इसे 'बड़ी यात्रा' कहते हैं, जो प्रायः ४० दिनों में पूरी होती है। इसमें प्रतिदिन जहाँ यात्रा का पड़ाव होता है, वहाँ उसके धार्मिक महत्त्व के अनुरूप रासलीला की विभिन्न झाँकियों के प्रदर्शन किये जाते हैं। जिन स्थानों पर जो लीलाएँ प्रदर्शित की जाती हैं, उनकी सूची परिशिष्ट (४) में दी गई है।

ब्रज की रासलीलाओं का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है। देश के विभिन्न राज्यों में जो बहुसंख्यक नृत्य–नाट्य सम्बन्धी समारोह होते हैं, उन पर रासलीलाओं का प्रभाव देखा जा सकता है। इन समारोहों का परिचयात्मक विवरण परिशिष्ट (५) में दिया गया है।

परिशिष्ट (२)

मंचीय लीलाओं की सूची

रासमंच पर विभिन्न अवसरों के उपलक्ष्य में जिन लीलाओं का प्रदर्शन किया जाता है; उनकी सूचियाँ उनके रचयिताओं के नामोल्लेख सहित क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. विजय सखी—(सं० १७०० से सं० १७८० के लगभग) कृत १४ लीलाओं की जो सूची 'रास सर्वस्व' के अन्तिम नवम् परिच्छेद में दी गई है, उसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

१. विदुषी–लीला, २. अद्भुत रास–लीला, ३. दिवारी–लीला, ४. साँझी–लीला, ५. राजवैद्य–लीला, ६. सिद्धेश्वरी–लीला, ७. गोपाष्टमी–लीला, ८. आँखमिचौनी–लीला, ९. अनुभवजनित–लीला, १०. धनतेरस–लीला, ११. वंशी–प्रस्ताव–लीला, १२. दान–प्रस्ताव–लीला, १३. व्यासजी के पद की लीला और १४. द्वितीय धनतेरस– लीला।

२. ब्रजवासी दास—(सं० १७६०–सं० १८२०) कृत 'ब्रज विलास' में ६० लीलाओं का कथन किया गया है। उन लीलाओं की सूची इस प्रकार है—

१. पूतना–वध, २. कागासुर–लीला, ३. तृणावर्त–लीला, ४. अन्नप्राशन, ५. नामकरण, ६. वर्षगाँठ, ७. ब्राह्मण–लीला, ८. कर्णछेदन, ९. माटी–भक्षण, १०. शालिग्राम–लीला, ११. दान–लीला, १२. माखन–चोरी, १३. दांबरी बंधन, १४. वृंदावन–गमन, १५. वत्सासुर–वध, १६. धेनु–दुहुन, १७. मोती–पोवन–लीला, १८. बकासुर–वध, १९. चकई–भौंरा खेलन, २०. राधा प्रथम–मिलन, २१. अघासुर–वध, २२. ब्रह्मा–मोह, २३. गोदोहन, २४. धेनुक वध, २५. कालीय–दमन, २६. दावानल–पान, २७. प्रलम्बासुर–वध, २८. पनघट–लीला, २९. चीरहरण–लीला, ३०. गोवर्धन–लीला,

३१. वरुण द्वारा नन्द–हरण, ३२. वैकुण्ठ–दर्शन, ३३. दान–लीला, ३४. गोपी–प्रेम, ३५. स्नान–लीला, ३६. बाट में मिलन, ३७. संकेत मिलन, ३८. प्यारी के घर मिलन, ३९. नैन–अनुराग, ४०. मुरली–वादन, ४१. रास–लीला, ४२. अन्तर्धान–लीला, ४३. महामंगल–रास, ४४. मान–लीला, ४५. हिंडोरा–लीला, ४६. फागुन–होरी, ४७. सुदर्शन–शाप–मोचन, ४८. शंखचूड़ वध, ४९. बृषभासुर–वध, ५०. केशी–वध, ५१. व्योमासुर–वध, ५२. मथुरा–गमन, ५३. रजक–वध, ५४. मल्ल युद्ध, ५५. कंस–वध, ५६. वसुदेव गृह–उत्सव, ५७. कुब्जा गृह–गमन, ५८. नन्द–विदा, ५९. यज्ञोपवीत, ६०. उद्धव–गोपी संवाद।

३. चाचा वृन्दावनदास–(सं० १७६५–सं० १८५०) कृत 'छद्म लीलाओं' की संख्या ६० है। इनका नामोल्लेख 'हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ १०२ में किया गया है वे लीलाएँ इस प्रकार हैं–

१. गौनेवारी–लीला, २. चितेरिन–लीला, ३. सुनारिन–लीला, ४. मनिहारी–लीला, ५. मालिन–लीला, ६. बिसातिन–लीला, ७. पटविन–लीला, ८. रंगरेजिन–लीला, ९. तमोलिन–लीला, १०. नाइन–लीला, ११. वैद्यनि–लीला, १२. मैनावारी–चोरी, १३. नटविन–लीला, १४. ढाढिन–लीला, १५. वीणावारी–लीला, १६. गंधिनं–लीला, १७. ब्रह्मचारी–लीला, १८. प्रथम जोगी–लीला, १९. द्वितीय जोगी–लीला, २०. तृतीय जोगी–लीला, २१. चतुर्थ जोगी–लीला, २२. पंचम जोगी–लीला, २३. षष्ठ जोगी–लीला, २४. मौनी जोगी–लीला, २५. बनजारिन–लीला, २६. साँवरी सहेली–लीला, २७. नेही साँवरी–लीला, २८. नारद–लीला, २९. ब्रह्मा–लीला, ३०. महादेव लीला, ३१. शिवजोगी–लीला, ३२. जोगीश्वर–लीला, ३३. श्यामा सहचरी साँझी, ३४. राधादासी साँझी–लीला, ३५. सुंदरश्याम लीला, ३६. साँवरी साथिन–लीला, ३७. हित सन्धि साँझी–लीला,

३८. श्री प्रियाजी की रूप भुराई–लीला, ३९. श्री प्रिय रूप–गर्व–लीला, ४०. होरी–लीला और, ४१. विवाह–लीला।

४. नारायण स्वामी–(सं० १८८५–सं० १९५७) कृत 'ब्रज विहार' में ४३ लीलाओं का उल्लेख है। वे लीलाएँ इस प्रकार हैं–

१. नन्दोत्सव और कृष्ण–जन्म की बधाई, २. श्री वृषभानोत्सव, ३. बाल–लीला, ४. महादेव–लीला, ५. यमलार्जुन–लीला, ६. माखन–चोरी–लीला, ७. पनघट–लीला, ८. मग–रोकन, ९. उराहनौ, १०. मनिहारिन, ११. गोरे ग्वाल, १२. मुदरिया, १३. मालिन, १४. अनुराग, १५. बिसातिन, १६. मान, १७. खंडिता भाव, १८. बैनी गूँथन, १९. ब्रह्मचारी, २०. खेवट, २१. वंशी, २२. वंशीवट, २३. अवधूतिन, २४. प्रीति–परीक्षा, २५. चंद्रावलि, २६. गेंद–लीला, २७. चीर–लीला, २८. श्यामसखी–लीला, २९. नाग–लीला, ३०. हिंडोरा, ३१. साँझी, ३२. भतरौड, ३३. गोवर्धन, ३४. होरी–लीला, ३५. दधि–लीला, ३६. दान–लीला, ३७. वेणु–गीत, ३८. पूर्णमासी–लीला, ३९. वैद्य–लीला, ४०. कंस–लीला, ४१. धनुष–भंजन–लीला, ४२. कुवलिया–वध, ४३. उद्धव–लीला।

परिशिष्ट (3)

प्रो० हाइन द्वारा उल्लिखित लीलाओं की सूची

प्रो० नार्विन हाइन के शोध प्रबन्ध 'दि मिरेकिल प्लेज आफ मथुरा' (मथुरा के चमत्कारिक नाटक), पृष्ठ १६५–१७० में रास सम्बन्धी १०६ लीलाओं का उल्लेख हुआ है। उन लीलाओं की अकारादि क्रम से सूची इस प्रकार है–

१. अघासुर वध लीला, २. अन्तर्धान लीला, ३. अन्नप्राशन लीला, ४. अरिष्टासुर वध लीला, ५. आँखमिचौनी लीला, ६. ऊखल

बन्धन लीला, ७. उद्धव लीला, ८. कंस वध लीला, ९. कामदेव मर्दन लीला, १०. कालिय मर्दन लीला, ११. कुब्जा कृतार्थ लीला, १२. केशीदानव वध लीला, १३. क्षीरसागर लीला, १४. गंधिन लीला, १५. गुड़िया लीला, १६. गुणीजन लीला, १७. गोचारण लीला, १८. गोप देवी लीला, १९. गोमय श्रृंगार लीला, २०. गोरे ग्वाल लीला, २१. गोवर्धन लीला, २२. गौने वारी लीला, २३. चंदा लीला, २४. चंद्रावलि लीला, २५. छाक लीला, २६. चितेरिन लीला, २७. चीरहरण लीला, २८. चौसर लीला, २९. जमुना लीला, ३०. जोगिन लीला (१), ३१. जोगिन लीला (२), ३२. जोगिनी लीला (३), ३३. जोगिनी लीला (४), ३४. ढाँढ़िन लीला, ३५. तमोलिन लीला, ३६. तीर्थ–दर्शन लीला, ३७. दधिकांदौ लीला, ३८. दान लीला, ३९. दावानल, संकर्षण लीला, ४०. दुर्वासा लीला, ४१. धेनकासुर उद्धार लीला, ४२. धोबी मारण लीला, ४३. नटविन लीला, ४४. नंदोत्सव लीला, ४५. नाइन लीला, ४६. नामकरण लीला, ४७. नारद लीला, ४८. निकुंज हिंडोल लीला, ४९. नौका लीला, ५०. पटविन लीला, ५१. पनघट लीला, ५२. पाडैं लीला, ५३. पूतना–वध लीला, ५४. प्रथमानुराग लीला, ५५. प्रलम्बासुर वध लीला, ५६. प्रेम परीक्षा लीला, ५७. प्रेम संपुट लीला, ५८. बंजारा लीला, ५९. वंशी लीला, ६०. बहुला लीला, ६१. केश संभारन लीला, ६२. बिसातिन लीला, ६३. बीन वारी लीला, ६४. ब्रजयात्रा लीला, ६५. ब्रह्मा लीला, ६६. ब्रह्मचारी लीला, ६७ ब्रह्मा व्यामोह लीला, ६८. भंवरा वारी लीला, ६९. मणिखंभ लीला, ७०. मथुरा–गमन लीला, ७१. मथुरा प्रवेश लीला, ७२. मनिहारिन लीला, ७३. मल्ल लीला, ७४. महादेव लीला, ७५. महारास लीला, ७६. मान लीला, ७७. मोचन लीला, ७८. माखन चोरी लीला, ७९. मालिन लीला, ८०. मुदरिया चोरी लीला, ८१. मृत्तिकाभक्षण लीला, ८२. मैंनावारी लीला, ८३. मौनी जोगी लीला, ८४. युगल खंभ लीला,

८५. रंगरेजिन लीला, ८६. राजदान लीला, ८७. रासविहार लीला, ८८. लोहासुर वध लीला, ८९. वरुणालय लीला, ९०. विदुषी लीला, ९१. विवाह लीला, ९२. वैद्य लीला, ९३. व्योमासुर वध लीला, ९४. सकटासुर उद्धार लीला, ९५. शान्तनु लीला, ९६. शिव जोगी लीला, ९७. श्याम सगाई लीला, ९८. सुदामा लीला, ९९. संगम लीला, १००. सांवरी लीला, १०१. साँझी लीला, १०२. सालिग्राम लीला, १०३. सिद्धेश्वरी लीला, १०४. सुदर्शन वध लीला, १०५. सुनारिन लीला, १०६. स्वप्न लीला।

परिशिष्ट (४)

ब्रजयात्रा के मुकामों पर प्रदर्शित की जाने वाली रास-लीलाएँ

	स्थान	लीलाएँ
	मथुरा	श्रीकृष्ण जन्म-लीला
	(यात्रा का प्रारम्भ)	मधुकैटभ वध लीला
१.	मधुवन	गोचारण लीला
	तालवन	धेनुक लीला
	कुमुदवन	छाक लीला
२.	शांतनुकुंड (सतोहा)	शान्तनु लीला
३.	बहुलावन	बहुला गाय लीला
४.	कुसुम सरोवर (गोवर्धन)	साँझी लीला
५.	चन्द्र सरोवर (परासोली)	महारास
६.	जतीपुरा	गोवर्धन लीला
	श्याम ढाक	छाक लीला
	दान घाटी	बड़ी दान लीला
	गुलाल कुण्ड	होरी लीला

७.	डीग	वैद्य लीला
८.	परमदरा घाटा	सुदामा लीला
९.	कामवन	कामदेव–मद–मर्दनलीला
	आदि वदरी	तीर्थ–दर्शन लीला या ब्रह्मचारी लीला
	लुकलुक गुफा	आँखमिचौनी लीला
	व्योमासुर गुफा	व्योमासुर–वध लीला
	भोजन थारी	छाक लीला
१०.	बरसाना	श्यामसगाई, गुड़िया
	मोरकुटी	मोरलीला
	दानगढ़–साँकरीखोर	दान लीला
	मानगढ़	मान लीला
११.	संकेत	विवाह लीला
१२.	प्रेमसरोवर	नौका लीला
१३.	नंदगाँव	चन्द्रावलि लीला
	टेर कदम्ब	गोचारण लीला
	बूढ़े बाबू	महादेव लीला
	हाऊ–बिलाऊ	हाऊ लीला
	उद्धव क्यारी	उद्धव लीला
१४.	कोकिलावन	पनघट लीला
	बठैन	होरी लीला
१५.	कोटवन	शंखचूड़ वध लीला
१६.	शेषशायी	क्षीरसागर लीला
१७.	पैगाव	पूतना–वध लीला
१८.	शेरगढ़	द्विजपत्नी व्रत लीला
१९.	चीरघाट	चीरहरण लीला
२०.	बच्छवन	ब्रह्मा मोहहरण लीला
२१.	वृन्दावन	कालीयदमन लीला

वंशीवट	दान लीला
२२. लोहवन	लोहासुर–वध लीला
२३. बलदेव	मुदरिया लीला
ब्रह्माण्डघाट	मृत्तिका–भक्षण लीला
२४. गोकुल	पूतना–वध, यमलार्जुन भंजन
२५. मथुरा (वापस आने पर)	कंस–वध लीला

परिशिष्ट (५)

रास से प्रभावित भारत के विविध नृत्य–नाट्य

भारत के विभिन्न राज्यों में नृत्य–नाट्य के जो अनेक कला–रूप प्रचलित हैं, उनमें से अधिकांश ब्रज के रास की भावना के अनुकूल अथवा उससे प्रभावित हैं। इसका एक बड़ा कारण यह है कि इन सभी कला–रूपों का मूल स्रोत श्रीमद्‌भागवत दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण–लीलाएँ, विशेष रूप से रास–पंचाध्यायी का कथन है। इन नृत्य–नाट्य में पश्चिमी भारत के गुजरात राज्य में प्रचलित 'गुजराती रास' एवं 'गरवा नृत्य', राजस्थान का 'डाँडिया नृत्य' पूर्वी भारत स्थित असम राज्य का'अंकिया नाट', मणिपुर राज्य का 'मणिपुरी रास', बंगाल–उड़ीसा राज्यों का 'जात्रा' नाटक, धुर दक्षिण के केरल राज्य का 'कृष्णाट्टम' और उत्तर प्रदेश का 'कत्थक नृत्य' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्हें भारत के पारम्परिक रंगमंच के प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यहाँ पर इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

१. गुजराती रास एवं गरवा नृत्य—ब्रज से गुजरात का अत्यन्त प्राचीन एवं घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। ब्रज में श्रीकृष्ण का जन्म

हुआ और उनके आरम्भिक जीवन की लीलाएँ हुई थीं; तो गुजरात के सौराष्ट्र प्रदेश में उनका शेष जीवन बीता था। श्रीकृष्ण की पौत्र वधू उषा ने लास्य नृत्य के आधार पर रास को सौराष्ट्र में ही व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। श्रीकृष्ण के वंशजों और उनके उपासकों के कारण ब्रज एवं गुजरात का सदैव घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा था। जब ब्रज के धर्माचार्यों ने रास का पुनरुद्धार किया था, तब गुजरात ने उसका अनुकरण करने में पहल की थी। वहाँ के सुप्रसिद्ध भक्त–कवि नरसी मेहता ने अपनी रचनाओं द्वारा गुजराती रास को संपुष्ट किया। नरसी मेहता से लेकर दयाराम तक बहुसंख्यक भक्त कवियों ने कई शताब्दियों तक रास के प्रचार–प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया था। गुजराती रास का एक लोकधर्मी रूप 'गरवा नृत्य' है। यहाँ पर इन दोनों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

गुजराती रास—गुजरात के भक्त कवि नरसी मेहता (सं० १४७०–सं० १५३६) गुजराती साहित्य के आरम्भिक कवि होने के साथ–ही–साथ गुजराती रास के भी प्रवर्त्तक थे। यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि उन्होंने ब्रजमंडल की यात्रा की थी। वे यहाँ की कृष्णोपासाना और भागवत में वर्णित रास की लीला–भावना से बड़े प्रभावित हुए थे। उन्होंने यहाँ प्रत्यक्ष रास का आयोजन तो नहीं देखा था; किन्तु नाभाजी कृत 'भक्तमाल' (छप्पय सं० १०८) पर प्रियादास कृत 'भक्तिरस बोधिनी' टीका (कवित्त सं० ४३२) के अनुसार उन्हें 'दिव्य वृन्दावन' में श्रीराधा–कृष्ण के नित्य रास के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ब्रज–यात्रा से वापस जाने पर उन्होंने ब्रज की लीला–भावना और श्रीमद्भागवत की 'रास पंचाध्यायी' के आधार पर गुजरात में रास के प्रचार की प्रारम्भिक भूमिका प्रस्तुत की थी। उन्होंने रास सम्बन्धी अनेक पदों की भी रचना की थी; जो 'रास सहस्त्रपदी' नामक ग्रन्थ में संकलित हैं।

नरसी मेहता के पश्चात् गुजरात के पुराने रासलीलाकारों में

केशवदास और वासणदास के नाम उल्लेखनीय हैं। केशवदास कृत 'श्रीकृष्ण–लीला काव्य' में भागवत की 'रास पंचाध्यायी' के आधार पर रास का सरस कथन किया गया है। वासणदास कृत 'कृष्ण–राधा वृन्दावन–रास' भी रास–सम्बन्धी अच्छी रचना है। गुजरात के परवर्ती भक्त–कवियों में दयाराम भाई का नाम प्रसिद्ध है। उनकी बहुसंख्यक रचनाओं में रासलीला का भी विशद् वर्णन किया गया है। उनके द्वारा रची हुई रास सम्बन्धी लीलाओं का गुजरात में बड़ा प्रचार है। गुजराती रासलीला में दयाराम भाई की रचनाओं का प्रचुरता से उपयोग किया जाता है।

गरवा नृत्य—गुजराती–रास का लोकधर्मी रूप सौराष्ट्र का सुप्रसिद्ध 'गरवा नृत्य' है। इसे गुजराती महिलाएँ हाथों की तालियाँ अथवा छोटे दण्डों को बजाती और लोक–गीतों के मधुर गायन के साथ वृत्ताकार घूमती हुई प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार यह लोक–नृत्य प्राचीन ताल–दण्ड–मण्डल रास की परम्परा में प्रचलित हुआ जान पड़ता है। इस नृत्य का आयोजन फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की चाँदनी रातों में अथवा चैत्र की नवरात्रियों में विशेष रूप से किया जाता है।

२. राजस्थान का डांडिया नृत्य—राजस्थान ब्रज का निकटवर्ती राज्य है। इसलिए वहाँ का सांस्कृतिक जीवन ब्रज से बहुत प्रभावित रहा है। यहाँ के अनेक क्षेत्रीय लोकनृत्य ब्रज के रास से अनुप्राणित हैं। इस राज्य के मारवाड़ प्रदेश में एक 'डांडिया' या 'डाँडिया' नृत्य प्रचलित है। इसे बीस–पच्चीस पुरुषों की एक टोली वर्तुलाकार नाचती हुई प्रस्तुत करती है। 'नाना प्रकार के वेषों से सज्जित नर्तकगण दोनों हाथों में लम्बी–लम्बी छड़ियाँ लेकर नाचते हैं। दण्डों अथवा छड़ियों को बजाकर क्रमबद्ध ध्वनि उत्पन्न की जाती है। हाथों में धारण किया हुआ दण्ड कभी तो विपरीत दिशा–स्थित व्यक्तियों के दण्डों से पृथक् बजता है; कभी–कभी एक साथ ही एक

व्यक्ति दोनों हाथों के दण्डों का वाम दिशा के नर्तक से तथा पुनः दक्षिण दिशा के नर्तक से उनके दण्डों को मिलाकर ध्वनि करता है।[1] यह लोक–नृत्य भी प्राचीन दण्ड–रास की परम्परा का प्रतिनिधि है।

३. असम का अंकिया नाट—इस नाट्य–रूप का प्रवर्त्तन एवं प्रचार भारत के पूर्वी राज्य असम में शंकरदेव (सं० १५०६–सं० १६२६) और उनके यशस्वी शिष्य माधवदेव (सं० १५४६–सं० १६५३) नामक भक्तजनों ने किया था। शंकरदेव ने भगवद्गीता एवं पुराणादि धर्म–ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया था और उत्तर भारत के अनेक तीर्थों की कई वर्षों तक यात्रा की थी। तीर्थयात्रा से लौटने पर उन्होंने असम राज्य में वैष्णव भक्ति और कृष्णोपासना को व्यवस्थित रूप में प्रचारित करने के लिए 'शरणिया' नामक भक्ति–सम्प्रदाय की स्थापना की थी। उन्होंने विविध स्थानों में 'सत्रों' की व्यवस्था की थी। वे सत्र उनके धार्मिक मठ थे, जहाँ भगवत्–विग्रह के स्थान पर श्रीमद्भागवत का पूजन–अर्चन होता था और उसी के माध्यम से श्रीकृष्ण की उपासना की जाती थी।

शंकरदेव ने अपने भक्ति–सम्प्रदाय को रोचक रूप में जनता में प्रचारित करने के लिए 'अंकिया नाट' नामक नाट्य–रूपों की रचना की थी, जिनका अभिनय सत्रों में किया जाता था। उनके रचे हुए उक्त अंकिया नाट्यों के नाम इस प्रकार हैं—१. कालिय दमन, २. केलि गोपाल, ३. रुक्मिणी–हरण, ४. पारिजात–हरण, ५. पत्नी– प्रताप, ६. राम–विजय आदि। इनका आधार श्रीमद्भागवत की कृष्ण लीलाएँ एवं अन्य प्रसंग हैं। श्रीकृष्ण द्वारा 'रास' को प्रारम्भ करने का कथन ठीक उसी प्रकार का है, जैसा भागवत की 'रास पंचाध्यायी' में है।

अंकिया नाटों में जहाँ गीतादि काव्य में हैं, वहाँ पात्रों का

---

१. प्रेरक साधक अभिनन्दन ग्रन्थ (पृष्ठ ३५२–३६२) के 'रासलीला' (श्याम परमार) लेख का कुछ अंश।

कथोपकथन गद्य में कराया गया है। असमी में गीतों (पदों) को 'वरगीत' कहा जाता है। वे कीर्तन की शास्त्रोक्त पद्धति के हैं और विभिन्न रागों में निबद्ध हैं। इनकी भाषा 'ब्रजबुली' है, जो उस काल में असम, मणिपुर, बंगाल, ओड़िसा आदि पूर्वी राज्यों में कृष्ण-भक्तिपरक रचनाओं की सामान्य काव्य-भाषा हो गयी थी। भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'ब्रजबुलि' को असमी, बांगला, मैथिली और ब्रजभाषा का मिश्रित रूप माना गया है। शंकरदेव के 'अंकिया नाट' ब्रज की रासलीला से प्रभावित हैं या नहीं; यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त है। कारण यह है कि ब्रज की रासलीला के पुनरुद्धार का काल शंकरदेव के आविर्भाव के पश्चात् का माना गया है। शंकरदेव दीर्घजीवी हुए थे; वे सं० १६२६ तक विद्यमान थे। इसलिए उनके आरम्भिक जीवन में तो नहीं, किन्तु उत्तर जीवन में ब्रज में रास के पुनरुद्धार का आयोजन एवं प्रचलन हो गया था। उसके लिए ब्रज में सूरदास आदि अष्टछाप कीर्तनकारों तथा हित हरिवंश एवं स्वामी हरिदास आदि भक्त गायकों द्वारा रास के बहुसंख्यक पद रचे जा चुके थे। इसलिए शंकरदेव के अंकिया नाट ब्रज की रासलीला के प्रभाव से सर्वथा अछूते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। ब्रज की भक्ति-भावना और ब्रजभाषा का प्रभाव तो उन पर स्पष्ट ही है।

शंकरदेव के प्रमुख शिष्य माधवदेव परम भक्त और सुशिक्षित धार्मिक महापुरुष थे। उन्होंने भक्ति-शास्त्रों एवं पुराणादि का गहन अध्ययन किया था। वे श्रीमद्भागवत के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने शंकरदेव की तरह अंकिया नाट, वरगीत और काव्यादि की प्रचुर परिमाण में रचना की थी। शंकरदेव के आराध्य किशोर कृष्ण थे, किन्तु माधवदेव का आकर्षण बालकृष्ण के प्रति अधिक था। उनकी रचनाओं में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का कथन किया गया है। उनके रचे हुए कई अंकिया नाट, बहुसंख्यक वरगीत और कई काव्य-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनकी तत्त्वमूलक रचनाओं की भाषा असमी

और कृष्ण–भक्ति परक अंकिया नाटों एवं वरगीतों की भाषा ब्रजबुली' है। उनके भाव सूरदास के पदों से मिलते हुए हैं।

माधवदेव के काल में ब्रज की रासलीला का व्यापक प्रचार हो गया था। अतएव उनके काल में रचे हुए अंकिया नाटों पर ब्रज की रासलीला का प्रभाव होना स्वाभाविक है। डॉ० सुरेश अवस्थी ने उन पर ब्रज की रासलीला और संस्कृत की नाट्य परम्परा दोनों का प्रभाव मानते हुए लिखा है–'अंकिया नाटों में गायक–मंडली उसी प्रकार से पात्रों के गेय संवादों का गायन करती है, जिस प्रकार से वृन्दावन की रासलीला में सूत्रधार नाटक का परिचय देकर उसका समारम्भ करता है और वह बराबर अभिनय क्षेत्र में उपस्थित रहता है तथा दृश्यों एवं पात्रों का परिचय देता हुआ कथा के सूत्र जोड़ता चलता है। अंकिया नाट का संगीत बहुत अधिक विकसित है। रासलीला के समान ही छोटी–छोटी झाँकियों जैसे दृश्य प्रस्तुत किये जाते हैं, सूत्रधार वे दृश्य जोड़ता जाता है और कथा–प्रसंग आगे बढ़ाता है। अंकिया नाट में संस्कृत नाट्य परम्परा के भी अनेक तत्त्व और व्यवहार सुरक्षित हैं। नांदी पाठ, नटी और सूत्रधार के संवादों द्वारा पूर्वरंग का विधान और अन्त में भरत–वाक्यम् आदि कितने ही नाट्य–व्यवहार संस्कृत परम्परा से सम्बद्ध हैं।[१]

मणिपुर का मणिपुरी रास–यह नृत्य–नाट्य भारत के पूर्वी राज्य मणिपुर तथा अन्य निकटवर्ती राज्यों में प्रचलित है। इसकी भावना माधुर्य भक्ति प्रधान है और यह ब्रज के रास से बहुत मिलता हुआ है। इसीलिए इसे 'मणिपुरी रास' कहते हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव से पूर्वी भारत में कृष्ण–भक्ति की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई थी, उसी ने इस नृत्य–नाट्य को जन्म दिया था। मणिपुर के कला–प्रेमी और कृष्ण–भक्त महाराज जयसिंह उपनाम

---

१. साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२६ अगस्त १९७३) में प्रकाशित 'कृष्ण–कथा' और भारतीय पारम्परिक रंगमंच, शीर्षक के लेख से।

'भाग्यचन्द्र' इसके प्रवर्तक माने गये हैं। राज्याश्रित होने के कारण इस नृत्य–नाट्य की अच्छी उन्नति हुई थी। इसका अधिक प्रचार १८वीं शती में हुआ था।

मणिपुर में रास के चार प्रकार प्रचलित हैं जिन्हें—१. बसंत रास, २. कुंजरास, ३. महारास और ४. नित्यरास कहते हैं। 'बसंत–रास वैशाख' मास में किया जाता है, जिसमें राधा के समक्ष कृष्ण का आत्म–समर्पण होता है। कुंज–रास आश्विन मास में होता है, जिसमें राधा और कृष्ण के संयोग शृंगार–नृत्य के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। महारास कार्तिक मास में होता है, जिसमें कृष्ण और राधिका का विरह–नाट्य–नर्तन होता है। नित्य–रास विरह और मिलन की लीलाओं का अद्वितीय प्रदर्शक है, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों का चरमोत्कर्ष है।[१]

इस नृत्य–नाट्य का प्रचलन मणिपुर के अतिरिक्त असम और उसके निकटवर्ती राज्यों के साथ–साथ बंगाल में भी है। इसे ब्रज के रास की भाँति ही मण्डलाकार रूप में प्रदर्शित किया जाता है। इसके पाद–विक्षेप, भ्रू–संचालन, हस्त मुद्राएँ और अंगहार सभी रास की तरह ही लास्य की सुकुमार शैली पर आधारित हैं। इसमें भावों के प्रदर्शन के लिए कतिपय मुद्राएँ और संकेतों का सहारा लिया जाता है। इसके पात्र अधिकतर सुशिक्षित लड़कियाँ होती हैं, केवल कृष्ण का अभिनय एक प्रशिक्षित छोटा बालक करता है। विविध रंगों के वस्त्र, आकर्षक वेश–भूषा और शृंगार, मोहक संगीत तथा सूक्ष्म भाव–व्यंजना इस नृत्य–नाट्य की विशेषताएँ हैं।

बंगाल-ओड़िसा का जात्रा नाटक—बंगाल–ओड़िसा में १५वीं–१६वीं शताब्दियों में 'जात्रा' नामक एक नृत्य–गानपरक नाट्य रूप का प्रचलन था। इसका 'जात्रा' नाम इसलिए पड़ा कि

---

१. रासलीला : एक परिचय (पृष्ठ २३)। इसका विशेष विवरण 'सम्मेलन पत्रिका' के कला–विशेषांक, पृष्ठ ३२८ के लेख में है।

इनका उद्भव धार्मिक यात्राओं में भक्तिपरक नृत्य–गान करने से हुआ था। फिर इसे चलती–फिरती यात्राओं के साथ–ही–साथ स्थायी रंग–मंच पर भी प्रस्तुत किया जाने लगा। चैतन्य महाप्रभु के जन्म से पहले वहाँ पर 'चंडी जात्रा' प्रचलित थी। चैतन्यजी ने कृष्ण–भक्ति के साधन रूप में 'कृष्ण जात्रा' का प्रचलन किया था। इस प्रकार के आयोजन में स्वयं भी सक्रिय भाग लेते थे। उनके जीवन वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि उन्होंने ऐसी ही एक 'जात्रा' में महालक्ष्मी का वेष धारण कर नृत्य एवं अभिनय किया था।[१]

उन जात्राओं में नृत्य–गान के द्वारा श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का अभिनय किया जाता था। इस प्रकार वे ब्रज की रास–लीलाओं के सदृश थीं। उनमें जयदेव कृत संस्कृत 'गीत गोविंद', चंडीदास कृत बंगला 'श्रीकृष्ण कीर्तन' और विद्यापति की हिन्दी (मैथिली) रचनाओं के पदों का गान होता था। पात्रों के कथोपकथन गीतों के माध्यम से होते थे। धीरे–धीरे उनमें गद्यात्मक संवादों का समावेश हो गया। तब वे लोक–नाट्य के रूप में रंगमंच पर अभिनीत किये जाने लगे। बंगाल ओड़िया की कृष्ण भक्ति और नाट्य–परम्परा के विकास में इन जात्राओं ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। जयदेव–चंडीदास से लेकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने इनके लिए गीतों को रचा है।

6. केरल का कृष्णाट्टम् एवं कथकलि नृत्य–भारत के धुर दक्षिण में इस नृत्य–नाट्य का विकास १७वीं शती के अन्त में हुआ था। इसका प्रदर्शन एर्नाकुलम के कृष्ण मन्दिर युरुवायूर में होता रहा है। इधर कुछ समय से देश के प्रमुख नगरों में भी इसका प्रदर्शन किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण की जो लीलाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। उनमें मुख्य हैं—अवतार, कालियदमन, रासक्रीड़ा, कंस वध, रुक्मिणी–स्वयंवर और स्वर्गारोहण। यह नृत्य–नाट्य दक्षिण के

---

१. वृन्दावनदास कृत 'चैतन्य भागवत', मध्य खण्ड, १८वाँ अध्याय।

सुप्रसिद्ध कथकलि नृत्य का पुराना रूप है। अतएव इसके पात्रों की मुख सज्जा एवं मुद्राएँ तथा इसका रूप विधान कथकलि की अपेक्षा सरल और स्वाभाविक है।

७. उत्तर भारत का नटवरी कत्थक नृत्य—इस नृत्य शैली को 'कथक' भी कहते हैं। इसके 'कत्थक' अथवा 'कथक' नाम किस प्रकार और किस काल में पड़े, इसे निश्चित रूप में बतलाना सम्भव नहीं है। साधारणतया 'कथक' का अर्थ कथाकार अर्थात् कथा कहने वाला होता है; किन्तु ब्रह्मपुराण में अभिनेता, गायक एवं नर्त्तक के लिए भी कथक शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐसा मालूम होता है, किसी काल में कथावाचकगण श्रीकृष्ण की लीलाओं का नृत्य और नाट्य द्वारा प्रदर्शन भी किया करते थे, जिससे उनकी कथा जनसाधारण के लिए उपदेशप्रद होने के साथ ही साथ रोचक भी हो जाती थीं। ऐसे कलाकारों को 'कथक' अथवा 'कत्थक' कहा जाने लगा था। मुगल शासन के अन्तिम काल में यह कला निम्न कोटि के नर्तकों, नटों और गणिकाओं में प्रचलित होकर विकृत हो गयी थी। उस समय इसमें मुसलमानी भावों का भी समावेश हो गया था। उन सबके कारण इसके रूप में इतना परिवर्तन हो गया कि यह रास से पृथक् नृत्य माना जाने लगा था।

आधुनिक काल में इस नृत्य के पुनरुद्धार का श्रेय प्रयाग जिला की हँडिया तहसील निवासी प्रगास जी नामक एक ब्राह्मण नृत्यकार को है। वे १९वीं शती के अन्त में विद्यमान थे। उन्होंने रास–नृत्य के आधार पर इसे परिष्कृत करने का प्रयास किया। नटवर श्रीकृष्ण के रास–नृत्य से सम्बन्धित होने के कारण उन्होंने इसे 'नटवरी नृत्य' के नाम से प्रचारित किया था। तभी से यह 'कथक नटवरी नृत्य' कहा जाने लगा। इनके प्रधान विषय भी राधा–कृष्ण की विविध लीलाओं से सम्बन्धित रखे गये। जैसे पनघट, मुरली–वादन, मान, होली आदि। प्रगासजी के पुत्र दुर्गाप्रसादजी

और ठाकुरप्रसादजी लखनऊ के नबाव वाजिदअली शाह के दरबारी नृत्यकार हो गये थे। उनके कारण इस नृत्य शैली का नाम 'लखनऊ घराना' प्रसिद्ध हुआ। दुर्गाप्रसादजी के पुत्र विंदादीन और कालिकादीन कथक–नृत्य के विख्यात कलाकार हुए हैं। उन्होंने अपनी जीवन व्यापी साधना से इस नृत्य शैली को खूब प्रसिद्ध किया था। इस समय कालिकादीनजी के पुत्र लच्छू महाराज और शम्भू महाराज तथा अच्छन महाराज के पुत्र बिरजू महाराज इस नृत्य के विख्यात कलाकार, नृत्य–शिक्षक और प्रचारक हैं। इनके अतिरिक्त उनकी शिष्या दमयन्ती जोशी और प्रताप पँवार भी 'लखनऊ घराने' की देन हैं।

कथक नृत्य–शैली का दूसरा प्रसिद्ध घराना जयपुर का है; जिसकी प्रायः दो सौ वर्ष पुरानी परम्परा है। इस घराने में पहले ताण्डव शैली का नृत्य प्रचलित था। अब से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहले इस घराने के कानजी नामक एक नृत्यकार ने वृन्दावन में आकर रास की लास्य–नृत्य शैली सीखी थी। तब से इस घराने की प्रसिद्धि हुई है। इस समय इस घराने में मोहनलाल, चिरंजीलाल, सुन्दरलाल आदि प्रसिद्ध नृत्यकार हैं।

इस नृत्य शैली का तीसरा घराना बनारस का है, जो प्रसिद्ध नर्तक एवं नृत्य–शिक्षक सुखदेव महाराज के कारण प्रकाश में आया है। सुखदेव महाराज के पौत्र एवं शिष्य नटराज गोपीकृष्ण हैं, जिन्होंने कत्थक नृत्य में बड़ी ख्याति प्राप्त की है। इनकी मौसी अलकनन्दा और बहिन सितारा भी सुप्रसिद्ध नृत्यांगनाएँ हैं। कथक नृत्य के उन्नायक ये सभी घराने आपस में सम्बन्धित भी हैं; अतः इनके नृत्य–रूप में विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी इन घरानों की नृत्य–शैलियों में सूक्ष्म भेद है, जो भाव–प्रदर्शन और लयकारी का है। इन सब में लखनऊ घराना अधिक प्रसिद्ध है।

इन घरानों के वंशजों एवं उनके शिष्यों ने भारत ही नहीं;

विदेशों में भी अपनी कला का प्रदर्शन कर यश एवं धन की प्राप्ति की है और भारत के नाम को उज्ज्वल किया है। गोपीकृष्ण और प्रताप पँवार के अतिरिक्त इस नृत्य की एक साधिका उमा शर्मा हैं। इन्होंने किशोरावस्था से ही नृत्य-कला की शिक्षा प्राप्त की है। उन्हें भरतनाट्यम् की शिक्षा विजयराव से और मणिपुरी नृत्य की शिक्षा जयकुमार सिन्हा से प्राप्त हुई। कत्थक नृत्य इन्होंने शम्भु महाराज और सुन्दर प्रसाद से सीखा है। विविध नृत्य शैलियों में प्रशिक्षण प्राप्त करने के उपरान्त इन्होंने कत्थक को अपना जीवन अर्पित किया है। इन्हें नर्तकी अथवा नृत्यांगना कहलाना पसन्द नहीं है; क्योंकि इनका उद्देश्य अन्य नर्तकियों की भाँति इस कला से धन कमाना नहीं है। ये वस्तुतः नृत्य-साधिका हैं और इसी उद्देश्य को लेकर वे इस कला के विकास में निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं। इन्होंने भारत के विभिन्न राज्यों के अतिरिक्त यूरोप के कई देशों में अपनी कला का प्रदर्शन कर पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। भारत सरकार ने इन्हें सन् १९६१ में 'पद्मश्री' से अलंकृत किया था। सन् १९६७ में इन्होंने रूस में कत्थक-नृत्य के प्रदर्शन द्वारा वहाँ धूम मचायी थी। इन्होंने वहाँ पर कत्थक नृत्य के २४ चक्करों वाला टुकड़ा कई बार प्रस्तुत कर दर्शकों को चकित कर दिया था।

कत्थक नृत्य को इनकी विशेष देन ब्रज के रास नृत्य के आवश्यक तत्त्वों का इसमें समावेश करना है। जब इन्हें यह ज्ञात हुआ कि कत्थक और रास दोनों के 'बोलों', 'तालों' एवं 'टुकड़ों' में बड़ी समानता है, तब वे रास-नृत्य की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुईं। वे रास के प्रमुख केन्द्र वृन्दावन में आयीं और यहाँ के वयोवृद्ध रासधारी स्व० लाड़िलीशरणजी से इन्होंने बड़ी निष्ठापूर्वक रास-नृत्य की शिक्षा प्राप्त की। अब वे कत्थक नृत्य के प्रदर्शन में रास नृत्य का समावेश कर दर्शकों मंत्रमुग्ध कर देती हैं। सन् १९७५ में दिल्ली की दो संस्थाओं ने 'सूरदास' नृत्य नाटिका का भव्य प्रदर्शन किया

था। उनमें से एक को उमा शर्मा का संरक्षण और सहयोग प्राप्त हुआ था। उनके कारण सूरदास नृत्य–नाटिका का प्रदर्शन बड़ा सफल रहा था।

कत्थक नृत्य की अन्य साधिका दमयन्ती जोशी ने यूरोप, अमेरिका और जापान में बड़ा नाम कमाया है। उनका नया प्रयोग रीति–कालीन नायिका–भेद को अपने नृत्य द्वारा उजागर करना है। इन्होंने 'अष्ट नायिकाओं' की मनोभावनाओं को अपने नृत्य की विभिन्न मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्त करने में बड़ी सफलता प्राप्त की है। जिस समय दमयन्तीजी इन नृत्यों के अभ्यास में लगी हुई थीं, उस समय वे अपनी माताजी के साथ इस ग्रन्थ के लेखक के निवास–स्थान पर पधारी थीं। इस लेखक को 'नायिका–भेद' सम्बन्धी हिन्दी में प्रथम ग्रन्थ लिखने का सौभाग्य प्राप्त है। दमयन्तीजी के आगमन का उद्देश्य नायिका–भेद सम्बन्धी कुछ बारीकियों को जानना था।

दमयन्तीजी ने लखनऊ और जयपुर दोनों घरानों की शैलियों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया है। इन्होंने इनकी समीक्षा करते हुए बतलाया–'लखनऊ घराने में अभिनय तोड़े, गति अधिक होते हुए भी अभिनय पर विशेष बल दिया जाता है। इसी कारण लखनऊ घराने का कत्थक नृत्य सुन्दर और नजाकत से पूर्ण होता है। जयपुर घराने में तोड़े और गति का स्थान अभिनय से अधिक है, जिससे नीरसता आ जाती है। दमयन्तीजी के विचार से लखनऊ घराना अधिक पूर्ण है।[१]

हाथरस के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ श्रीलक्ष्मीनारायण गर्ग ने अपने ग्रन्थ 'कथक नृत्य' (पृष्ठ ३५) में इसकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए बतलाया है–'कथक नृत्य' में (पैर के आघातों द्वारा) घुंघरुओं के संयोग से ताल के जटिलतम रूपों का प्रदर्शन किया

१. धर्मयुग (१६ सितम्बर, १९६२) के अंक में प्रकाशित लेख का अंश।

जाता है, जो अन्य किसी नृत्य में नहीं मिलता। ताल की विभिन्न लय भावनाओं को उत्तेजित करती हैं, जिनके द्वारा आनन्द की सृष्टि होती है। जिस प्रकार एक संगीतज्ञ गायन में कल्पना से स्वरों के विविध रूपों का सम्मिश्रण करके आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार कथक नृत्यकार लय की विविध चालों द्वारा प्राण को गति प्रदान करता हुआ सौन्दर्य की सृष्टि करता है।

[ब्रज की रासलीला समाप्त]

विशेष ज्ञातव्य

इस ग्रन्थ के विगत पृष्ठों पर 'कृष्णजीवन लछीराम' नामक लीला–रचनाकार के विषय में लिखा गया है। जब उसे लिखा था, तब हमें उससे सम्बन्धित पर्याप्त एवं प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं थी। फलतः उक्त रचयिता का अपूर्ण और कुछ हद तक अप्रामाणिक जीवन–वृत्त लिख दिया गया था; जिसका हमें खेद है। उसके पश्चात् हम उसके सम्बन्ध में आवश्यक एवं प्रामाणिक सामग्री जुटाने में लगे रहे। हमने अपने मित्र डॉ० किशोरीलाल गुप्त से भी इस विषय पर पत्र–व्यवहार किया। डॉ० गुप्त ने अपने ३.११.८३ के पत्र में उक्त रचयिता से सम्बन्धित जो तथ्य लिखकर भेजे, वे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। अपनी सचित्र सामग्री, डॉ० किशोरी–लाल गुप्त से प्राप्त तथ्य और डॉ० सत्येन्द्र कृत 'ब्रज साहित्य का इतिहास' पृष्ठों में उल्लिखित विवरण के आधार पर यहाँ 'कृष्णजीवन लछीराम' का संशोधित जीवन–वृत्त लिखा जा रहा है। पाठक पूर्व वर्णित वृत्तान्त को तदनुसार सुधारने का कष्ट करें। उसमें रचयिता की कृतियों के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे ठीक हैं।

२९. कृष्णजीवन लछीराम–(उपस्थिति काल सं० १६४५ से सं० १७३० के बीच)–वे ब्रजमण्डल के भदावर राज्यांतर्गत यमुना तटवर्ती मई नामक ग्राम के निवासी थे। उनके पिता का नाम कल्याण राय था और बड़े भाई का नाम पुरंदर। वे सभी सुकवि थे। लछीराम उनका नाम था और 'कृष्णजीवन' उनकी पारिवारिक उपाधि थी, जो उनके पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता के नामों के साथ भी लगी हुई मिलती है।

लछीराम धार्मिक प्रवृत्ति के भक्त–कवि, लीला–रचयिता एवं नाटककार थे। उनकी श्रद्धा पुष्टिमार्गीय गोस्वामी गोकुलनाथ जी (सं० १६०८–सं० १६९७) के प्रति थी। बाद में उन्होंने श्री कवीन्द्रा–चार्य सरस्वती (सं० १६५०–सं० १७३२) का शिष्यत्व ग्रहण किया था। सर्वश्री गोकुलनाथ जी और कवीन्द्राचार्य जी जैसे धार्मिक एवं विद्वान मनीषियों का पर्याप्त प्रभाव लछीराम के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर पड़ा है, जो उनके रचे हुए ग्रन्थों से स्पष्ट है। उन्होंने काव्य–नाटक आदि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें 'करुणाभरण' नामक अधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा किया जा चुका है।

हिन्दी साहित्य में लछीराम नामक कई रचनाकारों का उल्लेख मिलता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'करुणाभरण' की भूमिका में ८ लछीराम स्वीकार किये गये हैं; जो डॉ० किशोरीलाल गुप्त के मतानुसार भ्रमात्मक कथन है। डॉ० गुप्त ने केवल ३ लछीराम माने हैं, जो इस प्रकार हैं–

१. **मई (भदावर) निवासी 'कृष्णजीवन लछीराम' जो 'करुणाभरण' नाटक सहित अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। वे लीला–रचनाकार एवं कवि–गायक लछीराम से अभिन्न थे।**

२. **अमोढ़ा बस्ती वाले ब्रह्मभट्ट लछीराम, जो कवि थे।**
३. **होलपुर (जि० बाराबंकी) निवासी ब्रह्मभट्ट लछीराम, जो शिवसिंह सेंगे के समकालीन थे।**

इन तीनों में 'कृष्णजीवन लछीराम' पूर्ववर्ती और सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उनके ज्येष्ठ भ्राता पुरंदर का नाम अकबरी दरबार के कवियों में मिलता है। कृष्णजीवन लछीराम का सम्बन्ध भी अकबरी दरबार से ज्ञात होता है। उनके एक पद में सम्राट अकबर का नामोल्लेख हुआ है। उक्त पद का कुछ अंश इस प्रकार है–

जाबक पाँयन, हाथन मेंहदी, 'शाह अकबर' सुगंध अंग–अंग लाए।
'कृष्णजीवन लछीराम' के प्रभु कों, रस बस कर वैनन सों लोभाए॥[१]

'कृष्णजीवन लछीराम' द्वारा रचे हुए ग्रन्थों के नाम निम्नांकित हैं–

१. बुशि वल कथा (रचना सं० १६८१), २. करुणाभरण नाटक (रचना सं० १७०० के लगभग), ३. ज्ञानानंद नाटक (रचना सं० १७०९), ४. दम्पति तरंग, ५. राग विचार, ६. ब्रह्मा–नंदनीय, ७. विवेक सार ज्ञान कहानी और ८. ब्रह्म तरंग।[२]

हमने अपने पूर्व विवरण में 'करुणाभरण' नाटक का रचना–काल सं० १७४३ से सं० १७४६ के बीच का लिखा था, जो अनुसंधान से अशुद्ध ज्ञात हुआ है। वस्तुतः उसकी रचना सं० १७०० के लगभग हुई थी। इस नाटक में ७ अंक हैं और इसे दोहा–चौपाई छन्दों में रचा गया है। इसके सम्बन्ध में एक महत्त्व की बात यह है कि इसे नाट्य–मंच पर समारोहपूर्वक खेला भी गया था। इसका उल्लेख पूर्व विवरण में किया जा चुका है। कृष्णजीवन लछीराम के गुरु श्रीकवीन्द्राचार्य सरस्वती थे। इसका उल्लेख इस नाटक में इस प्रकार हुआ है–

---

१. संगीत राग कल्पद्रुम, भाग १ पृष्ठ ५८–५९।
२. ब्रज साहित्य का इतिहास (डॉ० सत्येन्द्र) पृष्ठ ३७४।

यों कवीन्द्र सुरसुती रिझाए। गाए वचन वेद के भाए।
जब कवीन्द्र यों लई परीख्या। तब जानी सतगुरु की सिख्या॥

लछीराम का दूसरा नाटक 'ज्ञानानंद' है। इसमें उसने अपना परिचय देते हुए अपने निवास–स्थान तथा पिता एवं ज्येष्ठ भ्राता के नामों का उल्लेख किया है। इसी में यह भी बतलाया गया है कि उस नाटक को उसने अपने एक मित्र के कहने से रचा था। इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है–

जमुना तीर मई एक गाँउ। राइ कल्याण बसें तिहिं ठाँउ॥
लछीराम कवि ताकौ नंदु। जा कविता सुनि नासै दंदु॥
राइ पुरंदर कर लघु भाई। तासों मित्र अस बात चलाई॥
नाटक 'ज्ञानानंद' सुनावो। देहु सुखनि अरु तुम सुख पावो॥

लछीराम कृत 'दम्पति तरंग' नायिका भेद से सम्बन्धित होने के कारण काव्यशास्त्रीय आचार्य–परम्परा का ग्रन्थ है। उसका 'राग विचार' संगीत शास्त्र का ग्रन्थ है। उसकी अन्य रचनाएँ उपासना, भक्ति और तत्त्वज्ञान से सम्बन्धित हैं।

॥ इति श्री ॥

प्रकाशक

वृन्दावन शोध संस्थान

रमणरेती, वृन्दावन – 281 121 (भारत)

VIDYALAYA - 9412492937